प्राचीन भारतीय कालगणना

एवं

पारंपरिक संवत्सर

डॉ० रामजी पाण्डेय

भारती प्रकाशन

वाराणसी

१९८०

प्राक्कथन

प्राचीन भारत में ऐतिहासिक ग्रन्थों की अल्पता की व्याख्या करते हुए कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह लाञ्छन लगाया है कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव था। यहाँ हम उन तथ्यों की विवेचना नहीं करेंगें जिनके कारण प्राचीन भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थ और साक्ष्य हम तक अत्यल्प संख्या में पहुँच पाये हैं। वास्तव में इन पाश्चात्य विद्वानों ने यह जानने का प्रयास नहीं किया कि प्राचीन भारत में इतिहास की क्या कल्पना थी। उन्होंने एक अन्य काल और देश की मान्यता की कसौटी पर प्राचीन भारतीय प्रयासों को कसने का प्रयत्न किया और फलस्वरूप प्राचीन भारतीयों को दोषी ठहराया है। साधारण नियम यह है कि किसी भी वस्तु या संस्था का मूल्यांकन उसके अपने आदर्शों और नियमों के अनुसार होना चाहिये। प्राचीन भारत में इतिहास की अवधारणा उसकी अपनी दार्शनिक मान्यताओं से जुड़ी हुई थी। इसी प्रकार व्यक्ति के कृत्यों का महत्त्व तथा व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों के विषय में भी प्राचीन भारतीयों के अपने विचार थे। प्राचीन भारत में इन सब के अनुरूप एक विशिष्ठ ऐतिहासिक साहित्य निर्मित हुआ था। यद्यपि यह सम्पूर्ण साहित्य आज उपलब्ध नहीं है तथापि जो कुछ भी अवशिष्ट है वह अपना सम्यक् परिचय देनें में समर्थ है। इतिहास की वर्तमान अवधारणा समय-समय पर परिवर्तित और परिवर्धित होकर ही अपने रूप को प्राप्त हुई है। प्रारम्भ से ही उसका यह रूप नहीं था। इतिहास की जो सम्प्रति स्वीकृत कल्पना है उसमें इतिहास के अध्ययन के लिये देश और काल को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। कोई भी ऐतिहासिक तथ्य एक काल विशेष में और एक प्रदेश विशेष में उद्भूत होता है। बिना इन दोनों को समझे हम उस तथ्य के साथ न्याय नहीं कर सकते। ऐतिहासिक भूगोल की ओर इधर कुछ इतिहासकारों और भूगोलवेत्ताओं ने ध्यान दिया है, किन्तु अभी भी बहुत अधिक परिश्रम अपेक्षित है।

कालक्रम तो इतिहास के शरीर का मेरुदण्ड है। यह वह लौह ढांचा

है, जिस पर इतिहास के स्थिर और भव्य भवन का निर्माण किया जाता है। तिथिक्रम के महत्त्व को इतिहासकारों ने बहुत पहले से ही पहचाना है। प्रारम्भ में इसके महत्त्व को इतना अधिक बढ़ा दिया गया था कि कुछ इतिहासकारों ने इतिहास को घटनाओं के शुष्क तिथिक्रम का अंकनमात्र ही माना तथा उसमें से जीवन्त मनुष्य और स्पन्दनशील समाज की कथा को निकाल बाहर किया था। यद्यपि आज भी हम इतिहास की संरचना करते समय तिथिक्रम का ध्यान रखते हैं तथापि पूरे काल का सर्वाङ्गीण दृष्टि से विचार करने के प्रयास अनेक वर्षों में विरले ही मिले हैं। कदाचित् प्रारम्भ में प्राचीन भारतीय इतिहास के पुनर्निर्माण में लगे विद्वानों ने जो अथक प्रयत्न किया उसके कारण परवर्ती काल में इस दिशा में कुछ शिथिलता आ गई। डा० रामजी पाण्डेय की प्रस्तुत कृति इस दृष्टि से सराहनीय है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय काल-गणना और संवत्सरों का एक सर्वाङ्गीण और सुसम्बद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है।

अनेक देशों और प्रदेशों के इतिहास के अध्ययन में कभी-कभी उसके अपने इतिहासकारों में अपने इतिहास को अतिप्राचीन सिद्ध करने की प्रवृति देखने को मिलती है। मालूम नहीं क्यों और कैसे लोगों के मन में यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि उनके देश और संस्कृति की प्राचीनता के अनुपात में ही उनका गौरव बढ़ता है। किसी भी समाज का गौरव उसकी उपलब्धियों की गुरुता के साथ सापेक्षित रूप में बढ़ता है। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में हम यह देखते हैं कि कुछ लोग दूसरों के किसी भी उपलब्धि अथवा सांस्कृतिक विकास की प्राचीनता की चर्चा होने पर उन्हें परंपरावादी, सांप्रदायिक जैसे विशेषणों से अभिहित करना अपने लिये सुविधाजनक पाते हैं। संबद्ध तथ्यों और प्रयुक्त तर्कों की परख करने की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय इतिहास की घटनाओं की प्राचीनता का विवेचन करने में एक अतिशय निर्मम शंकालु दृष्टिकोण अपनाया है। शंकालु और आलोचनात्मक दृष्टि वैज्ञानिक विधि की सहधर्मणी है किन्तु साथ ही कोई भी दीर्घकालीन और जीवन्त परम्परा सहज ही त्याज्य नहीं होती। इसके पीछे निहित सत्य के आधार की खोज ही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। बिना खोज किये ही सभी पारंपरिक प्रमाणों को अस्वीकृत

करना अनुचित है। पारंपरिक तथ्यों के ढेर में से सत्य के कण ढूंढ निकालना ही इतिहासकार का कार्य है। हमने देखा है कि प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक तथ्य, जो कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निन्दित पुराण और उनके समकक्ष साहित्यों में मिलते थे, आधुनिक काल में उपलब्ध पुरातात्त्विक साक्ष्यों से पुष्ट और समर्थित हुए हैं। हम जानते हैं कि नये तथ्य नित्य सामने आ रहे हैं। इनमें से कुछ से तो क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा है। ऐसे में प्राचीन भारतीय परंपराओं को नये महत्त्व के सिरे से देखने और इनके औचित्य की विवेचना की आवश्यकता बल प्राप्त करती है। इस पृष्टभूमि में हम कहेंगे कि डा० रामजी पाण्डेय ने भारतीय इतिहास के अध्ययन की बहुमूल्य सेवा की है। उन्होंने उपलब्ध सामग्री को सम्यक् रूप से सहानुभूतिपूर्वक समझकर प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऊहापोह, भ्रान्तियों एवं पूर्वाग्रहों के जाल को काटकर तथ्यों के सही रूप को उद्‌घाटित किया है। साथ ही उन्होंने ऐतिहासिक और वैज्ञानिक मानदण्डों की सहायता से इनका विवेचन और मूल्यांकन भी किया है। मुझे पूरा विश्वास है, उन्हें विद्वानों से समुचित प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और वे राम कृपा से इस क्षेत्र में अपनी रुचि और प्रयासों को और भी अधिक गतिवान् और सफल बनायेगें।

रामनवमी, मार्च, १९८० — लल्लनजी गोपाल

आभार-प्रकाश

प्राचीन भारतीय संवतों के ऊपर शोध कार्य करने की प्रथम प्रेरणा, एवं उसकी प्रारम्भिक रूपरेखा १९६७ ई० में डा० अवध किशोर नारायण जी, तत्कालीन विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व, का० हि० वि० से मिली। आज शोधप्रबन्ध की जो भी रूप-रेखा प्रस्तुत हुई है, उसमें गुरुवर्य डा० लल्लनजी गोपाल का निर्देशन ही प्रधान रहा है, जिसके अभाव में शोध-प्रबन्ध का प्रस्तुत होना ही दुरूह था। हर्ष की वात है कि उनके संवल से इसे प्रस्तुत किया जा रहा है। विषय की दुरूहता और गम्भीरता के कारण यद्यपि इसमें अनेक कठिनाइयाँ थीं तथापि इसे सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रवन्ध को प्रस्तुत करने में हमारे विश्वविद्यालय के कुलपति डा० कालूलाल श्रीमाली जी एवं डा० हरिनारायण जी की कृपा भी मुख्य रही है, जिससे शोधकर्ताओं को नित्य नवीन संवल प्राप्त होता रहता है। अपने शोधकाल में डा० जगदीश नारायण तिवारी जी से बरावर शोध संबन्धी ज्ञान और उद्‌बोधन प्राप्त हुआ है एतदर्थ मैं इन सब का हृदय से आभार मानता हूँ। इसके साथ ही मैं भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के अध्यक्ष प्रो० एम० आर० कुलकर्णी एवं निदेशक प्रो० बी० आर० ग्रोवर का कृतज्ञ हूँ जिनकी आर्थिक सहायता से यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। सियाजीराव गायकवाड ग्रन्थालय, का० हि० वि०, भारती महाविद्यालय पुस्तकालय, का० हि० वि०, काशीराज ट्रस्ट एवं संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयीय ग्रन्थागार के अध्यक्षों के सौजन्य से शोध संबन्धी पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं अतः इन सब का कृतज्ञ हूँ।

नागपञ्चमी, श्रावण शुक्ल ५
गतकलि ५०८१, विक्रम संवत् २०३७,
१५-८-१९८० ई०।

विनीत
रामजी पाण्डेय

श्रीमतां प्रो० लल्लनजी गोपालमहाभागानां
कर कमलेषु सादरं निवेदयतीति

रामजीपाण्डेयः

तस्मै कालात्मने नमः

—भर्तृहरि

विषय–सूची

ग्रन्थ-संक्षेप सूची

अग्नि—अग्नि पुराण
अथर्व—अथर्ववेद संहिता
अथर्व ज्यो०—अथर्व ज्योतिष
आ० श्रौ०—आश्वलायन श्रौतसूत्र
आर्क० होम०—आर्कटिक होम इन दी वेदाज
इ० ए०—इण्डियन एण्टीक्वेरी
ऋ०—ऋग्वेद संहिता
ऋ० ज्यो०—ऋग्वेद ज्योतिष
एपी० इ०—एपीग्राफिया इण्डिका
ए० ऋ०—एज आफ दी ऋग्वेद
ए० ओ०—ऐक्टा ओरियण्टालिया
ए० मे०—एस्ट्रोनामिकल मेथड एण्ड इट्स एप्लीकेशन टू दी क्रोनालजी आफ एन्शियेण्ट इण्डिया
ऐ० आ०—ऐतरेय आरण्यक
ऐ० इ० क्रो०—एन्शियेण्ट इण्डियन क्रोनोलाजी
ऐ० ब्रा०—ऐतरेय ब्राह्मण
काठ० सं०—काठक संहिता
का० इ० इ०—कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्
कूर्म०—कूर्मपुराण
कौ० ब्रा०—काषीतकी ब्राह्मण
गो० ब्रा०—गोपथ ब्राह्मण,
छा० उ०—छान्दोग्य उपनिषद्
ज० प०—जम्बूद्वीप पणत्ति
ज० रा० ए० एस—जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
जे० ए० ओ० एस०—जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
जे० बी० ओ० आर० एस०—जर्नल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जै० ब्रा०—जैमिनीय ब्राह्मण
ता० ब्रा०—ताण्ड्य महाब्राह्मण
तै० आ०—तैत्तिरीय आरण्यक

तै० उ०—तैत्तिरीय उपनिषद्
तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता
ना० उ०—नारायण उपनिषद्
प० सि०—पंचसिद्धान्तिका
पी० आइ० ए० एच०—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐन्शियेण्ट इण्डिया
पु० क्रो०—पुराणिक क्रोनोलाजी
बृ० उ०—बृहदारण्यक उपनिषद्
बृ० सं०—बृहत्संहिता
बौ० श्रौ० सू०—बौधायन श्रौतसूत्र
मनु०—मनुस्मृति
महा०—महाभारत
भाग०—भागवत महापुराण
मत्स्य०—मत्स्य महापुराण
मै० उ०—मैत्रायणी उपनिषद्
यजु०—यजुर्वेद
यजु० ज्यो०—यजुर्वेद ज्योतिष
लिङ्ग०—लिङ्ग पुराण
वायु०—वायु महापुराण
वा सं०—वाजसनेयी संहिता
विष्णुधर्म०—विष्णुधर्मोत्तर पुराण
श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण
शा० श्रौ०—शाङ्खायन श्रौतसूत्र
सि० शि०—सिद्धान्त शिरोमणि
सुश्रुत०—सुश्रुत संहिता
सूर्य सि०—सूर्य सिद्धान्त
स्ट० स्क० पु०—स्टडीड इन स्कन्द पुराण
हि० धर्म०—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र
हि० सं० लि०—हिस्ट्री आफ ऐन्शियेण्ट संस्कृत लिटरेचर

अध्याय १

विषय-प्रवेश

संस्कृति का देश और काल से अटूट सम्बन्ध होता है, यहाँ तक कि दार्शनिक पृष्ठभूमि में भी इन दोनों तत्त्वों की महत्ता कम नहीं आँकी गई हैं, क्योंकि इनके अभाव में दृश्य-प्रपंच की किसी वस्तु का वर्णन संभव नहीं। अतः किसी पदार्थ के निरूपण के लिए देश और काल की सीमा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। संस्कृतियों के ज्ञान के लिए उनका इतिहास जानना अपेक्षित है एवं ऐतिहासिक भूमिका पर देश और काल भूगोल और तिथिक्रम के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। भूगोल का संवन्ध देश से एवं तिथिक्रम का काल से होता है। इसीलिए यह कथन सत्य प्रतिभासित होता है कि इतिहास-विद्या के भूगोल और तिथिक्रम दो दिव्य नेत्र हैं।[1] इनके माध्यम से ही कोई भी विद्वान् ऐतिहासिक घटनाओं का उचित ज्ञान एवं मूल्यांकन स्थिर करने में समर्थ हो सकता है। जहाँ तक भारतीय संस्कृति का प्रश्न है उसके इतिहास में उक्त दोनों तत्त्वों का अपना विशिष्ट माहात्म्य है। भारतीय इतिहास में जहाँ घटनाओं की प्रचुरता है वहीं उनके कालक्रम निरूपण की जटिल समस्या है, क्योंकि वे घटनाएँ प्रायः तिथि-विहीन हैं एवं साथ ही उनके घटनास्थल भी उतने ही अस्पष्ट हैं। प्राचीन भारतीय भूगोल के क्षेत्र में जनपदों, पर्वतों, नदियों और स्थाननामों के समीकरण की समस्या अब भी भौगोलिक विशेषज्ञों के समक्ष बनी ही हुई है। किन्तु भौगोलिक कठिनाई की अपेक्षा उन घटनाओं के तिथि-क्रम का अज्ञात होना अधिक असुविधाकारक है, जिसके कारण प्राचीन भारतीय इतिहास की अधिकांश घटनाओं विशेषतः बुद्ध से पूर्व वैदिक काल तक की तिथियाँ अनिश्चित हैं एवं वैदिक काल से भी पूर्व का वर्णन जो पौराणिक वंशानुचरित प्रसंग में स्वायम्भुव मनु से लेकर सुदास आदि तक सुरक्षित है, तिथिक्रम की

---

1. "Geography and Chronology are said to be the two eyes of the history." Agrawala, V. S.
Review of Indological Research in last 75 years, p. 235.

दृष्टि से अन्धकारमय ही है। तिथिक्रम के अभाव में घटनाओं का मूल्य न्यून हो जाता है। यह प्राचीन भारतीय इतिहास की पूर्व घटनाओं से प्रमाणित है, जिन्हें प्रायः इतिहास के विद्वान् धार्मिक और काल्पनिक कह कर टाल देते हैं। इसप्रकार मन्वन्तरों एवं युगों की वर्णनात्मक ऐतिहासिक घटनाएँ सुदीर्घ काल-व्यवधान के कारण आज काल्पनिक मानी जाने लगी हैं।

श्री स्मिथ ने लिखा है कि इतिहास के लिए घटनाओं का एक निश्चित क्रम में तिथि-युक्त होना आवश्यक है। वे तथ्य जिनके लिए किसी तिथि का निश्चय नहीं किया जा सकता दूसरे अध्ययन की शाखाओं भाषा-शास्त्र एवं प्रजाति-विज्ञान आदि की दृष्टि से भले ही महत्त्वपूर्ण हों, पर उनका इतिहास के विद्वान् के लिए कोई महत्त्व नहीं।[1] आज जो प्राचीन भारतीय इतिहास का आरम्भ है, वह सिन्धु-सभ्यता से आरम्भ होता है, जिसके जानने का मुख्य साधन उत्खनन में प्राप्त सामग्री है। उक्त सभ्यता की लेख्य सामग्री का प्रकाश अभी ठीक से नहीं हुआ है। इसलिए वैदिक-संस्कृति और सैन्धव-सभ्यता का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित रूप से नहीं स्थापित हो सका है। काल के अखण्ड प्रवाह में सभ्यता की यह प्राचीन धारा किन-किन मोड़ों के साथ आज प्रवाहित हो रही है उसके विषय में इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु आज संस्कृति एवं उसके इतिहास का जो स्वरूप प्राप्त है उसके लिए भारतीय कालगणना के सम्यक् अध्ययन की आवश्यकता अभी भी वनी हुई है। सिन्धु-घाटी सभ्यता में कालगणना सम्बन्धी कोई उल्लेख या उपकरण अभी तक प्राप्त न होने के कारण एवं वहाँ से प्राप्त मुहरों की भाषा ठीक से नहीं पढ़ी जाने से कालगणना का वास्तविक एवं सुनिश्चित इतिहास वैदिक काल से प्राप्त होता है। किन्तु वैदिक कालगणना एवं वेदों के काल-निर्धारण का प्रश्न अब भी जटिल वना ही हुआ है। इस समस्या पर स्वर्गीय लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक के प्रसिद्ध ग्रन्थ

---

1 "Facts to which dates can not be assigned, although they may be invaluable for the purpose of ethonology, philosophy, philology, and other sciences, are of no use to the historian."

The Early History of India, p. 28.

'दी ओरायन', 'दी आर्कटिक होम इन दी वेदाज़' एवं 'वैदिक क्रोनालजी', (पूना) में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। सन् १८९४ में हर्मन् याकोबी का इण्डियन एण्टीक्वेरी में प्रकाशित 'डेट्स आफ दी ऋग्वेद' लेख महत्त्वपूर्ण है। वैदिक काल पर कालगणना संबन्धी महत्वपूर्ण विवेचन स्व० शंकर बालकृष्ण दीक्षित के ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिष' (मूल ग्रन्थ मराठी, हिन्दी अनुवाद, उत्तर प्रदेश सरकार) में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य के काल-क्रम का निरूपण पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर के 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर', विण्टरनित्स के हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, (अँग्रेजी अंक) एवं वैदिक इण्डेक्स में प्राप्त होता है, पर इनकी तिथियों से तिलक और याकोबी आदि के मत से घोर वैषम्य दिखाई पड़ता है। शाम शास्त्री का 'गवाँ अयन' एवं वैदिक सायकिल आफ इक्लिप्सेज' नामक दो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। इधर-वैदिक काल पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ एन० एल० ला का' एज आफ दी ऋग्वेद', उमापद सेन का 'ऋग्वेदिक एरा' एवं स्पेन्सर का 'आर्यन इक्लिप्टिक सायकिल' हैं। इनमें एल० एन० ला एवं स्पेन्सर ने तिलक के सिद्धान्त की पुष्टि की है। प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम एवं काल-गणना को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने में साहित्यिक एवं अन्य स्रोतों की अपेक्षा अभिलेखों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है क्योंकि इनकी प्रचुरता से उपलब्धि हुई है एवं दूसरी विशिष्ट बात यह कि इनमें से अधिकांश अभिलेख किसी न किसी संवत् विशेष एवं तिथि से युक्त हैं। यद्यपि अभिलेखों में सर्व प्राचीन अभिलेख अशोक के हैं जिनमें तिथियों का उल्लेख उस के शासन काल के राज्य वर्ष में हुआ है, किसी संवत् विशेष में नहीं तथा यही क्रम सातवाहन नृपतियों एवं कभी-कभी बाद तक भी दिखाई पड़ता है, तब भी जब से ऐतिहासिक काल में काल-गणना के लिए संवतों का प्रयोग शुरू हुआ उसमें सिल्यूकस संवत्, पार्थियन संवत्, विक्रम संवत् जिसे आरम्भ में कृत और मालव संवत् भी कहा जाता था, शक सवत् एवं बाद के अनेक संवतों के परस्पर मेल को बैठाने के लिए तुलनात्मक तिथि-पत्रों (क्रोनालाजिकल टेबुल) की आवश्यकता विद्वानों के समक्ष उपस्थित हुई। इस प्रकार इस समस्या के हल के लिए एतद्देशीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के प्रयास स्तुत्य रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

सर्व प्रथम १८२५ ई० में श्री वैरेन ने 'काल संकलित' नामक ग्रन्थ लिखा। जेरविस के ग्रन्थ 'वेट्स, मेजर्स एण्ड क्वायंस आफ इण्डिया 'में एक अंश भारतीय गणना सम्बन्धी भी है। तीसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ १८३४ में प्रिंसेप का 'यूजफुल टेवुल्स' था। १८६६ में काउजी पाटिल की इण्डियन क्रोनालजी निकली। इन सभी ग्रन्थों के विषय में महत्वपूर्ण सूचना कनिंघम के ग्रन्थ इण्डियन एराज से मिलती है। उसके अनुसार वैरेन का ग्रन्थ सर्वाधिक पूर्ण और उपादेय है, जेरविस् का मोहम्डन कैलेण्डर विशिष्ट है। प्रिंसेप का युजफुल टेवुल्स काल संकलित पर ही आधारित है। पाटिल की क्रोनालजी में पारसी, ज्यूज़, ग्रीक, हिन्दू, मुहम्मडन्स, चाइनीज एवं जापानीज़ सभी की समीकरणात्मक तिथियाँ दी गई हैं—जिसके कारण इसकी उपादेयता बढ़ जाती है। १८५९ ई० में कनिंघम ने वैरेन के ही आधार पर अपने ग्रन्थ[1] की बहुत सी सारणियों (टेवुल्स) को अपने प्रयोग के लिए वनाया था, जो वैरेन की अपेक्षा सुगम हैं। श्री कनिंघम का उक्त ग्रन्थ भारतीय संवत्सरों पर प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जहाँ तक भारतीय अभिलेखों का प्रश्न है उनमें परीक्षण योग्य तिथियों को जाँच में श्री कीलहार्न और जे० एफ० फ्लीट का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। श्री कीलहार्न द्वारा संग्रहीत उत्तर भारतीय (एपीग्राफिया इण्डिका, जि० ५, अपेण्डिक्स) एवं दक्षिण भारतीय अभिलेखों की सूची (ए० इ०, जि० ७ अपेण्डिक्स)। तिथियों के अध्ययन के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुयी। वाद में भण्डारकर और लूडर्स द्वारा भी इसी प्रकार की तिथियों का संग्रह प्रकाशित किया गया। १९११ में राबर्ट स्वेल ने 'इण्डियन क्रोनोलाजी' एवं १९३२ में 'हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शन्स आफ सदर्न इण्डिया' एवं १९२४ में दीवान बहादुर एल० डी० स्वामी कुन्नु पिल्लै की 'इण्डियन एफिमरीज' तिथि-पत्रों के परीक्षण के लिए उत्तम पुस्तकें लिखी गयीं। खरोष्ठी अभिलेखों की तिथियों पर श्री स्टेन कोनो (कापर्स इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकारम, जि० २) एवं गुप्त संवत्सर पर महत्त्वपूर्ण विवेचन फ्लीट द्वारा गुप्त अभिलेख संग्रह (कापर्स इ० इ० जि० ३ भूमिका) में किया गया है। इसी में स्व० श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित द्वारा लिखित 'द्वादशवर्षीय गुरु संवत्सर चक्र' के ऊपर महत्त्वपूर्ण लेख है। कीलहार्न द्वारा संग्रहीत दक्षिण भारतीय अभिलेखों की अनेक तिथियाँ,

---

१. इण्डियन एराज, पृ० ८, प्रिफेस।

जिन्हें स्वयं उन्होंने अवैध घोषित किया था उन की वैधता ए० सुभै द्वारा लिखित 'सम शक इन्सक्रिप्शन्स इन साउथ इण्डिया' नामक ग्रन्थ में प्राप्त होती है।

स्वर्गीय श्री गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा का 'प्राचीन भारतीय लिपि-माला' नामक ग्रन्थ (१९१८) संक्षेप में विद्यार्थियों के बहुत उपयोग का है, जिसके अंत में भारतीय संवत्सरों पर प्रकाश डाला गया है। संवतों का संक्षेप में विवेचन डा० राजबली पाण्डेय के 'इण्डियन पेलियोग्राफी' एवं विक्रम संवत् का वर्णन 'विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी' नामक ग्रन्थ में हुआ है। 'कार्पस इ० इ० जिल्द ४' में श्री मिराशी का कलचुरी संवत् पर महत्त्वपूर्ण लेख है। १९६५ में प्रकाशित प्रसिद्ध विद्वान् डा० डी० सी० सरकार की 'इण्डियन एपीग्राफी' नामक पुस्तक में अभिलेखीय गणना एवं उसमें प्रयुक्त संवत्सरों का युक्तियुक्त विवेचन है।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त भारतीय इतिहास के स्वरूप निर्धारण में पौराणिक वाङ्मय का कम महत्त्व नहीं रहा है। वैदिकधारा और लौकिक साहित्यिक धारा के बीच के महान् अन्तराल को पाटने का कार्य पौराणिक साहित्य ने ही किया है। इसीलिए इतिहास और पुराण के माध्यम से ही वैदिक साहित्य के उपबृंहण करने की संमति दी गई है।[1] इतिहास के निर्माण की दृष्टि से वेदों से भी पुराणों का माहात्म्य ऊँचा[2] है, यतः इनमें सृष्टि के प्रारम्भ से प्रलय तक की गाथा सुरक्षित है एवं इसके वंशानुचरित भाग में स्वायम्भुव मनु एवं वैवस्वत् मनु से लेकर गुप्त वंश तक के राजाओं की वंश-परंपरा वर्णित है। यद्यपि प्रवर्धमान् पौराणिक साहित्य में उनकी विविधता, कालक्रम का अत्यधिक व्यवधान, धार्मिक भावना का प्रभाव, परंपरा की विविधता एवं भाषा शैली की अतिरंजिता आदि के कारण उनमें वर्णित इतिहास को प्रायः विद्वान् काल्पनिक मानते थे, किन्तु सर्व प्रथम श्री एफ० ई० पाजीर्टर ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, में पौराणिक वंश-वृक्ष

---

१. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। वायु० १।२०१।

२. आत्मा पुराणं वेदानाम्
पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥
मत्स्य० ३।३-४, वायु० १।६०-१।

का स्वरूप उपस्थित कर पाश्चात्य विद्वानों का भी ध्यान पुराणों की ओर आकृष्ट किया। वस्तुतः इस साहित्य की परंपराओं का प्रगाढ़ अध्ययन होना चाहिए। यद्यपि आजकल इन पुराणों का माहात्म्य शोध की दृष्टि से बढ़ गया है, पर अधिकांशतः शोध प्रबन्ध उनके सामाजिक और धार्मिक तथा नीति आदि वर्ण्य विषयों को लेकर प्रस्तुत हो रहे हैं। पौराणिक इतिहास के तिथिक्रम को लेकर बहुत ही कम शोध प्रबन्ध या ग्रन्थ लिखे गये हैं। सीतानाथ प्रधान द्वारा लिखित 'ऐन्शियण्ट इण्डियन क्रोनालजी' में वैदिक ऋषियों एवं राजाओं और पौराणिक परंपरा के राजाओं और प्राचोन व्यक्तियों का समीकरण स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है। फिर तो पौराणिक वंश और तिथियों का अध्ययन महाभारत आदि के काल निरूपण प्रसंग में ही एस नारायण शास्त्री, कृष्णमाचार्य, सी० वी० वैद्य आदि द्वारा प्रस्तुत किया गया है, पर पौराणिक तिथिक्रम कीं समस्या बराबर विवादास्पद रही है, क्योंकि अन्य भारतीय जैन-बौद्ध आदि प्राचीन परंपराओं एवं स्वयं पुराणों की विविध परंपराओं में परस्पर मेल नहीं होने के कारण विद्वानों को किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन सा रहा है। यद्यपि जैनों ओर बौद्धों की प्राचीन परंपराएँ भी परस्पर विरोधाभास ही प्रस्तुत करती हैं जैसा हम जैन और बौद्ध निर्वाण की चर्चा के समय देखेंगे, किन्तु कहीं न कहीं इनमें परस्पर संबन्ध का सूत्र छिपा है, जिसे खोजना स्वतन्त्र शोध का विषय है। श्री मैक्समूलर ने तिथियों के सम्बन्ध में तीनों परंपराओं का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करने की सलाह दी थी, क्योंकि इनकी मान्यताओं और परपराओं मं काफी भिन्नता पाई जाती है। इस दिशा में सर्वप्रथम सराहनीय प्रयास श्री डी० आर० मानकड का है, जिसे उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "पुराणिक क्रोनालजी", १९५? ई०, गुजरात, में प्रस्तुत किया है, जहाँ न केवल मन्वन्तर चतुर्युग सिद्धान्त के आधार पर पौराणिक तिथि क्रमों के ऊपर विचार किया गया है, अपितु काश्मीर क्रोनालजी एवं वेरियस क्रोनोलाजिकल कम्पुटेशन्स शीर्षक के अन्तरगत जैन और बौद्ध परपरा की तिथियों पर भी विचार किया है। साथ ही उन्होंने नेपाल और आसाम की तिथिक्रम व्यवस्था को भी प्रस्तुन किया है। तथ्यों के आधार पर इसमें मनु वैवस्वत् की तिथि ५९७६ ई० पू०, महाभारत युद्ध ३२०१ ई० पू० युधिष्ठिर की मृत्यु, द्वापर का अन्त और कलि का प्रारम्भ २९७६ ई० पू० एवं कलि का अन्त १९७६ ई० पू० स्वीकार किया गया

है। ऐरियन के उद्धरण के आधार पर तीनों गणतान्त्रिक समयों में पहला ३५० वर्ष का (शिशुनाग और नन्दों के बीच), दूसरा ३०० वर्ष (मौर्यों और शुंगों के बीच) और तीसरा १२० वर्ष (शुंगों ओर काण्वों के बीच) का मानते हुए पौराणिक दो धाराओं का उल्लेख किया गया है, जिसमें प्रथम धारा इस इस गणतान्त्रिक व्यवस्था को नहीं गिनती थी एवं दूसरी इसे ग्रहण करती थी। पहली धारा मत्स्य, वायु आदि पुराणों में एवं दूसरी भविष्योत्तर पुराण में वर्णित है। कल्हण और द्वितीय पौराणिक धारा में कलि और महाभारत के बीच ६५३ वर्ष के अन्तर का प्रधान कारण यही है जिससे प्रथम एवं द्वितीय गणतान्त्रिक काल ३००+३५०= ६५० या तीनों को मिलाकर ६५० + १२० = ७७० या न्यूनाधिक ७५३ वर्ष का अन्तर दिखाई पड़ता है।[1] इसी प्रकार जैन और बौद्ध-निर्वाण की तिथियाँ क्रमशः २०५१ ई० पू०[2], एवं २०६६ ई० पू०[3] स्वीकृत की गयी हैं। महाभारतोत्तर तिथिक्रम-व्यवस्था कलि के अन्तर्गत इस प्रकार वर्णित है—

१—३२०२ ई० पू० महाभारत युद्ध, परीक्षित जन्म, जिसे भ्रमवश कलि प्रारम्भ और युधिष्ठिर के राज्यारोहण की तिथि समझा गया।

२—३१७६ ,, युधिष्ठिर की मृत्यु, परिशोधित कलि का प्रारम्भ, लौकिक संवत् का प्रारम्भ।

३—३१३६ ,, परीक्षित जन्म की सैद्धान्तिक तिथि।

४—३१३६ ,, से २१३६ ई० पू० बार्हद्रथवंश।

५—२१३६ ,, —१९९८ ई० पू० (१३८ वर्ष) विम्बिसार वंश मगध में एवं प्रद्योत वंश अवन्ति में।

६—१९९८ ,, —१९८६ ई० पू० (१२ वर्ष)—शिशुनाग—मगध की राजगद्दी पर।

७—१९८६ ,, —१६३६ ई० पू० प्रथम गणतंत्र काल (३५० वर्ष)।

८—१६३६ ,, —१५५० ,, (८६ वर्ष) नन्दों का मगध की गद्दी पर।

१. पु० क्रो०, प्रीफेस, पृ० १०।

२. वही, प्रीफेस, पृ० १७७।

३. वही, १७५।

९—१५५० ई० पू०—१४१३ ई० पू० (१३७ वर्ष) मौर्य का मगध की गद्दी पर।

१०—१४१३ ,, —१११३ ई० पू० (३०० वर्ष) द्वितीय गणतान्त्रिक काल।

११—१११३ ,, —१००१ ई० पू० (११२ वर्ष) शुंग वंश मगध की राजगद्दी पर।

१२—१००१ ,, —८८० ई० पू० (१२० वर्ष) तृतीय गणतान्त्रिक काल।

१३—८८० ,, —८३५ ई० पू० (४५ वर्ष) काण्व वंश मगध की गद्दी पर।

१४—८३५ ,, —३७९ ई० पू० (४५६ वर्ष) आन्ध्र राजवंश आन्ध्र की गद्दी पर।

१५—३७९ ,, —३२९ ई० पू० (५० वर्ष) परवर्ती आन्ध्र।

१६—३२९ ,, —ई० पू० चन्द्रगुप्त प्रथम (सिकन्दर का समकालीन)।'[1]

उक्त तिथिक्रम का आजकल के इतिहास में स्वीकृत तिथिक्रम व्यवस्था से घोर विरोध है, जिसके अनुसार भारतीय इतिहास की सर्वाधिक सुनिश्चित घटना सिकन्दर महान् का भारत पर आक्रमण रही है, जिसकी तिथि ३२६ ई०पू० सुविदित है। सिकन्दर के समकालीन चन्द्रगुप्त मौर्य को रख कर बुद्ध की तिथि ई०पू० छठी शताब्दी में, वैदिक काल १५०० ई०पू० से ८०० ई०पू० [2]एव उसके पूर्व सिंधुसभ्यता का काल जो पहले २७००-३२०० ई० पू० माना जाता था वह अब कार्बन १४ एवं अन्य उत्खनन के प्रमाणों के आधार पर १७००-२३०० ई० पू० तक माना जाने लगा है[3]।

परम्पराओं एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों में परस्पर इतना घोलमेल है कि किसी भी व्यक्ति को कुछ निश्चित रूप से कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। बाद के सभी शोध इस नवीन तिथि-पद्धति के ऊपर ही होते जा रहे हैं। पर इसकी भी सत्यता सुदृढ़ रूप से कोई नहीं

---

१. वही, पृ० ९३।

२. इण्डिया इन दी वेदिक एज—भार्गव, पृ० १९३-२०३।

३. रेडियो कार्बन एण्ड इण्डियन आर्क्यालजी, पृ० १००-१०१।

स्वीकार कर सकता। अभी जब तक सिन्धुसभ्यता और वैदिकसभ्यता का काल निर्णय सुस्थिर नहीं हो जाता, क्योंकि उत्खनन के आधार पर इसका काल घटता-बढ़ता जा रहा है, तब तक ये सब बातें सुस्थिर रूप से निर्णीत नहीं हो सकतीं। वर्तमान स्थिति में नवीन तिथियाँ ही सबको मान्य हैं। अतः जब तक श्रीमानकड द्वारा निर्दिष्ट तिथियों के पुष्ट होने का प्रमाण सुस्पष्ट रूप से न मिल जाय तब तक उन्हें वर्तमान परिस्थिति में सर्वमान्यतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि उनका प्रयास और पद्धति ठीक ही है पर ऐसा करने में भी उन्हें बहुत सी कल्पनाओं की सहायता लेनी पड़ी है। ऐरियन के गणातान्त्रिक काल की सुस्पष्ट चर्चा कहीं भी पौराणिक वाङ्मय में नहीं मिलती। केवल परीक्षित और महापद्म के बीच के अन्तर के आधार पर यह कल्पना की गई है। इसप्रकार अभी इस विषय पर और शोध की अपेक्षा है। यह बात निर्विवाद है कि जब तक तिथिक्रम का निश्चय नहीं हो जाता तब तक काल-गणना वा संवतों का वास्तविक इतिहास नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। इसीलिए इस शोध प्रबन्ध में उनके ऐतिहासिक विकास पर अधिक बल दिया गया है। तिथियों की मान्य विभिन्न परम्पराओं का टिप्पणी में निर्देश कर दिया गया है। वस्तुतः अपनी तिथियों की मान्यता के अनुसार शोध-प्रबन्ध के तथ्यों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ तक तो ऐतिहासिक वंश-वृक्षों के अध्ययन की बात रही, जिसमें प्रधानतया कलि के बाद के राजाओं का विशद वर्णन पुराणों में प्राप्त होता है। उनके पूर्व वैवस्वत् से महाभारत युद्ध तक के राजाओं की केवल सूची मिलती है उनका राज्यकाल अनुमान के आधार पर आधारित है। इससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत के पूर्व की ऐतिहासिक सूची अत्यन्त प्राचीन परम्परा पर आधारित थी, जिसके राज्य वर्षों को संख्या धीरे-धीरे विलुप्त हो चुकी थी। पौराणिक लेखकों ने भारतीय इतिहास के तीन मुख्य कालों का संकेत किया है (१) मनु से लेकर कृष्ण पर्यन्त (२) परीक्षित से महापद्म पर्यन्त और (३) महानन्द से आन्ध्र एवं गुप्तों तक। वंशानुचरित के भी अध्यन में एक कठिनाई है—पुराणकारों की प्रतिज्ञा के अनुसार केवल प्रधान-प्रधान राजाओं का ही वर्णन उपस्थित किया गया है। इसका अर्थ है कि यह वंशसूची भी पूर्ण नहीं है। लगता है समय का ठीक ज्ञान उनको भी नहीं था, क्योंकि ब्राह्म-कल्पों या मन्वन्तरों या अन्य

प्राचीन घटनाओं के निरूपण में वे अपने आप को असमर्थ बताते हैं।[१] वैसे उस समय प्राचीन घटनाओं का काल निरूपण भी किया जाता था। तिथि-क्रम वेत्ताओं के लिए युग संख्याविद् (मत्स्य १४१/२१), संख्याविद्जन (मत्स्य १४१/१५, वायु ३२/६३), अहोरात्रविद् (गीता ८/१७) एवं कालवेदिन् (शिव ५/२५/११) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। घटनाओं का निरूपण युग-प्रक्रिया में होता था। किसी संवत् विशेष का प्रयोग नहीं हो मिलता है। संवतों का प्रचलन बाद में हुआ। पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक परम्परा वहुत प्राचीन है। अतः उसमें काल की दृष्टि से कुछ त्रुटि या उस युग-प्रणाली को न समझने के कारण कुछ दोष का आ जाना असम्भाव्य नहीं है फिर भी उस प्राचीन धारा को अखण्ड रूप से प्रवाहित होने देने के लिए जो कुछ पुराणकारों द्वारा सम्भव था उन्हों ने किया और जो कुछ उन्होंने किया, वह एक निश्चित आधार पर था जो मात्र आकाशभाषित नहीं है। मार्टिन स्मिथ ने लिखा है कि महाभारत युद्ध के बाद की ऐतिहासिक परम्परा पुराणों में सुरक्षित है और ऐसा सोचना उचित ही है कि वह महाभारत युद्ध के पूर्व भी ठीक ही है।[२]

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भारतीय कालगणना एवं उससे सम्बद्ध कुछ प्राचीन कालीन संवत्सरों का इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक कालगणना का सम्वन्ध है उसके क्षेत्र में वैदिक काल से लेकर ज्योतिष सिद्धान्त ग्रान्थों से निर्माण काल तक (ई० पू० ५००) तक प्रचलित युग-पद्धति एवं कालमानों का ऐतिहासिक विकास-स्तर पर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

संवत्सरों के प्राचीन उल्लेखों और प्रयोगों के आधार पर पारम्परिक

---

१. न शक्यं विस्तरं तेषां सन्तानानां परंपरा।
तत्पूर्वापरयोगेन वक्तुं वर्षशतैरपि ॥
एतद्वः कथितं सर्वं समासव्यासयोगतः।
पुनरुक्तं बहुत्वाच्च न शक्यं तु युगैः सह ॥ वायु० ९९।५८, ६१।

2. "for the years subsequent to the great battle of MBh. the Puranas preserve good historical tradition. It is, therefore, reasonable to suspect that similarly good tradition lies behind the genealogies before the battle."

Dates and Dynasties in Earliest India, p. 1.

संवत्सरों जिनका ऐतिहासिकता के प्रति विद्वानों ने संदेह प्रकट किया था उनके विषय में प्रामाणिक स्रोतों से उनके विकास का प्रथमबार विस्तृत विवेचन किया गया है।

पारम्परिक संवत्सरों में उन संवत्सरों का ग्रहण किया गया है, जिनकी सत्ता अतीत के गर्भ में छिपी है, जो प्रचलित ऐतिहासिक युग षोडश महाजनपद या मगध साम्राज्य की स्थापना के पूर्व के हैं, जिनके इतिहास के विषय में परम्परागत शास्त्रोल्लिखित ज्ञान ही सहायक है और जो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा परिचालित नहीं हैं। इनमें ब्राह्म-कल्पमान, सप्तर्षि संवत्, बार्हस्पत्य संवत्सर (षष्ट्याब्द एवं द्वादशाब्द), कलि संवत्सर, परशुराम या कोलम्ब संवत्, जैन निर्वाण काल, बुद्ध निर्वाण काल एवं ग्रहपरिवृत्ति नामक संवत्सरों का ग्रहण किया गया है। यद्यपि महावीर और बुद्ध निर्वाण के संवत् ऐतिहासिक युग के संवत्सर हैं किन्तु इनके विषय में प्राप्त सामग्री विशेषतः सम्प्रदायगत श्रुत परम्पराओं पर ही आधारित है। अतः इनका भी इनमें ग्रहण कर लिया गया है। इन संवत्सरों को विशेषरूप से ग्रहण करने का मुख्य कारण यह रहा है कि इनका अस्तित्व और इतिहास दोनों ही अब तक अन्धकार में ही रहा है। अतः कालक्रम से विलुप्त होते जा रहे इन संवत्सरों को बचाना आवश्यक था, क्योंकि बाद के ऐतिहासिक युग के संवत्सर तो किसी न किसी रूप उल्लिखित होकर बच ही रहे हैं पर ये प्रयोग से रहित होकर अब समाप्त ही हो जाते। अतः इन पर ही विचार किया गया है। शास्त्र या परम्परा जहाँ कहीं से भी प्रामाणिक सामग्री मिली है, उसे इकट्ठा कर इनका क्रमिक ऐतिहासिक विकास स्तर पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ये संवत्सर जो अब भी किसी प्रकार समाज में जीवित बच गये हैं, भारतवर्ष के प्राचीन लोगों की कालक्रम को समझने की प्रवृति की ओर झुकाव का परिचय देते हैं। देश और काल इन दोनों भूमिकाओं पर भारत एक बहुत बड़ा क्षेत्र रहा है जहाँ किसी एक परम्परा का सर्वसम्मत रूप से निर्वाह कर पाना लोगों के लिए कठिन था। अतः विभिन्नता दिखाई पड़ना ही यहाँ की संस्कृति की अपनी विशेषता है, जो उसका यथार्थं में दूषण नहीं, अपितु भूषण है। इसको देश और काल की सीमा में बाँधना तो एक अध्ययन प्रक्रिया है, जो किसी इतिहास के

विद्वान् के लिए आवश्यक है, पर संस्कृति की धारा तो अखण्ड रूप से प्रवाहित होती है। किन्तु इसकी बिखरी हुई कड़ियों को जोड़ने में ये प्राचीन काल के मूल संवत् बहुत सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आज प्राचीनता के प्रति हमारी हीन भावना ने इनके प्रति आदर के भाव को नष्ट कर दिया है, जिसे सुधारा नहीं गया तो परम्परा से चली आ रही संस्कृति की कितनी सजीव धाराएँ तर्क एवं कुतर्कों के मोहफंद में पड़कर विलीन हो जायगीं। अतः परम्परा प्राप्त वस्तुओं को समझने के लिए सहानुभूति अपेक्षित है। समाज में किसी वस्तु का प्रचलन किसी झूठी आधारशिला पर नहीं होता एवं उसकी सत्ता का अपलाप मात्र क्रमिक इतिहास या प्रयोग को देखकर नहीं किया जा सकता। यह तो एक धारा है, जो कभी वेगवान् होती है और कभी मन्द हो जाती है। आज प्रशासन के स्तर पर नामतः शक संवत् को भले ही अपनाया गया है पर प्रयोगतः ई० सन् का ही प्रचार अधिक है। प्राचीन अन्य संवतों का प्रयोग सीमित हो गया है, किन्तु कभी पहले इन्हीं संवत्सरों का प्रचलन था जो आज केवल पंचांगों और धार्मिक कृत्यों के विषय मात्र बन कर रह गये हैं। ये विभिन्न संवत्सर आज भी क्षेत्रीय परिवेश में जनता द्वारा जीवित रखे गए हैं अन्यथा इनका अस्तित्व ही धूमिल पड़ जाता या समाप्त हो गया होता। बड़े सौभाग्य की बात है कि संवत्सरों का यह इतिहास चाहे जिस भी रूप में है, आज हमें प्राप्त है जिसके आधार पर यहाँ उन्हें प्रस्तुत किया गया है। आशा है भविष्य में अन्य शोधों के प्रकाश में यह और निखर कर शुद्ध हो जायगा। यहाँ तो उनमें प्राण संचार कर उन्हें स्वस्थ करने मात्र का प्रयास किया गया है।

इन संवत्सरों के विषय में जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हुई है, उसका संकलन यहाँ कर लिया गया है। अपने मत के अनुकूल या प्रतिकूल होने पर भी सबका यहाँ संग्रह है और इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उपलब्ध प्रमाणों के आलोक में सभी परम्पराएँ सुरक्षित रहें जिससे भविष्य में उन पर प्रकाश पड़ सके। इसीलिए छोटे से छोटे ग्रन्थों से भी उद्धरण लिए गये हैं। यहाँ इन संवत्सरों के विषय में इदमित्थं रूप से सब कुछ नहीं कह दिया गया है। बहुत सी बातें प्राचीन पुस्तकों की अनुपलब्धि और अन्य कठिनाइयों के कारण रह गई हैं फिर भी यथाशक्ति इसे पूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि शोध की इस दिशा में प्रगति होने पर प्राचीन भारत का इतिहास अपनी गणना पद्धति के अनुसार लिखा जायगा जो कलियुगारम्भ से तो कालक्रमानुगत रूप में प्राप्त होता ही है, भले ही उसके पूर्व का इतिहास काल की दृष्टि से बिखरा हुआ है। किन्तु भारतीय इतिहास की मुख्य समस्या उसकी तिथिक्रम व्यवस्था है, जिसके ठीक हुए बिना इन संवत्सरों का विशेष उपयोग हम नहीं कर पायेंगे, न ही इनका महत्त्व ही समझ में आ सकता है। ऐतिहासिक धारा में सुधार के पश्चात् लिखा गया प्राचीन भारत का इतिहास ही उसका वास्तविक इतिहास होगा, जिसे लिखने में इन संवत्सरों से विशिष्ट योगदान प्राप्त हो सकता है। पर अभी तो इन्हें अपने अस्तित्व के लिए ही संघर्ष करना है जिसे आसान नहीं कहा जा सकता। भारतीय कालगणना विश्वसंस्कृति में अपनी सूक्ष्म गणना-प्रणाली के लिए स्थान रखती है, जिसका संरक्षण हम सब भारतीयों का कर्तव्य है।

अध्याय २

कालतत्त्व एवं कालमान

कालतत्त्व

अर्थ एवं पर्याय—'काल' शब्द की निष्पत्ति कल् धातु से होती है जिसका अर्थ गिनना होता है, अर्थात् समय का वह निश्चित भाग विशेष जिसका हम गणना के लिए व्यवहार करते हैं, काल कहा जाता है।[1] सभी भूतों को कवलित करने के कारण भी इसे काल कहते हैं।[2] कालाओं का इसमें संयोग होता है अतः इसे काल कहते हैं।[3] जिससे मूर्तियों का उपचय (वृद्धि) एवं अपचय (ह्रास) द्योतित हो उसे काल कहते हैं।[4] काल की सर्वाधिक पूर्ण परिभाषा सुश्रुत में आई है, जहाँ इसे आदि, मध्य एवं अन्त से रहित, मधुरसादि छह रसों की विकृति-संपत्ति का कारण, अपनी सूक्ष्म कला तक भी न ठहरनेवाला कहा गया है। प्राणियों को सुख-दुःख के साथ संयोग-वियोग कराने अथवा प्राणियों का संहार करने के कारण उसे काल कहते हैं।[5] दिष्ट, अनेहा और समय

---

१. (अ) "काल इति कल्पते" काल संख्याने शब्दे च, कालयति सर्वं इति वा।

वाचस्पत्यम्, पृ० १९८२।

(आ) यद्वा कालयति सर्वाणि भूतानि, कल् प्रेरणे—शब्दकल्पद्रुम, पृ० १०९।

(इ) कल् (टू कलकुलेट आर इनुमरेट) ए फिक्स्ड आर राइट प्वाइंट आफ टाइम—मोनियर विलियम—ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० २७८।

२. कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः—विष्णुधर्म० १।७।७२।१।

३. कलानां सुपरीणामात् "काल" इत्यभिधीयते—वायु० १००।२२५।

४. येन मूर्तीनामुपचयश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः।

—पाणिनि २।२।५ पर महाभाष्य वार्तिक।

५. कालो हि नाम भगवान् स्वयंभूरनादिनिधनोऽत्र रसव्यापत्सम्पत्ति जीवित-मरणे च मनुष्याणामायत्ते। स सूक्ष्मामपि कलां न लीयत इति कालः। सङ्कलयति कालयति भूतानीति कालः।

—सुश्रुत, सूत्र ६।३।

इसके पर्याय कहे गए हैं।[1] समय-बोध के लिए प्रयुक्त एक अभिधान के रूप में सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में एकबार हुआ है।[2] अथर्व वेद में इसके दार्शनिकरूप से सम्बन्धित दो सूक्त हैं।[3] समय-सूचक अर्थ में काल शतपथ ब्राह्मण आदि परिवर्ती ग्रन्थों में अनेकशः उल्लिखित है।[4]

काल का स्वरूप

भारतीय वाङ्मय में काल के दो स्वरूपों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम इसका दैवी या दार्शनिक रूप जिसे लोक-संहारक कहा गया है, एवं दूसरा जिसका लोक में गणना के लिए प्रयोग होता है।[5] इसे ही मैत्रायणी उपनिषद् में मूर्त एवं अमूर्त काल भी कहा गया है।[6] लोक-संहारक अथवा अमूर्तकाल का विशद विवेचन अथर्ववेद के प्रसिद्ध काल-सूक्त में आया है, जहाँ इसे एक अश्व के रूप में प्रतिपादित करते हुए विश्व का नियामक कहा गया हैं।

काल अश्व रूप है जो सप्तरश्मियों से युक्त, सहस्राक्ष, अजर एवं प्रचुर रेतस् वाला है। इस पर कुशल विपश्चित् चढ़े हैं (जैसे कोई रथ पर चढ़ता हो) जिसके सभी भुवन चक्र हैं। यह सप्त चक्रों वाला एवं सप्त नाभिवाला कहा गया है, उसी ने यह भुवन बनाया है, वही सम्पूर्ण विश्व के चारों ओर घूमता है, वही सब का पिता है, वही पुत्र बनाना है, उससे बढ़ कर कोई तेज नहीं। इसी से द्युलोक और इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई हैं। इसी में भूत, भविष्य और वर्तमान समाहित हैं। काल से ही सूर्य तपता है, चक्षु देखती है। इसी में मन, प्राण एवं नाम समाहित हैं। यही सब का ईश्वर और प्रजापति है। यही ब्रह्मा बनकर प्रजापति को धारण करता है। इस काल ने प्रजाओं का सृजन किया, प्रारम्भ में इसने

---

१. कालो दिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽपि

—अमरकोष १।४।१, पृ० ४३, बाम्बे, १९४४।

२. कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले—ऋ० १०।४२।९।

३. अथर्व० १९।५३-५४।

४. श० ब्रा० १।७।३।३, २।४।२।४, ३।८।३।३६, शांखायन ७।२० वैदिक इण्डेक्स, हिन्दी अनु०, पृ० १६८।

५. लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः—सूर्य सि० १।१०।

६. कालो मूर्तिरमूर्तिमान्—मै० उ० ६।१४।

प्रजापति को बनाया। स्वयंभू कश्यप और तपस् उससे उत्पन्न हुए। काल में ही आपः, तपस्, दिशाएं, सूर्य का उदय-अस्त, वायु, पृथ्वी, द्यौस्, ऋक्, यजुष्, यज्ञ, अप्सरस्, गन्धर्व एवं लोक आदि प्रतिष्ठित हैं। काल में ही यम, अङ्गिरा एवं देव अथर्वन् प्रतिष्ठित हैं। इस लोक, परलोक, पुण्यलोक, एवं सभी लोकों को जीतकर यह काल परम देवत्व को प्राप्त कर रहा है।[1]

---

१. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥
सप्तचक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यंजत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥
पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥
स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः ॥
कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥
कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति ॥
काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥
काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥
तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥ अथर्व० १९।५३।१-१०।

\+ \+ \+

कालादापः समभवन् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥
कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥

मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार इस काल से ही भूत उत्पन्न होते हैं, उसी से वृद्धि को प्राप्त होते हैं एवं उसी में लय हो जाते हैं। काल मूर्तमान् और अमूर्तमान् दोनों प्रकार का है[1]।

अथर्ववेद के उक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक युग में समयबोध के सामान्य पर्याय के अतिरिक्त काल का दार्शनिक रूप अधिक व्यापक हो गया था, जिसकी छाया परवर्ती उपनिषद् आदि ग्रन्थों में भी पाई जाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में काल को जगत् का कारण बताया गया है[2]। काल के संहारक स्वरूप का संकेत महाभारत में मिलता है, जहाँ इसे प्रजाओं को उत्पन्न करने वाला, संहार करने वाला, सभी शुभाशुभ भावों का कर्ता, सदा सुप्तों में भी जागने वाला एवं दुरतिक्रम कहा गया है[3]। मनुस्मृति में काल एवं कालविभागों को परमात्मा

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत॥
कालो यज्ञं समैरयद् देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥
कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधितिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥
अथर्व० १९।५४।१-५।

१. कालात्स्रवन्ति भूतानि कालाद् वृद्धिं प्रयान्ति च।
काले चास्तं नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान्॥ मै० उप०, ६।१४।

२. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा।
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्॥
श्वे० उ० १।१-२।
स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः। वही, ६।१।

३. कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः॥
कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः॥
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥ महा० अदि० १।२४८-२५०;
तु० स्त्री पर्व २।२४, शान्ति पर्व २२१।४१, २०६।१३।

द्वारा उत्पन्न बताया गया है[१]। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने को लोकों का क्षय करने वाला काल बताया है[२]। पुराणों में काल के इस रूप का अनेकशः वर्णन प्राप्त होता है। वायु में इसे चतुर्मूर्ति, चार मुख एवं चार दंष्ट्रा वाला कहा गया है, जो लोकसंरक्षणार्थ सबका अतिक्रमण करता है। इसके लिए कोई वस्तु असाध्य नहीं। वही भूतों को उत्पन्न करता है एवं वही इनका संहार करता है। सभी भूत काल के वशीभूत हैं। काल किसी वश में नहीं है। इसलिए सभी भूतों को काल कवलित करता है[३]।

कूर्म एवं विष्णुधर्मोत्तर पुराणों में काल-रूपी परमात्मा को अनादि, अनन्त, अजर और अमर कहा गया है, जो सर्वस्वतन्त्र एवं महेश्वर है।[४] इसके अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थों जैसे वैशेषिकसूत्र, योगसूत्र, न्यायसूत्र, न्यायमंजरी, के पदार्थ निरूपण आदि प्रसङ्ग में भी काल-विवेचन पाया जाता है, जिसका वर्णन यहाँ प्रासंगिक नहीं प्रतीत होता[५]।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्धों और जैनों ने भी काल के स्वरूप पर विचार किया है। बौद्धों के विचार से काल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि

---

१. कालं कालविभक्तिश्च, मनु० १।२४।

२. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः —गीता ११।३२।
कालः कलयतामहम्—वही, १०।३०।

३. एष कालश्चतुर्मूर्तिश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्मुखः।
लोकसंरक्षणार्थाय अतिक्रामति सर्वशः॥
नासाध्यं विद्यते चास्य सर्वस्मिन् सचराचरे।
कालः सृजति भूतानि पुनः संहरति क्रमात्॥
सर्वे कालस्यवशगा न कालः कस्यचिद्वशे।
तस्मात्तु सर्वभूतानि कालः कलयते सदा॥ वायु० ३३।२८-३०।

४. अनादिरेष भगवान् कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात् स्वतन्त्रत्वात् सर्वात्मत्वान् महेश्वरः॥
कूर्म० १।५।२३; विष्णु० १।२।२६।
अनादि निधनः कालो रुद्रः संकर्षणः स्मृतः।
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः॥
अनादिनिधनत्वेन स महान् परमेश्वरः॥ विष्णुधर्म०, १।७२।१-२।

५. विशेषद्रष्टव्य—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० ५ भाग १, पृ० ४७०-५।

यदि काल आदि-अन्त से रहित है तो उसमें निकट और दूर इत्यादि का भेद संभव नहीं। इस प्रकार समय कोई वस्तु नहीं अपितु केवल विचार है[३]। जैनों के अनुसार छह पदार्थों में से काल भी एक है[४]।

कलनात्मक या मूर्त काल

मैत्रायणी उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप बताए गए हैं, (१) अकाल और (२) काल। जो सूर्य से परे है उसे अकाल एवं सूर्य से जो संबन्धित हैं, उसे काल कहा गया है[१]। इस काल से ही लोक व्यवहार चलता है। यह मूर्तकाल भी व्यवहार भेद से स्थूल एवं सूक्ष्म अथवा मूर्त एवं अमूर्त होता है[२]। यही भेद तैत्तिरीय आरण्यक में अणु एवं महत् नाम से पठित है[३]। ठीक यही विभाग श्रीमद्भागवत में भी आया है[४]। काल के प्राण आदि विभाग जिनका लोक में व्यवहार होता है मूर्त या स्थूल हैं, एवं

---

३. अनादिनिधनात् कालात् कथं क्षिप्रादि बुद्धयः।
चिरक्षिप्रादि बुद्धीनां ग्राह्यः कालो यदीष्यते ॥
चिरादयोऽपि नैवामी क्रियातो व्यतिरेकिणः।
चिरं कृतमितीत्थं हि क्रियारूप प्रवेशतः ॥
प्रमाणवार्तिक भाष्य, ३५, ४०, पृ० ४७६-७, १९५३; राहुलसांकृत्यायन।

४. कालश्च सोऽनन्त समयश्च। तत्त्वार्थसूत्र, ज्ञानपीठजैनग्रन्थमाला 'हिस्ट्री आफ फिलासफी, इस्टर्न और वेस्टर्न' राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० १४४, १५९, १७५-७६।

१. द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चाथ यः प्रागादित्यात्सोऽकालो य आदित्याधः स कालः। मै० उ० ६।१४-१५।

२. स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान् मूर्तश्चामूर्त उच्यते। सूर्य सि० १।१०।

३. अणुभिश्च महद्भिश्च समारूढः प्रदृश्यते। तै० आ० १।१२।
(कीदृशैः कालैः अणुभिश्च क्षणमूहूर्ताद्याकारेण सूक्ष्मरूपैः महद्भिश्च संवत्सरयुगादिरूपेण—सायणभाष्य १।१२)।

४. एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम।
संस्थानभुक्त्या भगवान् अव्यक्तो व्यक्तभुग् विभुः ॥ भाग०, ३।११।३;
तु० विष्णुधर्म० १।७२।१-७।
यावान् कल्प विकल्पो वा यथा कालोऽनुमीयते।
कल्पस्यानुगतिर्या तु लक्ष्यतेऽण्वो बृहत्यपि ॥ भा० २।८।१२-१३।

त्रुटि आदि जो अव्यवहार्य हैं वे अमूर्त काल कहे गये हैं[१] ।

जैन ग्रन्थ जम्बूदीव-पण्णत्ति में काल के व्यवहार और परमार्थ दो भेद बताए गये हैं। व्यवहार-काल मनुष्य-लोक में और परमार्थकाल सर्वलोक में पाया जाता है। दूसरा भेद संख्येय और असंख्येय या अनन्त रूप में मिलता है[२]। गणना के योग्य काल को संख्येय और गणना से रहित असंख्येय काल होता है[३]। यह संख्येय और असंख्येय नामक दोनों विभाग उक्त मूर्त और अमूर्त काल के समान ही हैं।

उक्त दोनों प्रकार के काल की उत्पत्ति सूर्य से बतायी गई।[४]। काल-मान ग्रह-गति के[५] अनुसार है एवं नक्षत्र, ग्रह तथा चन्द्रमा की प्रतिष्ठा एवं योनि सूर्य ही है[६]। अतः सूर्य के अभाव में क्षण, मुहूर्त, दिवस, निशा, पक्ष, मास, संवत्सर, ऋतु एवं युगादि काल संख्याओं का अस्तित्व ही संभव नहीं है[७]। सूर्य की गति विशेष से ही निमेष, काष्ठा, कला, युग आदि, विभाग होता है।[८] संख्येय और असंख्येय काल कर्म-भूमि में सूर्य की गति से देखा जाता है।[९]

---

१. प्राणादिः कथितो मूर्तस्त्रुट्याद्योऽमूर्त संज्ञकः। सूर्य सि० १।११।

२. दुविधो ह होदि कालो ववहारो तह्य परमत्थो।
ववहार मणुभलोए परमत्थो सव्वलोयम्मि॥
संखेज्जमसखेज्जं अणंतयं त ह य होदितिवियप्पो॥ जं० प० १३।१-३।

३. एवं एसो कालो संखेज्जो होदि वस्सगणणाए।
गणणा अवदिक्कंतो हवदि य कालो असंखेज्जो॥ वही, १३।१५।

४. सूर्यो योनिः कालस्य, मै० उ० ६।१४।
अथ कालसंज्ञं आदित्यमुपासीत—वही, ६।१६।

५. मानसंख्या बुधैर्ज्ञेया ग्रहगत्यानुसारतः। विष्णुधर्म० १।७२।७।

६. नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठा योनिरेव च।
ऋक्षचन्द्रग्रहा सर्वे विज्ञेया सूर्यसंभवाः॥ वायु० ५३।२८।

७. क्षणामुहूर्ता दिवसा निशा पक्षाश्च कृत्स्नशः।
मासाः संवत्सराश्चैव ऋतवोऽब्द युगानि च॥
तदादित्यादृते तेषां कालसंख्या न विद्यते॥ वायु० ५३।३८-३९।

८. भगवान् आदित्यो गतिविशेषेणाक्षि निमेषकाष्ठाकला युगविभागं करोति।
सुश्रुत २।५।

९. भाणुगदीए दीट्ठो समासदो कम्मभूमिम्मा। जं० प०, १३।४।

कालमान

यद्यपि कालमानों का विकास-स्तर भिन्न-भिन्न कालों में विभिन्न रूपों में हुआ है, जिसे इस प्रवन्ध के "कालगणना—उद्भव एवं विकास" नामक अध्याय में सविस्तर देखा जा सकता है, पर पुराणों के काल तक इस व्यावहारिक काल की सूक्ष्मतम एवं बृहत्तम सीमाएँ अणु, परमाणु एवं निमेष से लेकर द्विपरार्ध तक पहुँच गयीं थीं, जिसे परम और महान् काल भी कहा गया है।[1] निमेष से वत्सर पर्यन्त, यह काल की एक ईकाई थी, जिसका मुख्य रूप से वर्णन वैदिक काल से लेकर कौटिल्य के काल पर्यन्त तक मिलता है। युगों की इकाई भी इस काल तक पल्लवित हो चुकी थी किन्तु इसका सुनिश्चित मान सर्वत्र एक समान नहीं था। "निमेष" नामक काल मान वाजसनेयि संहिता में पठित है।[2] शतपथ ब्राह्मण में मुहूर्त, क्षिप्र, एतर्हि, इदानीम्, तदानीम्, उच्छ्वास, प्रश्वास, निमेष आदि कालमान पठति हैं।[3] बृहदारण्यक में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, एवं संवत्सर नामक काल मान[4] उल्लिखित हैं। क्षण, लव, मुहूर्त, दिवस, रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर और युग तक का विभाग महाभारत[5] में भी मिलता है। कौटिल्य[6]

१. स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतो विशेषभुग् यस्तु स कालः परमो महान्॥
कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते।
कालोऽयं परमाण्वादिर्द्विपरार्धान्त ईश्वरः॥ भाग० ३।११।४; ३८-९।
नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने—वही, १०।३।२५-६।

२. सर्वे निमेषा जज्ञिरे वियुतः पुरुषादधि, वाज० सं० ३२।२;
तु० सर्वे निमेषा जज्ञिरे वियुतः पुरुषादधि।
कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः॥
अर्धमासा ऋतवः संवत्सरश्च कल्पताम्॥ ना० उ० १।८।

३. श० ब्रा० १२।३।२।५।

४. निमेषा मुहूर्ता अहोरात्रार्धमासमासा ऋतवः संवत्सरा इति। वृ० उ० ३।८।९।

५. महा०, सभापर्व ११।३७-३८।

६. त्रुटो लवो निमेषः काष्ठा कला नाडिका मुहूर्तः पूर्वापरभागौ
दिवसो रात्रिः पक्षो मासऋतुरयनं संवत्सरो युगमिति कालाः।
अर्थशास्त्र २।२०।४१।

ने कालावयवों को त्रुट, लव, निमेष, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, दिवस (पूर्वापर), रात्रि, पक्ष, मास. ऋतु, अयन, संवत्सर एवं युग में विभक्त किया है।

पुराणों[१] में ब्रह्मा द्वारा लव, काष्ठा कला, मुहूर्त, रात-दिन, सन्धि, अर्धमास, मास, अयन, अब्द और युगोंवाली युगव्यवस्था के निर्माण किए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। कालगणना की दूसरी बृहत्तम इकाई पुराणों और ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में, बृहत्संहिता[२] एवं वैशेषिक सूत्र[३] के प्रशस्त पाद भाष्य में युग, मन्वन्तर, कल्प एवं प्रलय आदि रूपों में उल्लिखित है।

जैन ग्रन्थ 'जम्बूदीव पण्णत्ति' में काल के समय, अवली, उच्छ्वास, स्तोक, लव, नाली, मुहूर्त, दिवस, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युगतक विभाग मिलता है। इसके आगे उनके अपने मान पूर्व, पर्व, नियुत, कुमुद आदि पठित हैं[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काल के विभिन्न सूक्ष्म अवयव वैदिक काल से ही लोगों को ज्ञात हो गए थे एवं मुहूर्तों से लेकर युगों तक के कालमान प्रचलित थे। यद्यपि युग का मान पुराणों और स्मृति ग्रन्थों में दूसरा पठित है। मन्वन्तर और कल्प सम्बन्धी व्यवस्था, जिससे पर और परार्ध नामक काल भी जुड़ा हुआ है, पुराणों की अपनी विशिष्ट देन है, जिसे ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में भी अपनाया गया है[५]।

---

१. कूर्म० १।६।४०-४९।
   वायु० ८।२०-२२, ९७।३२-३३।
   लिंग० १।७०।१७९ इत्यादि।

२. तत्र ग्रहगणिते पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहेषु पंचस्वेतेषु सिद्धान्तेषु युगवर्षायनर्तुमासपक्षाहोरात्रयाममुहूर्तनाडीप्राणत्रुटित्रुयुट्याद्यवयवादिकस्य कालस्य क्षेत्रस्य च वेत्ता। वृ० सं० २।३।

३. (स कालः) क्षणलवनिमेष कलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तर प्रलय व्यवहारहेतुः।
   प्रशस्तपादभाष्य, वैशेषिक सू० २।२।२६।

४. जं० प० १३।५-१५।

५. कालमान संबन्धी परिमाण न्यूनाधिक्य रूप में निम्नग्रन्थों में पाया जाता है– पराशरसंहिता, काश्यप संहिता, भृगुसंहिता, मयसंहिता, सूर्यसिद्धान्त,

पौराणिक युग में काल के सूक्ष्म और स्थूल दोनों भेदों लव, काष्ठा, कला, मुहूर्त, सन्धि, रात्रि, दिन अर्धमास, मास, अयन, युग आदि[1] का पूर्ण संग्रह अधिकांश पुराणों में प्राप्त होता है।[2] वायु और भागवत पुराण में काल के पूर्ण अवयवों का चित्रण दो विशिष्ट परंपराओं में प्राप्त होता है। वायु पुराण के अनुसार निमेष काल का सबसे छोटा अयव है, जिसे एक लघु अक्षर के उच्चारण-काल तुल्य बताया गया है।[3]

एवं परवर्ती ब्रह्मसिद्धान्त, बृहत्संहिता, आदि ज्योतिष ग्रन्थ (प्रथम आर्यभटको छोड़कर जिनके अनुसार युग व्यवस्था भिन्न है)—उक्त संहिताओं का उल्लेख भगवद्दत्त ने अपने भारत वर्ष का वृहद् इतिहास प्र० भा० पृ० १५२-५३ में किया है।

दिव्यावदान, (३३) शार्दूल कर्णावदान, वैद्यसंस्करण, १९५९, पृ० ३३६-३८

जम्बूदीव पण्णत्ति संग्रह १३।१-१५।

१. लवाः काष्ठाः कलाश्चैव मुहूर्ताः संधिरात्र्यहाः।
अर्धमासाश्च मासाश्च अयनाब्द युगानि च ॥ वायु० ६।६९-७०।

२. वायु० ५७।१-३८, ५०।१६९-१८९, १००।२११-२४२
कूर्म० १।५।१-२६
मत्स्य० १४१।१-३७
ब्रह्माण्ड० २।२९।६-४१
लिंग० १।४।५-५७
विष्णु० १।३।४-२२, ६।१।३-७, ६।३।१-१४
ब्रह्म० १२४।४-१४
ब्रह्मवै० १।५।५-१४
पद्म० ५।३।४-२०
भाग० ३।११।३-३८
भविष्य० २।६।१-४०, ७।१-६
मार्क० ४६।२३-३८
स्कन्द० ६।२७३।९-१६
विष्णुधर्म० १।७२।१-४०
महा० वन० ६९।२३।१-२।

३. निमेषकालतुल्यं हि विद्याल्लघ्वक्षरं च यत्। वायु० ५७।६।
लघ्वक्षरसमा मात्रा निमेषः परिकीर्तितः।
अतः सूक्ष्मतरः कालो नोपलभ्यो भृगूत्तम ॥ विष्णुधर्म० १।७२।१।

निमेष से भी सूक्ष्म काल के लव, वेध, त्रुटि, त्रसरेणु, अणु और परमाणु आदि विभाग भागवत पुराण[1] में पठित हैं। इनमें अणु और परमाणु तो अदृश्य हैं किन्तु त्रसरेणु के बाद के विभाग दृश्य हैं। सामान्यतया १५ निमेष=काष्ठा, ३० काष्ठा = कला, ३० कला=मुहूर्त और ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र पठित है[2]। दिव्यावदान में दो अक्षिनिमेष=लव, ८ लव=काष्ठा, १६ काष्ठा = कला = कला, ३० कला=नाडिका, २ नाडिका=मुहूर्त एवं ३० मुहूर्त का अहोरात्र कहा गया है।[3]

पितृसंवत्सर

मानव काल गणना का एक मास पितरों का एक अहोरात्र होता है। कृष्णपक्ष इनका दिन एवं शुक्ल पक्ष रात्रि होती है। तीस मानव मासों का एक पितृमास एवं ३६० मानव मासों का एक पितृसंवत्सर होता है। मनुष्यों के एक सौ वर्ष पितरों के ३$\frac{1}{3}$ वर्ष के तुल्य होता है।[4]

दिव्यसंवत्सर

लौकिक मान से मनुष्यों का एक वर्ष दिव्य अहोरात्र, अर्थात् देवताओं का एक दिन-रात कहा गया है। उत्तरायण देवों का दिन और दक्षिणायन उनकी रात्रि होती है। तीस मानव वर्षों का एक दिव्यमास

---

१. भा० ३।११।१-५।

२. काष्ठा निमेषादशपंच चैव त्रिंशच्च काष्ठा गणयेत् कलास्ताः।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन् मुहूर्तास्त्रिंशता रात्र्यहणी समेते॥
—वायु० ५७।७।

३. कालस्य किं प्रमाणमिति तदुच्यते। द्वावक्षिनिमेषावेकोलवः।
अष्टौ लवा एका काष्ठा षोडश काष्ठा एकाकला, कलानां त्रिंशदेका नाडिका।
तत्र द्वे नाडिके एको मुहूर्त। एतेन भो ब्राह्मण त्रिंशन्मुहूर्ता यै रात्रिदिवसा अनुमीयन्त इति।
—दिव्यावदान (३३) शार्दूलकर्णावदान, पृ० ३३७, वैद्यसंस्करण।

४. वायु० ५७।१०-११।
लिंग० पू० ४।१०-१३
मत्स्य० १४१।७-८
ब्रह्माण्ड० २।२९।८-१०।

एवं सौ मानव वर्षों के ३$\frac{1}{3}$ दिव्यमास होते हैं। ३६० मानव वर्षों का दिव्य-संवत्सर (देव वर्ष) पठित है[1]।

सप्तर्षिवत्सर

मानव-वर्ष प्रमाण से तीन हजार तीस वर्षों का एक सप्तर्षिवत्सर कहा गया है[2]।

क्रौंचवत्सर

नौ हजार नव्वे (९०९०) मानव वर्षों का एक क्रौंचवत्सर कहा गया है[3]। लिङ्ग, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराण में इसे ध्रौव संवत्सर कहा गया है[4]।

इसके पश्चात् छत्तीसहजार (३६०००) मानववर्षों का एक शत दिव्य-वर्ष एवं तीन लाख साठ हजार (३,६००००) मानव वर्षों का एक सहस्र दिव्यवर्ष होता है। ये सब दिव्य गणना के अङ्गभूत कालमान हैं[5]।

युग

भारत वर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नामक चार युग बताये

---

१. वायु० ५७।१२-१६; तु० लिंग० ४।१४-१९
मत्स्य० १४१।९-१२; ब्रह्माण्ड० २।२९।१३-१६।

२. त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशद्यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः॥ वायु० ५७।१७।
—लिंग० ४१।१८, मत्स्य० १४१।१३, ब्रह्माण्ड० २।२९।१७।

३. नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु।
अन्यानि नवतिश्चैव क्रौंचः संवत्सरः स्मृत;॥ वायु० ५७।१८; ब्रह्माण्ड० २।२९।१८।

४. लिङ्ग० ४।२१-२१
मत्स्य० १४१।१४
ब्रह्माण्ड० २।२९।१८।

५. वायु० ५७।१९-२१
लिङ्ग० ४।२१-२३
मत्स्य० १४१।१५-१६
ब्रह्माण्ड० २।२९।१९-१२।

गये हैं[१]। इनके वर्ष-परिमाण दिव्य और मानव दोनों मानों में पठित हैं। इस प्रकार १२००० दिव्यवर्षों[२] या ४३२०००० मानवर्षों[३] का एक चतुर्युग बताया गया है—

दिव्यवर्ष		मानववर्ष
१—कृतयुग = ४८००		४८ × ३६० = १७२८०००
२—त्रेता युग = ३६००		३६०० × ३६० = १२९६०००
३—द्वापरयुग = २४००		२४०० × ३६० = ८६४०००
४—कलियुग = १२००		१२०० × ३६० = ४३२०००
योग	१२०००	४३२००००

युगों का यह मान संध्या और संध्यांश-युक्त पठित[४] है।

मन्वन्तर

यह पौराणिक एवं स्मृति ग्रन्थों में उल्लिखित कालगणना प्रणाली में काल की एक इकाई है, जिसका मान ७१ चतुर्युगों के बराबर कहा गया है[५]।

---

१. चत्वारि भारतेवर्षे युगानि ऋषयो विदुः।
पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेता विधीयते॥
द्वापरश्च कलिश्चैव युगान्येतान्यकल्पयत्॥
वायु० ५७।२२, ब्रह्माण्ड० २।२९।२३-२४।

२. वायु० ५७।२२-२८।
मत्स्य० १४१।१७-२३।
ब्रह्माण्ड० २।२९।२५-२९।

३. लिङ्ग० १।४।२७-३३।
वायु० ५७।२९-३३।
मत्स्य० १४१।२४-२९।
ब्रह्माण्ड० २।२९।३०-३६।

४. विशेष द्रष्टव्य—इस शोध प्रबन्ध का दूसरा अध्याय "कलगणना-उद्भव एवं विकास", "स्मृति एवं पुराण काल"।

५. यत् प्राक् द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते॥ मनु० १।७९।
चतुर्युगानां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः।
मन्वन्तरं तस्य संख्या मानुषाब्दैर्निबोधत॥
मार्क० ४६।३४, वायु० १।१२३; ५७।३३, विष्णु० १।३।१८।

चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है[1]। विष्णु पुराण में इन चौदह मनुओं के नाम इस प्रकार पठित हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, और चाक्षुष–ये छः मनु व्यतीत हो चुके हैं। सातवाँ वैवस्वत मनु चल रहा है। सावर्णिक, दक्षसावर्णिक, ब्रह्मसावर्णि, रुचि एवं भौम नामक मनु भविष्य में होंगे[2]। इनमें होने वाले सप्तर्षियों, इन्द्रादि देवता एवं मनु-पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है। मन्वन्तर सम्बन्धी यह वर्णन अन्यत्र पुराणों में भी देखा जा सकता है[3]।

एक ब्राह्मकल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं अर्थात् एक मन्वन्तर में सामान्यतः $\frac{\text{चतुर्युग} \times १०००}{१४}$ = चतुर्युग × ७१ = ४३२०००० × ७१ = ३०६७२००० मानववर्ष या (१२००० × ७१) = ८५२०००० दिव्यवर्ष होते हैं[4]। इसके अतिरिक्त अन्य पुराणों में विभिन्न प्रकार के मान पठित हैं जो काल के विविध

---

१. एषा चतुर्युगाख्या तु साधिकाह्येक सप्ततिः ।
क्रमेण पविवर्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥ मत्स्य० १४१।३५।
एकपादं परिक्रम्य पदानामेकसप्ततिः ।
यदाकालः प्रक्रमते तदा मन्वंतरक्षयः ॥ वायु० ३२।३२।
एवं चतुर्युगाख्यानां साधिका ह्येकसप्ततिः ।
कृतत्रेतादियुक्तानां मनोरन्तरमुच्यते ॥ ब्रह्माण्ड० २।२९।३७।
एतच्चतुर्दशगुणं कल्पमाहुस्तु तद्विदः ।
मत्स्य० १४१।३६, विष्णुधर्म०, १।७३।३५।
चतुर्युगैकसप्तत्या मन्वन्तरमिहोच्यते ।
कल्पस्तु राम विज्ञेयो मनवस्तु चतुर्दश ॥ विष्णुधर्म० १।७३।३४।

२. विष्णु० ३।१।६-७, ३।२।१-४४।

३. ब्रह्म० ३।१-५५, ५।४-५, ४९-५२, नारदीय० १।४०।२०-२३, भा० ८।१।४, १९-२२, २३-२६, २७-३०, ब्रह्माण्ड० २।१४।४, नीलमत पुराण ५६८।९०, ५६९।६९१, ५७०।६९२, ५७१।६९३, द्रष्टव्य–राजतरंगिणी, भाष्यकार रघुनाथ सिंह, पृ० ३०-३१।

४. त्रिंशत् कोट्यस्तु संपूर्णा संख्याता संख्यया द्विज ।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि च संख्यया ॥
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं साधिकं विना ।
एवं मन्वन्तरं प्रोक्तं दिव्यैर्वर्षैनिबोधत ॥

प्रचलित रूपों के मान के कारण वर्णित हैं। मत्स्य पुराण में ३११०३२८८०, १/२ मानववर्ष तथा दिव्य प्रमाण से १४०००० वर्ष, अर्थात् १४०००० × ३६० = ५०४,००,००० मानववर्ष इसका मान पठित है[1]। वायु पुराण के अनुसार यह संख्या कई प्रकार की दी गई है—प्रथम (१) २८००००००० वर्षों का एक मन्वन्तर कहा गया है तथा १४ मन्वन्तरों का काल ३९२०७०८००० वर्ष दिये गये हैं किन्तु यदि इसे १४ से विभक्त करें तो लब्धि २८००५०५७१+३/७ आती है, जिसके अनुसार पहले दिए हुए मान से ५०५७१ + ३/७ वर्षों का का अन्तर आता है[2]। दूसरे उद्धरण के अनुसार तीन प्रकार के मान पठित हैं :—(१) कल्पार्ध = ७ मन्वन्तर= २८६२७०००००० वर्ष, अतः एक मन्वन्तर=२८६२७००००० ।७= ४०८९५७१४२८ ४/७ वर्ष, (२) सात मन्वन्तर = १७८९२००००० अतः मन्वन्तर=१७८९२००००० । ७ = २५५६००००० वर्ष, आगामी सप्त मन्वन्तर=६६४८००० जो दिव्य वर्ष प्रतीत होते हैं और यदि ये दिव्य हैं तो मन्वन्तर=६६४८००० । ७ = ९४९७१४, २/७ × ३६० = ३४१८९१०२ ९ वर्ष के बराबर होता है[3]।

अष्टौ वर्ष (शत) सहस्राणि दिव्यया संख्याया युतम् ।
द्विपंचाशत्तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि तु ॥
मार्क० ४६।३५-३७, वायु० १०।१२ ५७।३३, विष्णु० १।३।१८-२२ ।

१. मत्स्य० १४१।२९-३३ ।

२. अष्टाविंशतिरेवैता कोट्यस्तु सुकृतात्मनाम् ।
मन्वन्तरे तथैकस्मिश्चतुर्दशसु वै तथा ॥
त्रीणीकोटिशतान्यासन् कोट्यो द्विनवतिस्तथा ।
अष्टाधिकाः सप्तशताः सहस्राणां स्मृता पुरा ॥ वायु० ७।१६-१७ ।

३. मन्वन्तराणां सप्तानां कालसंख्या यथाक्रमम् ।
प्रवक्ष्यामि समासेन ब्रुवतो मे निबोधत ॥
कोटीनां द्विसहस्रे वै अष्टौ कोटिशतानि च ।
द्विषष्टिश्च तथा कोट्यो नियुतानि च सप्ततिः ॥
कल्पार्धस्य तु संख्यायामेतत्सर्वमुदाहृतम् ।
पूर्वोक्तौ च गुणच्छेदो वर्षाग्रं लब्धमादिशेत् ॥
शतं चैव तु कोटीनां कोटीनां अष्टसप्ततिः ।
द्वे च शतसहस्रे तु नवतिर्नियुतानि च ॥

नरसिंह पुराण के अनुसार मन्वन्तर = ८७९००० दिव्य वर्ष या ८७९००० × ३६० = ३१६४४०००० मानव वर्ष[1] का होता है। हरिवंश में मन्वन्तर मनु का अयन कहा गया है, जो चतुर्युग का ७१ गुना होता है। यहाँ अयन परिभाषित हैं=जो १० दिव्य वर्ष=१ मनु अहोरात्र, १० म अ=१ म पक्ष, १० मनु पक्ष=१ मनु मास, १२ मनु मास=१ मनु ऋतु, ३ मनु ऋतु=१ मनु अयन, २ मनु अयन = १ मनु वर्ष=, अर्थात् एक मन्वन्तर=३६० × १० × १० × १०१२ × ३=१,२९,६०,०००[2] वर्षों का कहा गया है। ब्रह्म पु० के अनुसार एक मन्वन्तर=चतुर्युग × ७० +साग्र(साधिका)=४३२०००० × ७० = ३०२४००००० वर्ष का होता है[3]। ब्रह्मवैवर्त के अनुसार (३६० वर्ष = १ दिव्य युग, ७१ दिव्य युग

मानुषेण प्रमाणेन यावद्वैवस्वतान्तरम् ।
एष कल्पस्तु विज्ञेयः कल्पार्धद्विगुणीकृतः ।।
अनागतानां सप्तानामेतदेव यथाक्रमम् ।
प्रमाणं कालसंख्याया विज्ञेयं मतमैश्वरम् ।।
नियुतान्यष्टपंचाशत्तथाशीतिशतानि च ।
चतुरशीतिश्चान्यानि प्रयुतानि प्रमाणतः ।।
एतत्कालस्य विज्ञेयं वर्षाग्रं तु प्रमाणतः ।
एष मन्वन्तरे तेषां मानुषन्ति प्रकीर्तितः ।। वायु० २१।१४-२१ ।

१. चतुर्युगानां संख्या च साधिकाह्येकसप्ततिः ।
मन्वन्तरं मनोः कालः शक्रादीनामपि द्विज ।
अष्टौ वर्षसहस्राणि दिव्यया संख्यया स्मृतः ।।
द्विपंचाशत्तथान्यानि सप्तचान्यानि वै मुने ।
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयं साधिकं स्मृतम् ।। नरसिंह० २।१७-१९ ।

२. कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुर्युगम् ।
युगं तदेकसप्तत्या गणितं नृपसत्तम ।।
मन्वन्तर मितिप्रोक्तं संख्यानार्थविशारदैः ।
अयनं चापि तत्प्रोक्तं द्वऽयने दक्षिणोत्तरे ।।
मनुः प्रलीयते यत्र समाप्ते चायने प्रभोः ।। हरिवंश० १।८।१७-१८ ।

३. युगानि सप्ततिस्तानि साग्राणि कथितानि च ।।
कृतत्रेतादियुक्तानि मनोरन्तरमुच्यते ।
चतुर्दशैते मनवः कथिता कीर्तिवर्धनाः ।। ब्रह्म० ५।५४-५५ ।

=१ मन्वन्तर=३६०×७१)=२५५६० मानव वर्ष एक मन्वन्तर का परिमाण होता है[१]। इस प्रकार विभिन्न स्थलों में इसके मान भिन्न-भिन्न पठित हैं। पर सामान्यतया ७१ चतुर्युग का एक मन्वन्तर होता था ऐसा स्पष्ट संकेत मिलता है।

कल्प

कालमान की इस इकाई का सामान्यतया व्यवहार महाभारत, पुराणों एवं बाद के ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में हुआ है। कल्प शब्द की प्रारम्भिक छाया ऋग्वेद में पाई जाती है, जहाँ (ब्रह्मा) सृष्टिकर्ता प्रजापति द्वारा सूर्य, चन्द्र, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष को पूर्व की ही भाँति बनाए जाने का उल्लेख है।[२] अभिलेखीय साक्ष्यों के सन्दर्भ में 'कल्प' का सर्वप्रथम उल्लेख अशोक के चतुर्थ (गिरनार एवं काल सी) एवं पंचम (शहबाजगढ़ी एवं मानसेरा) शिलालेखों में प्राप्त होता है।[३] उक्त शिलालेखों में कल्प का प्रयोग प्रतिसर्ग के अर्थ में किया गया है जब सर्वनाशक अग्नि संवर्त प्रकट होगी। अमर कोष में संवर्त, प्रलय, कल्प, क्षय और कल्पान्त एक दूसरे के पर्याय कहे गये हैं।[४] महाभारत और मनुस्मृति में युगों के मान पठित हैं। महाभारत में तो केवल १२००० वर्षों की एक युगाख्या कही है, जिसका सहस्रगुना ब्रह्मा का दिन कहा गया है[५]। यहाँ कल्प शब्द का प्रयोग नहीं है। मनुस्मृति के वर्णन में भी कल्प शब्द का अभाव है पर मन्वन्तर है। यहाँ द्वादश

---

१. मन्वन्तरं तु दिव्यानां युगानामेकसप्ततिः। ब्रह्मवै० १।५।५, २।७।१६; बृहन्नारदीय १।५।१५। विशेष द्रष्टव्य–पु० को०, पृ० १६-३५।

२. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥ ऋ० १०।१९०।३।

३. "आव सवट कपा" (यावत् संवर्तकल्पम्)। "वा कपम्"
इन्सक्रिप्शन्स आफ अशोक, कां०इ०इ०जि० १, पृ० ६,३०, पृ० ५५-७४।

४. संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि। अमरकोष, कालवर्ग ४।२२, निर्णयसागर संस्करण, १९४४ ई०।

५. एषा द्वादशसाहस्री युगाख्या परिकीर्तिता।
एतत् सहस्रपर्यन्तमहो ब्राह्ममुदाहृतम्॥
महा० वन १८६।२३ तु० मनु० १।७१-८१।

सहस्र दैवयुगों का ७१ गुना एक मन्वन्तर एवं सहस्रगुना ब्रह्मा का दिन होता है, ऐसा कहा गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कल्पादि बड़े-बड़े मान ई० पू० ३ शताब्दी के पहले उद्भूत हो चुके थे। बौद्धों में भी कल्प का सिद्धान्त स्वीकृत हो चुका था जैसा महापरिनिर्वाण सुत्त, २।५३ से स्पष्ट है। धर्मसंग्रह नाम बौद्ध ग्रंथ में अन्तरकल्प, महाकल्प, शून्यकल्प, सारकल्प, संवर्तकल्प एवं निवर्तकल्पों का उल्लेख है।[1]

कल्पावधि

इस बात का उल्लेख है कि वर्तमान कल्प के पूर्व का कल्प मन्वन्तरों सहित चार सहस्रयुग वर्षों का था। इससे कल्प की अवधि एक सहस्र चतुर्युग ज्ञात होता है।[2] सूर्य-सिद्धान्त में कल्प को ब्रह्मा का दिन कहा गया है, जो सहस्रयुगों (महायुगों=चतुर्युग[3]) परिमाणवाला और भूतसंहारक होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है। ठीक यही परिभाषा पुराणों में भी पठित है।[4] वायु पुराण एवं लिंग पुराण में कल्पार्ध में २८६२ करोड़ ७० नियुत (२८६२७००००००) वर्ष बताये गये हैं।[5]

---

१. बुद्धिष्ट हाइब्रिड संस्कृत डिक्शनरी, पृ० १७२; हि० धर्म०, जि० ५, भाग १, पृ० ६८५।

२. वायु० ७।१५।

३. इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥ सूर्यसि० १।२०।

४. चतुर्युगसहस्रं तु कथ्यते ब्रह्मणो दिनम्।
स कल्पस्तत्र मनवश्चतुर्दश द्विजोत्तमाः॥ ब्रह्म० १२४। ११-१२।
चतुर्युगसहस्रान्तमहर्यद् ब्राह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तामहोरात्रविदो जनाः।
वायु० १००।१३१; गीता, ८।१७।
ब्राह्ममेकमहः कल्पस्तावतीरात्रि रिष्यते।
चतुर्युगसहस्रं तु कल्पमाहुर्मनीषिणः॥
कूर्म०, १।५।१७-१८; विष्णुधर्म० १।७३।३६-७।

५. (अ) वायु० २१। १५-१६।

सामान्यतया एक सहस्र कल्पों का ब्रह्मा का एक वर्ष होता है[१]। ७१ चतुर्युगों का एक मन्वन्तर एवं चौदह मन्वन्तरों का काल कल्प कहा गया है[२]। एक सहस्र चतुर्युगों का एक कल्प होता है[३]। एक हजार युगाख्या (जिसमें सभी मन्वन्तर सम्मिलित हैं) के दो बार व्यतीत होने पर कल्प, निःशेष हो जाता है[४]। इस प्रकार यहाँ पर दो हजार युगाख्याओं का एक कल्प कहा गया है। पर यह कल्प ब्रह्मा का दिन और रात दोनों ज्ञात होता है, क्योंकि एक सहस्र युगाख्या=४३२०००० × १०००= ४३२००००००० वर्षों की होती है, और दो सहस्र युगाख्या ४३२०००० × २०००=८६४००००००० वर्षों के होगी, जो ब्रह्मा के दिन और रात का मान है। आगे चल कर ब्राह्म दिन का मान ४३२००००००० वर्ष

(आ) कोटीनां द्वे सहस्रे तु अष्टौ कोटिशतानि तु।
द्विषष्टिश्च तथा कोट्यो नियुतानि च सप्ततिः ॥
कल्पार्धसंख्या दिव्या वै कल्पमेवं तु कल्पयेत्।
कल्पनां वै सहस्रं तु वर्षमेकं अजस्य तु ॥
लिङ्ग० १।४।४१-४२, तु० वायु० २१।१५-६।

१. एककल्पसहस्रं तु ब्रह्मणोऽब्दः प्रकीर्तितः। वायु० २२।४; लिङ्ग० १।४।४२।

२. एषा चतुर्युगाख्यातु साधिका ह्येकसप्ततिः।
क्रमेण परिवर्ता सा मनोरन्तरमुच्यते ॥
एतच्चतुर्दशगुण कल्पमाहुस्तु तद्विदः।
ततस्तु प्रलयः कृत्स्नः स तु संप्रलयो महान् ॥
मत्स्य० १४१; ३५-३६ तु०।
चतुर्दशभिरेतैस्तु गतैर्मन्तरैर्द्विज।
सहस्रयुगपर्यन्तं कल्पो निःशेष उच्यते ॥ विष्णु० ३।२।४९।
पूर्णयुगसहस्रे तु कल्पो निःशेष उच्यते ॥ ब्रह्म० ३।६०।

३. चतुर्युगसहस्रं वै कल्पश्चैको दि्जोत्तमाः। लिङ्ग० १।४।३६।
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने ॥ विष्णु० १।३।१५।

४. सयुगाख्या सहस्रन्तु सर्वाण्येवान्तराणि वै।
अस्याः सहस्रे द्वे पूर्णे निःशेषः कल्प उच्यते ॥
एतद् ब्राह्ममहर्ज्ञेयं तस्य संख्या निबोधत ॥ वायु० १००।२१२-१३।

बताया गया है[१]। पुराणों में कल्पों के विषय में सामान्यतया इसी तरह का वर्णन प्राप्त होता है, जो कालमान के अध्याय में उल्लिखित उद्धरणों में देखा जा सकता है। कल्प के मान का उल्लेख करते हुए अलबेरूनी ने कहा है कि इसमें १५,७७९,१६,४५०,००० सावनदिन या ४,३२०,०००,००० सौर वर्ष, या ४,४५२,७७५,००० चान्द्रवर्ष होते हैं। सावनवर्ष प्रमाण से इसमें ४३८३१०१२५० वर्ष या १२०००,००० दिव्य वर्ष होते हैं। उसने आर्यभट प्रथम और पुलिश के भी मत का उल्लेख किया है, जो कल्प में १००८ चतुर्युग एवं मन्वन्तर में ७२ चतुर्युग मानते हैं, जिसमें संध्या और सध्यांश नहीं होते। इसलिए इनके मत से एक कल्प में १२०९६००० दिव्य वर्ष या ४३५४५६०००० मानव वर्ष होते हैं। आर्यभट के अनुसार एक चतुर्युग में १,५७७,९१७,५०० दिन, जो पुलिश के मत की अपेक्षा ३०० दिन कम हैं एव एक कल्प में १,५९०,८४०,००० दिन होते हैं। पुलिश और आर्यभट के अनुसार चतुर्युग और कल्प का आरम्भ आधी रात से होता है। पुलिश के ग्रन्थ लिखने के समय तक ब्रह्मा के एक नये कल्प के ८ वर्ष, ५ मास एवं चार दिन व्यतीत हो चुके थे। उन्होंने ब्रह्मा के ६०६८ कल्पों का उल्लेख किया है। चूंकि उनके मत से एक कल्प में १००८ चतुर्युग होते हैं अतः इससे गुणित करने पर ६०६८ × १००८ = ६,११६,५४४ चतुर्युग होते हैं। चार से गुणित कर युगों की संख्या २४,४६६,१७६ प्राप्त होती है। पुनश्च, एक युग में १०८०,००० वर्ष होते हैं अतः इससे गुणा करने पर २६,४२३,४७०,०८०,००० वर्ष ब्रह्मा के इस वर्तमान कल्प के पूर्व व्यतीत हो चुके हैं। कुसुमपुर के आर्यभट जो आर्यभट प्रथम के संप्रदाय के हैं, वे भी १००८ चतुर्युगों का ब्रह्मा का एक दिन मानते हैं। वे इस दिन के प्रथम अर्ध, अर्थात् ५०४ चतुर्युगों के काल को उत्सर्पिणी (जब सूर्य का उत्कर्ष होता है) एवं द्वितीय अर्ध को अवसर्पिणी (जब सूर्य नीचे उतरता है) नामक काल से अभिहित करते हैं[२]।

---

१. शतानां च सहस्राणि दशद्विगुणितानि च।
नवतिश्च सहस्राणि तथैवान्यानि यानि तु॥
कोटी शतानि चत्वारि वर्षाणि मानुषाणि तु।
द्वात्रिंशच्च तथा कोट्यः संख्याता संख्यया द्विजैः॥ वायु० १००।२३१-३२।

२. अल्बेरूनीज इण्डिया, जि० १, पृ० ३६८।

३. वही, पृ० ३७०-७१।

वायु पुराण में ब्रह्मा के बीते हुए २८ कल्पों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है[१]। उनके नाम इस प्रकार हैं—

भव, भुव, तपस्, भव, रम्भ, ऋतुकल्प, क्रतु, वह्नि, हव्यवाहन, सावित्र्य, भुव, उशिक, कुशिक, गन्धर्व, ऋषभ, षड्ज, मार्जालीय, मध्यम, वैराजक, निषाद, पंचम, मेघवाहन, चिन्तक, आकूति, विज्ञाति, मनस्, भाव और बृहत्[२]। इनके अतिरिक्त श्वेतलोहित, रक्त, पीतवासस्, सित और विश्वरूप नामक कल्पों के नाम भी पठित हैं[३]। श्वेतवाराहकल्प, जो अब चल रहा है और इसके पूर्व के पद्म नामक कल्प का अन्यत्र उल्लेख प्राप्त होता है[४]। ब्रह्मवैवर्त में ब्राह्म, वाराह, और पाद्म नामक तीन कल्पों का उल्लेख है[५]। कल्पों के नामों की कुछ भिन्न सूची मत्स्य पुराण में भी पाई जाती है, जहाँ इनकी संख्या ३१ गिनाई गई है[६]। ब्रह्माण्ड पुराण में कल्पों की संख्या ३५ बताई गई है, न न्यून न अधिक, पर यहाँ नाम निर्देश नहीं है[७]।

पर एवं परार्ध

ब्रह्मा की आयु दो परार्ध की कही गई है। प्रतिसर्ग काल के प्राप्त होने पर ब्रह्मा का उपशमन हो जाता है[८]। परार्ध की संख्या का निरूपण

---

१. अष्टाविंशतिर्ये कल्पा नामतः परिकीर्तिताः।
तेषां पुरस्ताद्वक्ष्यामि कल्पसंख्या यथाक्रमम्॥ वायु० २२।७।

२. वही, २१।२६-७४, तु० लिङ्ग० १।४।४५-४९।
द्र० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पुराण परिशीलन, पृ० २०९-२१७;
डी० आर पाटिल, कल्चरल हिस्ट्री फ्राम वायु पुराण, पृ० ६९।

३. वही, २२।९-३५, २३।१-४७।

४. वही, ७।५, ५।४९-५०, २१।११-१२, कूर्म० १।५।२६।

५. ब्रह्मवै० १।५।५।

६. मत्स्य० २९०।२-१२।

७. पंचत्रिंशत्परिमिता न न्यूना नाधिकाः स्मृताः।
तथा कल्पा युगैः सार्द्धं भवन्ति सहलक्षणैः॥ ब्रह्माण्ड० २।३१।११९।

८. परार्धद्विगुणं चापि परमायुः प्रकीर्तितम्।
एतावान् स्थितिकालस्तु अजस्येह प्रजापतेः॥
तथैव प्रतिसर्गेण ब्रह्मा समुपशाम्यति। वायु० १००।२४१-२४२।

करते हुए ब्रह्माण्ड पुराण में एक से परार्ध पर्यन्त की संख्याएँ इस प्रकार दी गई हैं—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत (दशसहस्र), नियुत (एकशतसहस्र), प्रयुत (दशशतसहस्र), कोटि (दशसहस्र अयुत), अर्बुद (दशकोटि), अब्ज (एक सौ कोटि), खर्व (एक सहस्रकोटि), निखर्व (दशकोटि सहस्र), शङ्कु (एक सहस्रकोटि), पद्म (सहस्र सहस्र कोटि), समुद्र (सहस्र सहस्र दशकोटि), अन्त्य (कोटिसहस्र नियुत), मध्य (कोटिसहस्र प्रयुत), परार्ध (कोटिसहस्र कोटि), एवं परार्ध का दुगुना पर कहा गया है[1]। परार्ध तक की यह संख्या यजुर्वेद में भी पठित है[2]।

---

१. शृणुध्वं मे परार्धस्य परिसंख्यां परस्य च ॥
एकं दशशतं चैव सहस्रं चैव संख्यया ।
विज्ञेयमासहस्रं तु सहस्राणि दशायुतम् ॥
एकं शतसहस्रं तु नियुतं प्रोच्यते बुधैः ।
तथा शतसहस्राणां दशप्रयुतमुच्यते ॥
तथा दशसहस्राणामयुतं कोटिरुच्यते ।
अर्बुदं दशकोट्यस्तु ह्यब्जं कोटिशतं विदुः ॥
सहस्रमपि कोटीनां खर्वमाहुर्मनीषिणः ।
दशकोटिसहस्राणि निखर्वमिति तं विदुः ॥
शतं कोटिसहस्राणां शङ्कुरित्यभिधीयते ।
सहस्रं तु सहस्राणां कोटीनां पद्म उच्यते ॥
सहस्राणि सहस्राणां कोटीनां दशधा पुनः ।
गुणितानि समुद्रं वै प्राहुः संख्याविदोजनाः ॥
कोटीसहस्रनियुतमन्त्यमित्यभिधीयते ॥
कोटीसहस्रप्रयुतं मध्यमित्यभिसंज्ञितम् ॥
कोटिकोटि सहस्रं तु परार्द्धं इति कीर्त्यते ।
परार्धं द्विगुणं चापि परमाहुर्मनीषिणः ॥
ब्रह्माण्ड० ४।२।९१-९९; तु० ब्रह्म० १।१२४।१-२; वायु० १०१।९३-९९।

२. इमा मे अग्नय इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके। यजु० १७।२।

कालमान-सूची

वैदिक काल	वेदाङ्गकाल	कौटिल्य २/२०/४१-४२
अहोरात्र=३० मुहूर्त	१० कला=१ नाडी	१/४ निमेष = त्रुट
१ मुहूर्त=१५ क्षिप्र	२ नाडी=मुहूर्त	२ तुट = लव
१ क्षिप्र=१५ एतर्हि	३० मुहूर्त=१ दिन = ६०३ कला	२ लव = निमेष
१ एतर्हि=१५ इदानि	५० पल=आढक	५ निमेष = काष्ठ
१ इदानि=१५ उच्छ्वास	४आढक=द्रोण	३० काष्ठा = कला
१ उच्छ्वास=१५ प्रश्वास	(ऋग्ज्योतिष १६-१७, भारतीय ज्योतिष, पृ० ११०-१)	४० कला = नाडिका
१ प्रश्वास=१५ निमेष	अथर्व ज्योतिष	२ नाडिका = मुहूर्त
वर्ष में ३६० दिन एवं ७२० अहोरात्र पठति हैं।	१२ निमेष=१ लव	१५ मुहूर्त = दिवस
युग का मान अनिश्चित है पर सम्भवतया वह पाँच वर्ष का होता था।	३० लव=कला	३० मुहूर्त=अहोरात्र
	३० कला= त्रुटि	१५ अहोरात्र = पक्ष
	३० त्रुटि=मुहूर्त	२ पक्ष=मास
	३० मुहूर्त=अहोरात्र	१२ माह=वर्ष
	३० अहोरात्र=मास	५ वर्ष = युग
	१२ मास=१ वर्ष	
	५ वर्ष = युग	

सुश्रुत ६। ५-९	जम्बूदीव पण्णत्ति १३। ५-१५	विष्णुधर्मोत्तर १।७३।१-४
१ लघु उच्चारणकाल= निमेष	समय = असंख्यातकाल	१ लघु अक्षरकाल= निमेष
१५ निमेष=काष्ठा	संख्यात = गणना के योग्य काल	२ निमेष=त्रुटि
३० काष्ठा = कला	आवली = उच्छ्वास	१० त्रुटि=प्राग
३० कला = मुहूर्त	७ उच्छ्वास = स्तोक	६ प्राण=विनाडिका
३० मुहूर्त = अहोरात्र	७ स्तोक = लव	६० नाडिका = अहोरात्र
१५ अहोरात्र = पक्ष कृष्ण एवं शुक्ल	३८½ लव = नाली	३० मुहूर्त = अहोरात्र
२ पक्ष = मास	२ नाली = मुहूर्त	दिव्यावदान-३३
१२ मास = संवत्सर	३० मुहूर्त = दिवस	शार्दूलकर्णावदान (पृ. २३७-८)
६ मास = एक अयन	३० दिवस = मास	२ निमेष = १ लव
२ अयन = संवत्सर	२ मास = ऋतु	८ लव = काष्ठा
५ संवत्सर = युग	३ ऋतु = अयन	१६ काष्ठा = कला
	२ अयन = वर्ष	३० कला=नाडिका
	५ वर्ष = युग	२ नाडी = मुहूर्त
	२ युग = १० वर्ष	३० मुहूर्त=१ दिन रात
		१६ निमेष=काष्ठा
		१६ काष्ठा=कला
		६० कला=मुहूर्त
		३० मुहूर्त=अहोरात्र
		३० अहोरात्र=मास
		१२ मास=संवत्सर

वायु पुराण ५७।५-४०	भागवत पुराण ३:११।१-३८	सूर्यसिद्धान्त १-११-१२
१५ निमेष=१ काष्ठा ३० काष्ठा=१ कला ३० कला=१ मुहूर्त ३० मुहूर्त=१ दिन-रात ३० दिन-रात=कृष्ण और शुक्ल पक्ष=पितरों का एक दिन ६ मास=अयन २ अयन=१ वर्ष=१ देव अहोरात्र ३० मानव मास=१ पितृमास ३६० मानव मास=१ पितृसंवत्सर १०० मानववर्ष ३ $\frac{१}{३}$ पितृवर्ष =३ $\frac{१}{३}$ देवमास ३६० मानववर्ष=१ दिव्यवर्ष ३०३० मानववर्ष=१ सप्तर्षिवर्ष ९०९० मानववर्ष=१ क्रौंचवत्सर	२ परमाणु=१ अणु ३ अणु=त्रसरेणु ३ त्रसरेणु=त्रुटि १०० त्रुटि=१ वेध ३ वेध=१ लव ३ लव=१ निमेष ३ निमेष=१ क्षण ५ क्षण=१ काष्ठा १५ काष्ठा=१ लघुता १५ लघु=१ नाडिका २ नाडिका=१ मुहूर्त ६-७ नाडिका=प्रहर =याम =दिनरात का चौथा भाग १५ दिन=एक पक्ष दो पक्ष=मास=पितृ दिन २ मास=ऋतु ६ मास=अयन २ अयन=वर्ष कृत+त्रेता+द्वापर+कलि=१२००० दिव्य वर्ष १००० युग=१ ब्रह्म-दिन	६ प्राण=विनाडी ६०=विनाडी=नाडी ६०=नाडी=नाक्षत्र अहोरात्र ३० अहोरात्र=मास युग, मन्वन्तर और कल्प के मान पुराणों जैसे ही हैं, जो काल गणना के विकास अध्याय में वर्णित हैं।

युगमान दिव्य वर्ष मावववर्ष कृत=४८००= १७२८००० त्रेता=३६००= १२९६००० द्वापर=२४००= ८६४००० कलि १२००= ४३२०००	ब्रह्मा का दिन जिसमें मनुष्य, देव एवं पितरों के होने का उल्लेख है। ब्रह्मा की आयु दो परार्ध की मानी गयी है जिसके बाद विश्व का लय हो जाता है।

१२०००=४३२००००	ब्रह्मा का दिन-रात=८५८८१६००००
१ मन्वन्तर=७१ चतुर्युग	मानव वर्ष
७१×१४ मन्वन्तर=१ कल्प	पर=ब्रह्मा की पूर्णायु
या १ कल्प=१००० चतुर्युग	परार्ध=ब्रह्मा की अर्धायु
=४३२००००००० मानव-वर्ष या मन्वन्तर=३०६७२००००	
१४ मन्वन्तर=४२९४०८००००	

नौ प्रकार के कालमान

ज्योतिष संहिताओं एवं सिद्धान्तग्रन्थों में मानव के व्यवहारार्थ ब्राह्म, देव, पित्र्य, प्राजापत्य, गौरव, सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र नामक नौ प्रकार के कालमान पठित हैं[1]। किन्तु व्यवहारतः सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र चार प्रकार के ही मान प्रचलित बताये गये हैं[2]। कहीं पाँच मानों के प्रयोग का भी उल्लेख है[3]। पुराणों में केवल उक्त चार मानों

१. ब्राह्मं दैवं मानुषं च पित्र्यं सौरं च सावनम्।
चान्द्रमार्क्षगुरोर्मानमिति मानानि वै नव।।
नारद सं० ३।१; तु० सूर्य सि० १४।१।

२. चतुर्भिर्व्यवहारोऽत्र सौरचान्द्रार्क्षसावनैः।
बार्हस्पत्येन षष्ट्यब्दं ज्ञेयं नान्यैस्तु नित्यशः।। सूर्यसि० १४।२।

३. एषां तु नवमानानां व्यवहारोऽत्र पञ्चभिः। नारद सं० ३।२।

का ही संकेत मिलता है[1]। भास्कराचार्य ने भी मुख्यतया इन चारों का ही संकेत किया है[2]।

ब्राह्ममान

ब्रह्मा से संबन्धित कालमान को ब्राह्ममान कहा जाता है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहा जाता है[3]।

देवमान

मानव मान से बारह मासों का एक देव दिन होता है[4]।

पित्र्यमान

तीस तिथियों का एक चान्द्रमास होता है, जो पितरों का एक दिन होता है। इसमें कृष्ण पक्ष इनका दिन भाग एवं शुक्ल पक्ष रात्रि भाग होता है[5]।

प्राजापत्यमान

मन्वन्तर व्यवस्था संबन्धी कालमान ही प्राजापत्य है, जो चारों युगों का ७१ गुना कहा गया है। इसमें दिन-रात का विभाग नहीं व्यवहृत होता[6]।

---

१. संवत्सरादयः पंच चतुर्मास (मान) विकल्पिताः।
वायु० ५०।१८३; विष्णु० २।८।७।
—भवेन् मासश्चतुर्विधः।
चान्द्रः सौरः सावनश्च नाक्षत्रश्च तथापरः॥ भविष्य० म०प० २।६।१-२।
सौरसावनचान्द्रार्क्षैर्मानैरेभिश्चतुर्विधैः। स्कन्द० ६।२७३।९।

२. मानैश्चतुर्भिर्व्यवहारवृत्तेः। सि० शि० १।३०।

३. कल्पो ब्राह्ममहं प्रोक्तम्—सूर्य सि० १।२०।
ब्राह्मं कल्पं प्रकीर्तितम्—वही, १४।२१।

४. मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते। वही, १।१३।

५. त्रिंशता तिथिभिमासश्चान्द्रः पित्र्यमहः स्मृतम्।
निशा च मास पक्षान्तौ तयोर्मध्ये विभागतः॥ वही, १४।१४।

६. मन्वन्तरव्यवस्था च प्राजापत्यमुदाहृतम्।
न तत्र द्युनिशोर्भेदम्—वही, १४।२१।

गौरवमान

मध्यमगति से एक राशि पर भोग करने में गुरु को जितना समय लगता है वह गौरववर्ष कहा जाता है[1]।

सौरमान

सूर्य द्वारा एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश-काल को एक सौरमास कहा जाता है[2]। यह सामान्यतया तीन सौ पैंसठ दिन का होता है[3]।

सावनमान

दो सूर्योदय के बीच का अन्तर सावन दिन कहलाता है। तीस दिन का एक सावन मास होता है[4]।

चान्द्रमान

शुक्ल प्रतिपद से कृष्ण अमावास्या तक चान्द्रमास होता है[5]। यह सौरमान से ग्यारह दिन कम होता है[6]। एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक चान्द्रमास होता है[7]।

नाक्षत्रमान

प्रवह नामक वायु के कारण नक्षत्रमण्डल प्रतिदिन एक प्रदक्षिणा जितनी देर में करता है, उसे नाक्षत्र दिन कहते हैं अथवा एक नक्षत्र

---

१. बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् संवत्सरं सांहितिका वदन्ति। सि० शि० १।३०।

२. संक्रान्त्या सौर उच्यते, सूर्य सि० १।१३।
एकराशौ रविर्यावत्स मासः सौर उच्यते। भविष्य० म० प० २।६।३।

३. पंचषष्ट्याधिकश्चैव दिनानां च शतैस्त्रिभिः।
भवेत्संवत्सरं सौरं—स्कन्द० ६।२७३।१०।

४. उदयादुदयं भानोः सावनं तत् प्रकीर्तितम्। सूर्य सि० १४।१८; तु०
उदयादुदयं यस्तु सावनो दिवसो रवेः। भविष्य० म० प० २।६।४,
इनोदयद्वयान्तरम्, (सि० शि०)।
त्रिंशता दिवसैर्मासः सावनः परिकीर्तितः। भविष्य० म० प० २।६।३।

५. शुक्लप्रतिपदं प्राप्य यावद्दर्शं च ऐन्दवः। भविष्य० म० प० २।६।२।

६. चान्द्रएकादशोनस्तु, स्क० ६।२७३।११।

७. दर्शावधिं चान्द्रमुशन्ति मासम्—रत्नमाला १।२०, वायु० ५०।१८७-८८,
द्र० हि० धर्म०, जि० ५, भाग १, पृ० ६५७।

क्षितिज पर उदित होकर जितनी देर में दूसरे दिन पुनः उदित होता है उसे एक नाक्षत्रदिन कहते हैं। साठ नाड़ी का एक नाक्षत्र अहोरात्र कहा गया है[१]। संहितोक्त मनुष्यमान को श्री भास्कराचार्य ने विमिश्रमान कहा है, क्योंकि मनुष्यों में चार प्रकार के सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र मानों का विभिन्न कार्यों में व्यवहार होता है[२]। दिन, मास, एवं वर्षों के अधिपति का विचार, ग्रहों की मध्यमा भुक्ति आदि का साधन[३] अतिभाग व्यवस्था, प्रायश्चित क्रिया, मन्त्रोपासना कार्य, शिशु का अन्न-प्राशन, राजा द्वारा कर-ग्रहण, यज्ञादि दिनसंख्या की गणना[४] वृक्षों की फलनिष्पति, सस्यों की निष्पति, अग्निष्टोम आदि यज्ञों का निर्णय, उत्साह एवं विवाह[५] आदि सावन मान से निर्णीत होते हैं। इस प्रकार सौर मान से दिन-रात्रि का मान, अयन, विषुव, एवं संक्रान्ति का पुण्य-काल[६], शीतातप, एवं वृष्टि[७] का विचार होता है। चान्द्रमान से तिथि,

---

१. भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते। सूर्य सि० १४।१५।
नाडी षष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम्। वही, १।१२।

२. ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानं मानैश्चतुर्भिर्व्यवहार वृत्तेः। सि० शि० १।३०।

३. सावनादि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः।
सूतकादि परिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा॥
मध्यमा ग्रहभुक्तिस्तु सावनेनैव गृह्यते॥ सूर्य सि० १४।१८।१९।

४. अतिभागव्यवस्थायां प्रायश्चित्तक्रियासु च।
मन्त्रोपासनकार्ये च अन्नस्य प्राशने शिशोः॥
करस्य ग्रहणे राज्ञो व्यवहारेषु साधु च।
यज्ञेषु दिनसंख्यायां ग्राह्यो मासस्तु सावनः॥ भविष्य म० प० २।६।८-९।

५. वृक्षाणां फलनिष्पत्तिः सस्यानां च तथा परा।
अग्निष्टोमादयो यज्ञा वर्तन्ते ये धरातले॥
उत्साहाश्च विवाहाश्च सावनेन भवन्ति च॥
स्कन्द० ६।२७३।१२-१३।

६. सौरेण द्युनिशोर्भेदं षड्शीतिमुखानि च।
अयनं विषुवच्चैवं संक्रान्तेः पुण्यकालता॥ सूर्य सि० १४।३।

७. शीतातपौ तथा वृष्टिः सौरमानेन जायते। स्कन्द० ६।२७३।११।

करण, उद्वाह, क्षौर-क्रिया, व्रतोपवास एवं यात्रा[१] तथा कुसीद[२] इत्यादि वृत्तियों का व्यवहार, श्राद्ध-तिथियों, व्रत, वार्षिकइष्टियों, यज्ञ-काल, विधिविचार, सूतकादि-निर्णय, आदि[३] का निर्णय किया जाता है। नाक्षत्र मान से ग्रहादिकों का साधन[४], कराधान[५] आदि कर्म करना चाहिए। इसका व्यवहार सर्वसाधारण में कम होता है। मानों के सम्बन्ध में संक्षेप में भास्कराचार्य ने कहा है कि वर्ष, अयन, ऋतु, युग आदि का साधन सौर से, मास एवं तिथियों का साधन चान्द्रमान से; कृच्छ्र, सूतक, चिकित्सा और वासर आदि का विचार सावन मान से और दिनों का घटिकादिक मान नाक्षत्र मान से करना चाहिए[६]।

इस प्रकार उक्त नव प्रकार के मानों में भी मुख्यतया सौर, सावन, चान्द्र और नाक्षत्र इन चार प्रकार के मानों का ही आरम्भ में व्यवहार मिलता है। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी चार प्रकार के मानों का संकेत मिलता है, जहाँ कहा गया है कि पाँच वर्षों के एक युग में ६१ सावन महीने, ६२ चान्द्र मास एवं ६७ नाक्षत्र मास होते हैं। इन चार मानों का भिन्न-भिन्न कर्मों के लिए प्रयोग ज्योतिष संहिताओं, धर्मशास्त्र एवं पुराण आदि ग्रन्थों में उल्लिखित हुआ है। किन्तु व्यवहार में विशेषतः सावन मास का ही प्रयोग होता रहा है। कौटिल्य ने भी इन मानों का उल्लेख किया है। काम करने वाले भृत्यों के लिए ३० दिन-रात का मास होता है।

---

१. तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा।
व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ॥ सूर्य सि० १४।१३।

२. कुसीदाद्याश्च ये केचिद् व्यवहाराश्च वृत्तिजाः।
अधिमास प्रयुक्तेन ते स्युः चान्द्रेण निर्मिताः ॥ स्कन्द० ६।२७३।१३।

३. चान्द्रस्तु पार्वणे ग्राह्यो वार्षिकेष्वष्टकासु च।
श्राद्धेषु तिथिकार्येषु तिथ्युक्तेषु व्रतेषु च ॥ भविष्य म० प० २।६।११।

४. नाक्षत्रेण तु मानेन सिध्यन्ते ग्रहचारिकाः। स्कन्द० ६।२७३।१४;
तु० घटिकादिकमार्क्षमानात्। सि० शि० १।३१।

५. नाक्षत्रः सोमपादीनामार्यभाग विचारणे।
करग्रहविधौ राज्ञां नायं सर्वजनाकृतिः ॥ भविष्य म० प० २।६।१२।

६. वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्र सौरान् मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशु मानात्।
यत्कृच्छ्रसूतकचिकित्सितवासराद्यं तत्सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात् ॥
सि० शि० १।३१।

इससे सौर मास आधा दिन बड़ा अर्थात् ३०½ दिन का होता है। इससे अर्ध न्यून, अर्थात् २९½ दिन का चान्द्रमास, २७ दिन का नाक्षत्रमास एवं ३२ दिन का अधिमास (या ३२ महीनों में आता है) होता हैं। अश्ववाहों का मास ३५ दिन एवं हस्तिपालकों का मास ४० दिन का होता है[1]। इससे भी पूर्व लाट्यायन आदि के साम श्रौतसूत्रों में संवत्सरों के पाँच वर्गों का जो वर्णन है वह भी इन्हीं मानों से संबन्धित ज्ञात होता है। इस प्रकार ई० पू० ३-४ शताब्दी से बहुत पहले ही इन मानों की पूर्ण प्रतिष्ठा समाज में हो चुकी थी, ऐसा ज्ञात होता है[2]।

—❀—

---

१. त्रिंशदहोरात्रः प्रकर्ममासः। सार्धसौरः। अर्धन्यूनश्चान्द्रमासः। सप्तविंशतिर्नक्षत्रमासः। द्वात्रिंशद्मलमासः। पंचत्रिंशदश्ववाहायाः। चत्वारिंशद्धस्तिवाहायाः। अर्थशास्त्र, २।२००।

२. विशेष द्रष्टव्य—हि० धर्म०, जि० ५, भा० १, पृ० ६५६-६५९।

अध्याय—३

कालगणना—उद्‌भव एवं विकास

मानव-समाज की उपयोगिता के दृष्टिकोण से काल के निर्बाध एवं अखण्ड स्वरूप में गणना के लघु एवं बृहद् मान कब स्वीकार किये गये ? इनकी मानव मस्तिष्क में उद्‌भावना कैसे हुई ? उसके प्रारम्भिक दिनों में इस गणना के प्रयोग के मूलभूत साधन क्या थे ? इत्यादि प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। कालगणना के इस समुचित विकास को जानने के लिए हम इसके इतिहास को संप्रति भारतीय इतिहास में स्वीकृत निम्न क्रमिक कालस्तरों में देखने का प्रयास करेगें।

१—प्रागितिहास काल (ई० पू० ३००० से पहले)

२—सिन्धु—सभ्यता काल (ई० पू० ३००० से ई० पू० १७५० के मध्य)

३—वैदिक काल (संहिता से वेदाङ्ग काल तक) (१५०० ई० पू० से ८०० ई०पू०)

४—महाकाव्य, स्मृति एवं पौराणिक काल (८०० ई० पू० से ५०० ई० पू०)

५—ज्योतिष सिद्धान्तकाल (ई० पू० ५०० से ५५० ई० तक)[1]

---

१. काल-क्रम का यह स्तर वर्तमान ऐतिहासिक ग्रन्थों में निरूपित हुआ है। इन काल स्तरों के लिये आजकल लगभग ये ही तिथियाँ निर्धारित की गई हैं किन्तु ये भी अनुमानतः हो निश्चित की गई हैं। भारतीय इतिहास की तिथि-क्रम व्यवस्था अभी सुस्थिर नहीं समझी जा सकती क्योंकि इसकी सीमाएँ शोधों के नये प्रकाश में बदलती रहती हैं। बहुत से भारतीय प्रौढ विचारक वैदिक सभ्यता को ई०पू० ६००० से भी पहले का मानते हैं। अतः कालनिर्धारण की समस्या अब भी सुलझी हुई नहीं है किन्तु व्यवहार के लिए अधिकांशतः विद्वानों द्वारा मान्य भारतीय इतिहास की काल सीमा यही है। तथ्यों को मोटे तौर पर समझने के लिये इसका उपयोग होना चाहिए।

प्रागितिहासकाल—सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में व्यक्ति काल का उपयोग अपनी आवश्यकता के अनुरूप कैसे करता था, इसका तत्कालीन ऐतिहासिक अवस्था एवं उसकी परिस्थितियों से अनुमान मात्र लगाया जा सकता है, क्योंकि उस समय का कोई सुनिश्चित विवरण हमारे समक्ष नहीं है। आदि मानव द्वारा परित्यक्त उसके व्यावहारिक उपयोग की प्राप्त सामग्रियों के आधार पर हम उसके इतिहास का अध्ययन उपस्थित करते हैं, किन्तु काल गणना संम्वन्धी इस प्रकार की किसी स्थूल सामग्री का उपलब्ध होना दुष्कर है, जिसके आधार पर उसका अध्ययन हो सके। इस बात की सहज प्रतीति होती है कि सभ्यता की क्रमिक सुव्यवस्था के साथ-साथ काल के अवयवों की कल्पना मानव समाज में आयी होगी। यह परिकल्पना तत्कालीन प्राकृतिक उपकरणों को देखकर उद्भूत हुई होगी। आकाश के खुले वातावरण में प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चन्द्र, तारे आदि की विलक्षणता देखकर उनके प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। नियत काल पर सूर्य का प्रतिदिन उदय और अस्त, चन्द्रमा का निश्चित समय से घटना-बढ़ना एवं पन्द्रह दिन के बाद एक दिन पूर्ण तिरोहित हो जना एवं फिर क्रम से बढ़ते हुए क्षीणता से पूर्णता को प्राप्त हो जाना आदि वातों ने उसे प्रारम्भ में बहुत ही प्रभावित किया होगा। इस प्रकार प्रथम कालावधि का ज्ञान उसे दिन-रात के रूप में हुआ होगा, जिसका अन्तर पूर्ण ज्ञात था, क्योंकि दिन में वह क्रियाशील रहता था एवं रात्रि में उसकी संपूर्ण क्रिया निस्तब्ध रहती थी। काल संबन्धी यह उसकी पहली जानकारी थी। रात-दिन के पश्चात् कालगणना को बढ़ाने में चन्द्रमा वहुत सहायक हुआ होगा, क्योंकि प्रतिदिन बदलती हुई उसकी कलाएँ सहज में ही मानव के ध्यान में आयी होगीं। इस प्रकार महीने में १५ दिन तक उसका शुक्ल रहना एवं १५ दिन तक कृष्ण रहना यह दूसरा काल-मान का साधन बना होगा जिससे समाज में कृष्ण और शुक्ल इन दो पक्षों की परिकल्पना प्रचलित हुयी। चन्द्रमा की कलाओं का संबन्ध स्त्रियों के मासिक धर्म से भी था। इससे उसका बड़ा महत्व था क्योंकि इससे समय का एक निश्चित वोध होता था। चन्द्रमा से ही मास की कल्पना प्रायः सर्वत्र प्रारम्भिक समाज में प्राप्त होती हैं[1]। विश्व में आज

---

१. आवर ओरियण्टल हेरिटेज–विलडुरेण्ट, दी स्टोरी आफ सिविलाइजेशन, पृ० ८१।

भी बहुत से देशों में चान्द्र-गणना ही प्रचलित है। मिस्र के लोग भी चन्द्रमा से ही मास का अङ्कन करते थे[१]। दूसरे प्राकृतिक उपकरणों में मनुष्य को काल बोध कराने वाले साधन ऋतुओं का परिवर्तन एवं इससे संबद्ध वृक्ष आदि से पतझड़ का समय रहा होगा। नदियों में निश्चित कालावधि में बाढ़ आने, पशुओं का नियत काल में बच्चा देने आदि बातों से भी मनुष्य को एक काल परिमाण का ज्ञान हुआ होगा, पर ये साधन उतने नियत नहीं रहे होगें क्योंकि इनका प्रत्यावर्तन का समय अनिश्चित जैसा रहा होगा। वर्ष आदि की कल्पना में वर्षा तथा अन्य ऋतुओं का निश्चित समय में लौटना आदि बातें बहुत सहायक सिद्ध हुई होगीं। सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों में सहस्रों वर्ष तक मानव काल की इन छोटी इकाईयों, अर्थात् दिन-रात, पक्ष, मास, ऋतु एवं वर्ष से आगे का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका होगा। किन्तु इनमें भी ऋतु एवं वर्ष आदि का वास्तविक मान उसे तब तक सुस्पष्ट नहीं हुआ होगा जब तक समाज में कृषिसस्था का पूर्ण विकास न हो गया होगा[२]। कृषि में ही ऋतुओं का विशेष उपयोग है। इससे उनके पुन: लौटने का काल कृषि क्षेत्र के लिये महत्त्वपूर्ण बात रही है[३]। आज भी यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि समाज में वे लोग जिनका जीवन खेती पर आधारित नहीं है एवं जो शिकार या अन्य साधनों से अपना जीवन यापन करतें हैं, उनको समय का उचित बोध नहीं रहता। वे दिन, रात, मास या वर्ष आदि से अतिरिक्त काल का बोध नहीं रखते एवं गणना प्रणाली में पाँच या एक से पाँच वर्ष से अधिक का व्यवहार नहीं करते। यह बात केवल कृषक-प्रधान देशों में ही रही है कि वे ऋतुओं के आगमन-काल (१२ या १३ महीनों) की उचित पहचान करते हैं। किन्तु सौर वर्ष के परिज्ञान में बहुत दिनों का समय लगा होगा, क्योंकि चन्द्रमा के समान काल-ज्ञान का सहज साधन सूर्य नहीं था। यद्यपि भारतीय शास्त्रों ने सूर्य को ही काल-ज्ञान का मुख्य साधन बताया गया है पर प्रारम्भिक समाज में सूर्य के माध्यम से काल के परिवर्तित स्वरूप का पता लगाया जाना दुष्कर रहा होगा। हजारों वर्षो के नित्य-नित्य निरीक्षणों के बाद व्यक्ति को यह ज्ञात हुआ होगा कि सूर्य

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग-४, पृ० ६११।

२. प्रिन्सेप, यूजफुल टेबुल्स, पृ० १३२।

३. ओ० स्क्रेडर, प्रीहिस्टारिक एण्टीक्वीटीज आफ दी आर्यन पीपुल, पृ० ३००।

अपने निश्चित उदयस्थान से कुछ काल तक उत्तर एवं कुछ काल तक दक्षिण की ओर बढ़ता है। इस विलक्षणता के वास्तविक ज्ञान के पश्चात् ही उसे ऋतुओं एवं उत्तरायण तथा दक्षिणायन आदि स्थितियों का ज्ञान हुआ। चन्द्रगणना पर आधारित देशों में आज भी गणना ठीक से नहीं हो पाती और उनके त्यौहार बदलते रहते हैं। चान्द्र-गणना मुस्लिम देशों में प्रचलित है जहाँ उनका मुहर्रम का त्यौहार प्रत्येक साल भिन्न-भिन्न महीनों में बदलता रहता है। आकाशस्थ चन्द्र एवं सूर्य के अतिरिक्त अन्य तारक-पुंजों का परिज्ञान होने पर उनमें मानव की देवत्व-बुद्धि आई। विशेषतः चन्द्र एवं सूर्य ग्रहण के अवसर पर इस विलक्षण घटना को देख कर उसे आश्चर्य हुआ होगा एवं इस प्राकृतिक विलक्षणता के प्रति उसमें भय एवं आदर का भाव उत्पन्न हुआ होगा। इससे वह ग्रहों का पूजक बन गया। सभ्यता के प्रारम्भ में चन्द्र एवं सूर्य के द्वारा उसके जीवन की दैनिक क्रिया प्रभावित हुयी जिसके कारण उनके प्रति उनमें प्रारम्भ से ही आदर भावना दृढ़ हो गयी इस प्रकार प्राकृतिक साधनों में चन्द्रमा और सूर्य कालगणना के प्रमुख स्रोत बन गए। इसके अनन्तर उसको नक्षत्रों एव ग्रहों का ज्ञान हुआ।

अन्य देशों में कालगणना के विकास में मूलभूत कारण चाहे जो भी तत्त्व रहे हों, किन्तु भारतवर्ष में इसके विकास का जो क्रम मिलता है उसमें धार्मिक भावना की ही प्रधानता रही है. जैसा हम वैदिक काल का वर्णन करते समय देखेंगें। धर्म ने व्यक्ति के जीवन को उसके आरम्भिक काल से ही प्रभावित किया है। अतः धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के लिए अपेक्षित उचित काल-ज्ञान का भी कालगणना के विकास में विशिष्ट योगदान रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि मानव अपनी प्रारम्भिक अवस्था में प्राकृतिक-उपकरणों एवं पार्थिव परिवर्तनों के सहारे काल की स्थूल गति से उद्भूत कालमानों जैसे दिन, रात, पक्ष, मास एवं अधिक से अधिक वर्ष के स्तर तक पहुँचा था, जिसका आगे चल कर और अधिक विस्तार हुआ।

सिंधु-सभ्यता काल-प्रागवस्था के पश्चात् भारत की प्राचीनतम सभ्यता के जिस विकसित एवं सुव्यवस्थित स्वरूप का पता चलता है, वह सिन्धु सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध है; जिसे ताम्रयुगीन सभ्यता भी कहते

है, जिसके ध्वंसावशेष हड़प्पा और मोहेन्जोदारो (पाकिस्तान में), कालीबंगा एवं लोथल (भारत) आदि स्थानों में मिले हैं। इस सभ्यता के प्राप्त अवशेषों से इसके बहुत से पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है, पर अभीतक काल-ज्ञान संबन्धी कोई उपकरण या उल्लेख यहाँ से प्राप्त नहीं हुआ है। यद्यपि यहाँ से बहुत सी मुहरें प्राप्त हुयी हैं किन्तु इन पर अंकित लिपि-चिह्नों को ठीक से अभी तक न पढ़े जाने के कारण इसके संबन्ध में बहुत सी बातें अज्ञात हैं।[1] भारतीय पुरातत्त्व विभाग के एस० आर० राव ने उसे पढ़ने का पूर्ण-प्रयास किया है। उन्होंने इन मुहरों पर अंकित शासकों एवं प्रमुखों के नाम जैसे बक, तारक, अष्टक, पंचक, लव, गर, आप, त्रिक, अप्त, मन, दक्स, (जिन्हें वेदों में देव, ऋषि और असुर कहा गया है), देश नाम (मल्लह = मेलुहह, सप्तआप = सप्त सिन्धु; यज्ञनाम जैसे (एकाह, पंचाह, सप्ताह) एवं देवत्व जैसे क, ल, ह, त इत्यादि नामों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि हड़प्पा के लोग वैदिक आर्यों के उद्भावक रहे हैं।[2] किन्तु अभी तक इस विचारधारा को विद्वानों का पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं है। श्री के० एन० शास्त्री आदि विद्वान् अब भी वैदिक-सभ्यता से सिन्धु-सभ्यता को संबद्ध मानते हैं,।[3] इस पर अथर्ववेद में उल्लिखित बहुत सी बातों का स्पष्ट प्रभाव है। सिन्धु-सभ्यता और वैदिक-सभ्यता के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना कठिन है फिर भी ये दोनों सभ्यताएँ एक दूसरे के निकट ज्ञात पड़ती हैं। इस युग की काल-विज्ञान संबन्धो किसी भी मान्यता का संकेत अब तक कहीं भी प्राप्त न होने के कारण इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमानतः सीरिया और बेबीलोनिया की सभ्यताओं के समकालीन होने एवं व्यापार आदि में कुशलता के कारण इनके द्वारा भी तिथिक्रम के प्रयोग का अनुमान होता है जो सिरिया और मिस्र की सभ्यताओं में पायी

---

१. डा० बुद्ध प्रकाश—ऋग्वेद एण्ड इण्डस वैली सिविलिजेशन, भूमिका, पृ० XLIII

२. लोथल एण्ड दी इण्डस सिविलिजेशन, पृ० १३३।

३. न्यू लाइट आन दी इण्डस सिविलिजेशन, भूमिका पृ० १–२; भाग–२, पृ० १४२।

द्रष्टव्य-बुद्ध प्रकाश-ऋग्वेद एण्ड दी इण्डस वैली सिविलिजेशन, पृ० १४०-१४६।

जाने वाली तिथियों के विवरण के अनुरूप ही रहा होगा। वहाँ की गणना में चान्द्र-मास का व्यवहार था। उन्हें चान्द्र-सौर वर्ष के समीकरण का ठीक ज्ञान नहीं था। किन्तु मिस्र वाले सौर वर्ष को जानते थे, जो ३६० दिन के वाद ५ दिन और जोड़कर वर्ष की खुशियाँ मनाते थे[१]।

वैदिक काल[२]–(संहिता से वेदाङ्ग काल तक)।

विश्व–साहित्य के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं, जिनमें अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे मानव-समाज में प्रचलित मन्त्रों का संग्रह किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद नामक चारों संहिता ग्रन्थों, ऐतरेय, शांखायन, शतपथ, गोपथ, तैत्तिरीय एवं षड्विंश आदि ब्राह्मण ग्रन्थों, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थों, ईश, केन, कठ, छान्दोग्य, प्रश्न, माण्डुक्य एवं मुण्डक, आदि उपनिषद् ग्रन्थों तथा शांखायन, आपस्तम्ब, गौतम, पारस्कर, बौधायन आदि श्रौत एवं गृह्यसूत्र ग्रन्थों वाले विशाल वैदिक साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन समाज, धर्म, दर्शन एवं इतिहास आदि विषयों का सुसंबद्ध विवरण प्राप्त होता है। संहिताओं में सर्व प्राचीन ऋग्वेद है, जिसमें धार्मिक एवं विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का संग्रह है। यद्यपि उक्त ग्रन्थों का वर्ण्य-विषय प्रधानतया धार्मिक है फिर भी उनमें प्रसंगानुसार विविध विषयों का निरूपण हुआ है। अतः इनमें आये हुए कालगणना सम्बन्धी उद्धरणों का बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि यहीं से कालगणना सम्बन्धी सुनिश्चित उल्लेख प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

वैदिक समाज यज्ञ-प्रधान था। यज्ञों के सम्पादन में उचित काल-ज्ञान अपेक्षित था। यज्ञ निश्चित काल में सम्पादित होते थे। उनके लिये शुभ मुहूर्तों का आनयन, अशुभ मुहूर्तों के परित्याग, वर्ष एवं युग के पर्वों की संख्या, महीनों के पर्व, दर्श और पौर्णमास (अमावास्या, पौर्णमासी) आदि का काल ज्ञान अपेक्षित था, जो सूर्य और चन्द्रमा की विशिष्ट गतियों को स्पष्ट जाने विना संभव नहीं था। इसीलिए इस विशिष्ट विज्ञान को जानने के लिए ज्योतिष नामक एक अलग वेदांग की

---

१. मेसोपोटामिया, दी वेवीलोनियन एण्ड असीरियन सिविलिनेशन, पृ० २८२-८३, ३५३।

२. ई०पू० ६०००-१५०० के बीच।

ही आवश्यकता हुई। कालगणना की इन सूक्ष्म बातों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचन "वेदांगज्योतिष" नामक ग्रन्थ में हुआ है, जहाँ यज्ञ-काल की सिद्धि के लिये इस ग्रन्थ के निर्माण की बात कही गई है। वेदों की उत्पत्ति यज्ञार्थ हुई है एवं यज्ञ कालाधीन हैं। इसलिए जो ज्योतिष जानता है वही यज्ञ को जानता है ऐसा कहा गया है।[1] इसीलिए वेद और यज्ञ दोनों की रक्षा की बात कही गई है जिनके अभाव में सम्पूर्ण-विनाश की संभावना व्यक्त की गई है।[2]

वायु पुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि काल के अभाव में निगम (वेद), दीक्षा एवं आह्निक आदि सब कर्मों का लोप हो जायगा।[3]

वैदिक काल-गणना के स्वरूप को समझने के लिए तत्कालीन यज्ञीय पारिभाषिक शब्दावली के रहस्य को समझना आवश्यक है। इसके लिए हमें वैदिक यज्ञों (श्रौत एवं गृह्य) के विविध प्रकारों जैसे अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्टोम, अप्तोर्याम, एवं अतिरात्र आदि का ज्ञान आवश्यक है। साथ ही यह जानना भी अपेक्षित है कि आर्य लोग इन यज्ञों का सम्पादन कब और कितने अन्तर पर करते थे? इस अन्तर को मापने के लिए उनकी काल की सीमाएँ क्या थीं? उनकी युग-व्यवस्था कैसी थी? चान्द्र और सौर वर्षों का समीकरण वे किस प्रकार करते थे? बीते हुए वर्षों का लेखा-जोखा वे किस रूप में रखते थे? इत्यादि। इन बातों के ज्ञान के बिना वैदिक काल-गणना के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। वेदों के मध्यकालीन भाष्यकारों के कालमान और उनकी यज्ञीय

---

१. ज्योतिषामयनं पुण्यं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ।
संमतं ब्राह्मणेन्द्राणां यज्ञकालार्थ सिद्धये ॥
वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः ।
यजुर्वेद ज्यो० श्लोक २-३ ।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥
वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाः प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण । सि० शि० म०।९ ।

२. वेदनाशमनुप्राप्ते यज्ञो नाशं गमिष्यति ।
यज्ञे नष्टे देवनाशस्ततः सर्वं प्रणश्यति ॥ वायु० ६०।६ ।

३. कालादृते न निगमो न दीक्षा नाह्निकक्रमः ॥ वायु० ५३।३९;
लिंग० ६०।१२ ।

मान्यताएँ ज्योतिष सिद्धान्त-काल में परिवर्धित युग-व्यवस्था से प्रभावित थीं अतः सायण आदि व्याख्याकार भी काल-गणना के वैदिक रहस्यों की उचित व्याख्या में पूर्णतः सफल नहीं हुवे हैं एवं बाद के व्याख्याकार तो बिल्कुल ही असफल रहे हैं, जो यज्ञों के धार्मिक कृत्यों का ही पल्लवन करते रहे हैं।[1] यज्ञ-विद्या के पीछे निहित जो काल-विद्या का सम्बन्ध था वह धीरे-धीरे समाज से विलुप्त होता गया एवं यज्ञ धार्मिक आचार के प्रतिनिधि मात्र बन कर रह गये। उसके स्थूल प्रतीक समाज में किसी प्रकार बचे रहे, जो धार्मिकता के बन्धन में आज भी जकड़े हुए हैं। यज्ञ का व्यष्टि और समष्टि दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह हम सभी जानते हैं कि सृष्टि के पूर्ण नियामक भगवान् सूर्य[2] हैं एवं उस आधिदैविक सत्ता से सम्बन्ध जोड़ने वाली यह यज्ञ-विद्या ही है, जो काल की महती भूमिका पर प्रतिष्ठित है, जिसके मुख्य दो तत्त्व हैं, सूर्य और चन्द्र। काल-विज्ञान की दृष्टि से चन्द्र-गति ने अहोरात्र, अर्धमास और मास को जन्म दिया और सौरगति ने ऋतु और संवत्सरों को।[3] वस्तुतः सूर्य और चन्द्रमा अग्नि और सोम के प्रतीक हैं, जिन्हें विज्ञान की भाषा में रस और बल कहते हैं। इन्हीं दोनों के सम्मिश्रण से यज्ञ का सम्पादन होता है। वेद-विद्या की दृष्टिसे यज्ञ-विद्या सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है जिसे ब्रह्मचक्र एवं संवत्सर-चक्र भी कहते हैं। प्रत्येक बीज काल की जितनी अवधि में पुनः बीज तक पहुँच पाता है वही उसका संवत्सर-काल है। प्रजापति की सृष्टि में समस्त प्राणतत्त्व या जीवन संवत्सर-चक्र से नियन्त्रित है, जिसके चक्रात्मक और यज्ञात्मक दो रूप मिलते हैं।[4] विचारपूर्वक देखा जाय

---

१. गवां अयन, भूमिका, पृष्ठ ६।

डूप्स दी वैदिक सायकिल आफ इक्लिप्सेज, भूमिका, पृ० ६-७।

२. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० १।११५।१;

तु० आदित्यमूलमखिलं त्रिलोकं नात्र संशयः। वायु० ५३।३४; तु० लिंग० १।६०।५।

सूर्य एव त्रिलोकेशो मूलं परमदैवतम्। लिंग० १।६०।८;

तु० वायु० ५३।३६।

३. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परंपरा; पृ० २७।

४. गिरिधर शर्मा, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० ११-१२।

तो कालतत्त्व के मुख्य नियामक भगवान् सूर्य ही हैं।[1] इन्हीं को सभी नक्षत्रों एवं ग्रहों की प्रतिष्ठा कहा गया है।[2]

वैदिक यज्ञ दर्श और पौर्णमास में किए जाते थे, जिन्हें वैदिक भाषा में पर्व कहा जाता है। ये ही अमावास्या एवं पूर्णिमा के नाम से जाने जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की वास्तविक गति का ज्ञान हुए विना वर्ष में पर्वों एवं उनका उचित काल-ज्ञान नहीं हो सकता था अतः इनके ज्ञान के लिए प्रयास हुआ, जिसका विज्ञान वैदिक काल में प्रतिष्ठित था। वैदिक संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में तो क्रिया रूप में इनका उल्लेख हुआ है पर इसके पीछे छिपे हुए वैज्ञानिक सत्य एवं विकास का संकेत ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ वेदांग ज्योतिष में मिलता है। अग्रिम पृष्ठों में हम वैदिक-कालीन स्वीकृत कालमानों एवं परिभाषाओं का अध्ययन प्रस्तुव करेंगे। यद्यपि वैदिक संहिताओं या ब्राह्मण ग्रन्थों में काल-गणना के लिए प्रयुक्त किसी विशेष संवत्सर-पद्धति का विवरण प्राप्त नहीं होता पर कालमान के लिए स्वीकृत काल की विभिन्न इकाइयों का प्रसंगागत वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है, जिनके संग्रह से तत्कालीन एक सुनिश्चित गणना के प्रचलित होने का संकेत मिलता है। गणना सम्बन्धी यह विशेष विधि संहिताओं में कम, ब्राह्मण ग्रन्थों में क्वचित् विशेष, क्वचित् न्यून पर संहिताओं की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित रूप में मिलती है। सूत्र ग्रन्थों मं, विशेष कर सामवेद के लाट्यायन और निदान सूत्र में यह कालपद्धति पूर्ण रूपेण वर्णित है। इन वैदिक ग्रन्थों से ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि उस काल में किस प्रकार से वर्ष भर की तिथियों का हिसाब लोग यज्ञीय अनुष्ठानों के माध्यम से सुरक्षित रखते थे। 'गवां-अयन' नामक एक विशेष प्रकार की संवत्सर-व्यवस्था ही थी, जिससे यज्ञीय-तिथि-क्रम को व्यवस्थित किया जाता था। इसके अतिरिक्त भी विशेष प्रकार के यज्ञ होते थे, जिनके सम्पादन का अलग-अलग विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में

---

१. सूर्यो योनिः कालस्य, मै० उ० ६।१४।
तदादित्यादृते ह्येषा कालसंख्या न विद्यते। लिंग० १।६०।११।
दिवाकरः स्मृतस्तस्मात् कालकृद्विभुरीश्वरः।
चतुर्विधानां भूतानां प्रवर्तकनिवर्तकः॥ वही, १।६१।५६-५७।

२. नक्षत्रग्रहसोमानां प्रतिष्ठा योनिरेव च।
चन्द्रऋक्षग्रहाः सर्वे विज्ञेयाः सूर्यसंभवाः॥ वही, १।५९।४३-४४।

मिलता है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसंग में, तत्कालीन काल-गणना एवं संवत्सर-व्यवस्था के अध्ययन के लिए काल की सूक्ष्म और स्थूल इकाइयों जैसे अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर एवं युग आदि सम्बन्धी उद्धरणों के आधार पर एक रूपरेखा तैयार की गई है, जिससे यह बात सुस्पष्ट हो जायगी कि काल गणना किस प्रकार अपने धार्मिक परिवेश में स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ती जारही थी एवं वैदिक कालीन मानव ज्योतिष के ज्ञान में कितना आगे बढ़ा हुआ था।

अहोरात्र—दिन और रात दोनों के संयुक्त बोध के लिए प्रयुक्त एक नियमित व्याहृति अहोरात्र है, जो काल की सूक्ष्म एवं स्थूल इकाइयों के मध्य प्रतिष्ठित है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में आया है, जहाँ प्रजापति द्वारा अहोरात्र व्यवस्था को प्रतिष्ठित किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[१] अथर्ववेद एवं वाजसनेयि संहिता में भी उसका प्रयोग हुआ है।[२] प्रजापति ने अतिरात्र को देखा और उसका आहरण किया। इससे अहोरात्र को उत्पन्न किया।[३] अहोरात्र को मेध्य अश्व का लोम कहा गया है।[४] अहोरात्र को प्रजापति कहा गया है।[५] इस अहोरात्र की प्रतिष्ठा सूर्य है।[६] सूर्य ही अहोरात्र को उत्पन्न करता है।[७] अहोरात्र संवत्सर रथ के दो चक्र कहे गये हैं।[८] इन्हीं के नित्य प्रवर्तन से संवत्सर

---

१. अहोरात्राणि व्यदधत्, ऋ० १०।१९०।२।

२. अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गम्, अथर्व० १३।३।८।
अहोरात्राणि मरुतः, वा० सं० २३।४१।

३. स (प्रजापतिः) एतमतिरात्रमपश्यत् तमाहरत्तेनाहोरात्रे प्रजानयत्।
ताण्ड्य ब्रा० ४।१।१४।

४. अहोरात्रे वा अश्वस्य मेध्यस्य लोमानि, तै० ब्रा० ३।९।२३।१।

५. अहोरात्रे वै कृत्स्नः प्रजापतिः, जै०ब्रा० २।२३८।

६. आदित्योऽसि दिविश्रितः अहोरात्रयोः प्रतिष्ठा युष्मासु। तै० ब्रा० ३।११।१।

७. असौ वा आदित्यः संहितः, एष हि अहोरात्रे संदधाति,
श० ब्रा० ९।४।१।८, ९।५।१।२९;
तु० अहोरात्रव्यवस्थानकारणं स प्रजापतिः। कूर्म० १।४२।२५;
अहोरात्रव्यवस्थानकारणं भगवान् रविः। विष्णु० २।८।१२।

८. एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे ताभ्यामेव संवत्सरमेति।
ऐ० ब्रा०५।३०।

का निर्माण होता है।[1] वायु पुराण में इसे एक ही चक्र मानकर सूर्य को एक चक्र वाला कहा गया है[2]।

दिवसविभाग

वैदिक ग्रन्थों में दिवस के कई प्रकार के विभाग प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में उगता हुआ सूर्य (उदयन् सूर्यः), प्रातः काल, संगव, (गायों का एक साथ आना), मध्याह्न (मध्य दिन), अपराह्ण और सूर्यास्त आदि के रूप में दिन का विभाजन मिलता है[3]। मैत्रायणी संहिता में यह क्रम उषस्, संगव, मध्यं दिन और अपराह्ण के रूप में मिलता है[4]। 'अपिशर्वर' ऋ० ३।९।७) उस समय को कहा गया है, जब प्रातः काल अभी अन्धकार समाप्त हुआ हो। स्वसर (ऋ० २।३४।८, ९।९४।२) उस समय को कहा गया है जब पक्षीगण जाग रहे हों। इसे प्रपित्व भी कहते हैं। अन्य दृष्टि से संध्या को 'अभिपित्व' (ऋ० १।१२६।३, ४।३४।५), अर्थात् वह समय जब सब लोग विश्राम करने लगते हैं, कहा है। मध्याह्न का भी उल्लेख 'मध्यम अहनाम्' ((ऋ० ७४१।४), मध्ये (ऋ० ८।२७।१०) आदि रूपों में मिलता है। प्रातः काल और मध्याह्न के बीच पूर्वाह्ण नामक समय के लिए संगव शब्द प्रयुक्त हुआ है[5]। दिन तथा रात दोनों के तीस भागों में विभाजन का संकेत ऋग्वेद में मिलता है[6]। त्सिमर के अनुसार यह विभाजन वेबीलोनिया के दिन और रात के विभागों से समानता

---

१. अहोरात्रे वै संवत्सरः एते ह्येनं परिप्लवमाने कुरुतः, श० ब्रा० ३।२।२।४;
संवत्सरस्याहोरात्राणि संततानि अव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते।
श० ब्रा० १।३।५।१६;
अहोरात्राणीष्टकाः; तै० सं० ३।११।१०।४; ५।७।६।५-६; ५।६।९।३;
तै० आ० ४।१९; श० ब्रा० ९।१।२।१८।

२. अहस्तु नाभिः सूर्यस्य एकचक्रः स वै स्मृतः। वायु० ५१।६०;
अहोरात्राद्रथेनाऽसौ एकचक्रेण वै भ्रमन्। वही, ५२।४४।

३. तस्मा उद्यन्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्रस्तोति।
मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रतिहरत्यस्तं यन्निधनम्॥ अथर्व० ९।६।४६;
तु० तै० ब्रा० १।५।३।१; ४।९।२।

४. मै० सं०, ४।२।११।

५. संगवे प्रातरह्ने, ऋ० ५।७६।३।

६. अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परियन्ति सद्यः, ऋ० १।१२३।८।

रखता है किन्तु यहाँ पर प्रयुक्त व्याहृति तीस योजन इतनी संदिग्ध और अस्पष्ट है कि कोई दृढ़ निर्णय नहीं लिया जासकता[१]। किन्तु 'जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम (ऋ० १ १२३।९) से इसका दिवस भाग होना ही सिद्ध है। दिवस के तीस भागों की सूचना ऋग्वेद और अथर्ववेद से मिलती है[२]। दिन के दो विभाग पूर्वाह्न और अपराह्न; तीन विभाग पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न; चार विभाग पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, और सायाह्न; एवं पाँच विभाग प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न और सायं के रूप में उल्लिखित हैं। दिन के दो प्रकार का विभाग स्वाभाविक है जो संहिता-काल में प्रतिष्ठित था। तीन भागवाला विभाजन तै० ब्रा० ३।१२।९।१ एवं श० ब्रा० २।४।२।८ में, तथा पाँच विभागवाला विभाजन तै० ब्रा० १।५।३ में उल्लिखित है जिसके तीन प्रकार ऋ० ५।७६।३ में भी पठित हैं। एक दिन से कम के समय का विभाजन बहुत ही कम स्थलों में मिलता है, पर शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है जहाँ एक दिन और रात में ३० मुहूर्त, १ मुहूर्त = १५ क्षिप्र, १ क्षिप्र = १५ एतर्हि, १ एतर्हि = १५ इदानि, १ इदानि = १५ उच्छ्वास, १ उच्छ्वास = १५ प्रश्वास, १ प्रश्वास = १५ निमेष के कहे गये हैं[३]। शाङ्खायन आरण्यक (७।२०) एवं शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१४।७८) में यह क्रम निमेष, काष्ठा, कला, क्षण, मुहूर्त और अहोरात्र के रूप में उल्लिखित हैं[४]।

मुहूर्त

मुहूर्त शब्द ऋग्वेद में दो वार (३।३३।५ एवं ३।५३।८) काल के छोटे मान क्षण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह शतपथ ब्राह्मण (१।८।३।१७ एवं २।३।२।५) में इसी अर्थ में आता है। अहोरात्र को तीस भागों में बाँटकर ऋषियों ने उसका सूक्ष्म विभाग किया था। शतपथ ब्राह्मण में एक दिन और रात में ३० मुहूर्तों (१५ दिन के + १५ रात के) के होने का उल्लेख

---

१. वैदिक इण्डेक्स, हिन्दी अनुवाद, पृ० ५६-५७।

२. त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते—ऋ० १०।१८९।३;
अथर्व० ६।३१।९।

३. दश वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्ता यावन्तो मुहूर्तास्तावन्ति पञ्चदशकृत्वः क्षिप्राणि, यावन्ति क्षिप्राणि तावन्ति पञ्चदश कृत्व एतर्हीणि।
श० ब्रा० १२।३।२।५; तु० तै० ब्रा० ३।१०।१।१।

४. द्रष्टव्य–"वैदिक इण्डेक्स", पृ० ५६-५७।

मिलता है[1]। एक वर्ष में १०८०० मुहूर्त होते हैं[2]। इन तीस भागों का संकेत ऋग्वेद (१०।१८९।३०) और अथर्व वेद (६।३१।९) में भी मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिवस एवं रात्रि के मुहूर्तों के नाम इस प्रकार पठित हैं—

दिन के पन्द्रह मुहूर्त—चित्र, केतु, प्रभान्, आभान्, संभान्, ज्योतिष्मान्, तेजस्वान्, आतपन्, तपन् अभितपन्, रोचन्, रोचमान, शोभमान और कल्याण।

रात्रि के पन्द्रह मुहूर्त—दाता, प्रदाता, आनन्द, मोद, प्रमोद, आवेशयन्, निवेशयन्. संवेशन, संशान्त, शान्त, आभवन्, प्रभवन्, संभवन्, संभूत, और भूत[3]।

अथर्व ज्योतिष में इन पन्द्रह मुहूर्तों के नाम इस प्रकार पठित हैं—

रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, सावित्र, वैराज, विश्वावसु, अभिजित्, रोहिण, वल, विजय, नैर्ऋत, वारुण, सौम्य एवं भग[4]। वाद की ज्योतिष संहिताओं में मुहूर्तों के इन्हीं नामों का उल्लेख हुआ है[5]। दिन और रात्रि के तीस मुहूर्तों के नाम बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान में भी पठित हैं, पर उसमें नाम भिन्न हैं यथा—दिन के मुहूर्त—चतुरोजा, श्वेत, समृद्ध, शरपथ, अतिसमृत, उद्‌गत, सुमुख, वज्रकुरक, रोहित, वल, विजय,

---

१. स पञ्चादशाह्नो—मुहूर्ता लोकं पृणाः पञ्चदशैव रास्त्रेतद्यन् मुहुस्त्रायन्ते तस्मान् मुहूर्ताः। श० ब्रा० १०।४।२।१८।

२. दश वै सहस्राण्यष्टौ च शतानि संवत्सरस्य मुहूर्ताः। श० ब्रा० १२।३।२।५।

३. चित्रः केतुः प्रभान् आभान्त्संमान्। ज्योतिष्मान्तेजस्वानातपस्तपन्नभितपन् रोचनः रोचमानः शोभमानः कल्याणः। दाता प्रदाता नन्दो मोदः प्रमोदः आवेशयन्निवेशयन् संवेशन संशान्तः शान्तः। आभवन् प्रभवन्, संभवन्, संभूतो भूतः। तै० ब्रा० ३।१०।१।१-३।

४. अथर्व ज्यो० १।६-११, द्र० हि० ध० जि० ५, भाग १, पृ० ५३९।

५. उत्पल, बृहत्संहिता ९८।३ को टीका; तु० वायु० ६६।४०-४५।
चतुरोजाः, श्वेतः, समृद्धः, शरपथोऽतिसमृद्ध उद्‌गतः सुमुखो वज्रको रोहितो वलो विजयः सर्वरसो वसुः सुन्दरः परमयः रौद्रस्तारावचरः संयमः सांप्रेयकोऽनन्तो गर्दभो राक्षसो वयवो ब्रह्मादितिरर्को विधमनो आग्नेय आतपाग्निरभिजित्। इतीमानि मुहूर्तानां नामानि।

सर्वरस, वसु, सुन्दर एवं परभय; रात्रि के मुहूर्त—सूर्यास्त के समय रौद्र, इसके अनन्तर ताराचर, संयम, सांप्रेयक, अनन्त, गर्दभ, राक्षस, अर्धरात्रि में अवयव, ब्रह्मा, दिति, अर्क, विधमन, आग्नेय, आतपाग्नि, एवं अभिजित्[1]।

प्रतिमुहूर्त

मुहूर्तों के भी छोटे भाग के रूप में प्रतिमुहूर्तों की कल्पना की गयी थी। शतपथ ब्राह्मण में मुहूर्तों के क्षिप्र, एतर्हि, इदानि आदि विभाग प्रतिमुहूर्त कहे गये हैं[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इदानि, तदानि, एतर्हि, क्षिप्र, अजिर, आशु, निमेष, उद्रवन्, अतिद्रवन्, त्वरमाण, आशुरशीय एवं जव आदि शब्द विभिन्न लघु कालावस्था को ही सूचित करते हैं[3]।

कला तथा काष्ठा

काल-मान के रूप में कला और काष्ठा शब्द नारायणोपनिषद् में उल्लिखित हैं जहाँ इनकी उत्पत्ति पुरुष से बताई गयी है[4]।

मास एव अर्धमास

मास की कल्पना चन्द्रमा की गति के आधार निश्चित हुई है, क्योंकि काल-ज्ञान का सहज साधन चन्द्रमा है। संसार भर में मास की गणना का आधार चन्द्रमा रहा है, जैसा हम कालगणना के प्रारम्भिक विकास में देख चुके हैं। जैमिनी ब्राह्मण में चन्द्रमा ही मास है ऐसा कहा गया है। चन्द्रमा को मासों का निर्माण करने वाला कहा गया है[5]। मास तीस[6]

---

१. दिव्यावदान—३३ शार्दूलकर्णावदान, वैद्यसंस्करण, पृ० ३३६-३७।

२. अथ यदाह। इदानीं तदानीमिति। एष एव तत्। एष ह्येव मुहूर्तानां मुहूर्ताः।
तै० ब्रा० ३।१०।९।९।

३. इदानीं तदानीमेतर्हिक्षिप्रमजिरं। आशुनिमेष फणोद्रवन्, अतिद्रवन्।
त्वरँस्त्वरमाण आशुरशीयान् जवः। तै० ब्रा० ३।१०।१।।४

४. सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
कला मुहूर्ताः काष्ठाश्चाहोरात्राश्च सर्वशः।। नारायण उ० १।८।

५. एष (चन्द्रमाः) मासः; जै० ब्रा० २।३; चन्द्रमा वै मासः, जै० उ० ३।१२।६।

६. त्रिंशद्वै रात्रयो मासः, मै० १।१०।८; काठ० ३६।२।
त्रिंशन्मासो रात्रयः, काठ० ३४।९; त्रिंशिनो मासाः; तै० सं० ७।५।२०।१।

रात्रियों का होता है। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने से शुक्ल एवं कृष्ण पक्षों की स्थिति बनती है[1]। चन्द्रमा की संपूर्ण कलाओं के अन्तर्धान की अवस्था अमावास्या एवं सभी कलाओं के साथ उदय होने की स्थिति को पूर्णमासी कहा जाता है[2]। संवत्सर के बारह मासों एवं अर्धमासों के नाम वैदिक साहित्य में इस प्रकार मिलते हैं :

मधु-माधव, शुक्र-शुचि, नभस्-नभस्य, इष-ऊर्ज, सहस्-सहस्य एवं तपस्-तपस्य। उक्त मासों में मधु-माधव वसन्त ऋतु के, शुक्र-शुचि ग्रीष्म के, नभस् और नभस्य वर्षा के, इष और ऊर्ज शरद के सहस् और सहस्य हेमन्त के एवं तपस् और तपस्य शिशिर ऋतु के मास कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त संसर्प नामक मास अधिमास के लिए आया है[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ये नाम अरुणरजा आदि हैं। तीस मुहूर्तों के मान से होने वाले ऐसे १५ दिनों का पक्ष एवं दो पक्षों का मास होता है[4]।

संवत्सर के चौबीस अर्धमासों के नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण में पठित हैं, जो इस प्रकार हैं—पवित्र, पवयिष्य, पूत, मेध्य, यश, यशस्वान्, आयु, अमृत, जीव, जीविष्यन्, लोक, सहस्वान्, सहीयान्, ओजस्वान्, सहमान, जयन्, अभिजयन्, सुद्रविण, द्रविणोदा, आर्द्र, पवित्र, हरिकेश, मोद और प्रमोद[5]। अर्धमास १५ दिन का होता है, ऐसा तैत्तिरीय संहिता एवं

---

१. चन्द्रमा वै पंचदशः, एष हि पंचदश्यामपक्षीयते पंचदश्यामापूर्यते—
तै० ब्रा० १।५।१०।५।

अथो वै चन्द्रमा पंचदशाहान्यापूर्यते पंचदशापक्षीयते। श० ब्रा० ८।४।१।१०

२. चन्द्रमा वामावास्यायामादित्यमनुप्रवशति सोऽन्तर्वीयते। ऐ०ब्रा० ८।४०।५।

३. मधुश्च माधवश्च शुक्रश्च शुचिश्च नभश्च नभस्यश्चेषश्चोर्जश्च सहश्च सहस्यश्च तपश्च तपस्यश्चोपयामगृहीतोऽसि सँसर्पोस्यँहस्पत्याय त्वा।
तै० सं० १।४।१४।

मधुश्चमाधवश्च वासन्तिकावृतू शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू इषश्चोर्जश्च शरदावृतू सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। तै० सं० ४।४।११।

४. त्रिंशन्मुहूर्तं कथितमहोरात्रं तु यन्मया।
तानि पञ्चदश ब्रह्मन् पक्ष इत्यभिधीयते॥
मासः पक्षद्वयेनोक्तोः, विष्णु० २।८।६९-७०।

५. पवित्रन् पवयिष्यन् पूतो मेध्यः। यशो यशस्वानायुरमृतः। जीवो जीविष्यन्-

ताण्ड्य ब्राह्मण से पता चलता है[१]। अर्धमास में पन्द्रह रात्रियाँ होती हैं[२]। ये मेध्य अश्व के पर्व कहे गये हैं[३]।

ऋतुएँ

वैदिक काल में लोगों का ऋतुओं से पूर्ण परिचय था। ऋग्वेद (१।१५) में ऋतुना शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है, एक बार ऋतून् शब्द भी आया है। ऋग्वेद (२। ३६-३७) के इन दो सूक्तों को ऋतव्य सूक्त कहते हैं। स्वयं ऋग्वेद में पाँच ऋतुओं के नाम भिन्न-भिन्न स्थानों में पठित हैं- जैसे—वसन्त (१०।१६१।४, १०।९०।६), ग्रीष्म (१०।९०।६), प्रावृष् (७।१०३।३-९), शरद (२५ बार से अधिक, २।१२।११; ७।६६।११; १०।१६१।४), हेमन्त (१०।१६१।४)। किन्तु इसमें कहीं भी शिशिर का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है।

सूर्य दिशाओं में घूमता हुआ ऋतुओं को उत्पन्न करता है; यह श्रुति वाक्य है। इससे स्पष्ट है कि ऋतुएँ सूर्य के कारण होती हैं, यह तथ्य उन लोगों को ज्ञात था। आदित्य ही ऋतु है, ऐसा शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है[४]। सामान्यतया ऋतुओं की संख्या छः बताई गयी है[५]। एक

त्स्वर्गो लोकः। सहस्वान् सहीयानोजस्वान् सहमानः। जयन्नभिजयन्त्सुद्रविणो द्रविणोदा आर्द्र पवित्रो हरिकेशो मोदः प्रमोदः। तै० ब्रा० ३।१०।१।

१. पंचदशिनोऽर्धमासाः, तै० सं० ७।५।२०।१।
अर्धमासः पंचदशः, ता० ६।२।२।

२. पंचदश अर्धमासस्य रात्रयः; मै० सं० १।७।३; काठ० ३४।९;
जै० ब्रा० १।१३२।

३. अर्धमासः पर्वाणि (अश्वस्य मेध्यस्य), तै० सं० ७।५।२५।१।

४. असौ वा आदित्य ऋतुः, काठ० २८।२।१०।
दिग् भ्राजः ऋतून् करोति, तै० आ० १।७।
आदित्यास्त्वेव सर्वं ऋतवः, श० ब्रा० २।२।३।९।

५. षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य, श० ब्रा० १।२।५।१२;
वसन्तो वै प्रथम ऋतूनां ग्रीष्मो द्वितीयो वर्षास्तृतीयाश्शरच्चतुर्थी हेमन्तः पंचमश्शिशिरष्षष्ठः। जै० ब्रा० २।३५६।
द्र० अथर्व ६।५५।२; तै० सं० ४।३।२, ६।६।२३, ७।५।१४।

ऋतु दो मास[1] की कही गई है, जिसमें एक सौ वीस[2] दिन (रात्रि को जोड़ कर) होते हैं किन्तु कभी-कभी संवत्सर में तीन[3], पाँच,[4] और सात[5] ऋतुओं के होने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाँच ऋतुओं का काल विभाग प्राचीन है, जव हेमन्त और शिशिर दोनों को मिलाकर गिना जाता था। उस समय वर्ष में दस महीने ही मानने की प्रथा रही होगी। बाद में द्वादशमासों की कल्पना से छः ऋतुओं की कल्पना समाज में आई। छहों ऋतुओं में वसन्त ही प्रमुख कहा गया है, वही ऋतुओं का मुख है[6]। यहीं से वे लोग ऋतुओं का प्रारम्भ मानते थे।

संवत्सर को ऋतुओं का ऋषभ कहा गया है[7]! इसका शिर वसन्त, हेमन्त मध्य, ग्रीष्म दक्षिण पक्ष, शरद उत्तर पक्ष तथा वर्षा पुच्छ है[8]। तैत्तिरीय संहिता से पता चलता है कि उस काल में ऋतुओं के प्रारम्भ

---

१. द्वन्द्वं ऋतवः; तै० सं० ५।४।२।१; तु० ६।५।३।१।
द्वौ द्वौ हि मासावृतुः, तां० ब्रा० १०।१२।८; श० ब्रा० ७।४।२।२९।
द्वौ हि मासौ ऋतुः, श० ब्रा० ८।४।२।१४, द्वौ मासौ चार्कजावृतू, विष्णु० २।८।७०।

२. विंशतिशतं वा ऋतोरहानि, कौ० ब्रा० ११।७।

३. त्रयो ह वा उ ऋतवो, जै० ब्रा० २।३६०।
त्रयो वा ऋतवो संवत्सरस्य, श० ब्रा० ३।४।४।१७, ११।५।४।११।
ऋतवोऽनु पञ्च अथर्व० ८।२।२२, ८।९।१५।

४. पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोस्समासेन, ऐ० ब्रा० १।१।
पञ्चशारदीयेन यजेत्, पञ्च वा ऋतवः संवत्सरः, तै० ब्रा० २।७।१०,
पञ्चर्तवः संवत्सरस्य, श० ब्रा०१।५।२।१६, ३।१।४।२०, तु० काठ०सं०९।३; ९।१६, २२।८, श० ब्रा० ३।१।४।५, जै० ब्रा० २।२९१।

५. सप्तर्तवो ह सप्त, अथर्व० ८।९।१८।
सप्तर्तवः संवत्सरः—श० ब्रा० ६।६।१।१४, ७।३।२।९, ९।१।१।२६।

६. मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः, तै० ब्रा० १।१।२।६-७।
फाल्गुनी पूर्णमासो वा ऋतूनां मुखम्, मै० सं० १।६।९।

७. ऋषभो वा एष ऋतूनां यत्संवत्सरः—तै० ब्रा० ३।८।३।३।

८. तस्य ते (संवत्सरस्य) वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः।
वर्षा पुच्छम्। शरदुत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम्। तै० ब्रा० ३।१०।४।१।

होने का ठीक काल लोगों को ज्ञात नहीं था[1]। स्थान-भेद से ऋतुओं में कुछ दिन का अन्तर आजाना अस्वाभाविक नहीं है।

संवत्सर रूप प्रजापति के प्रजा उत्पन्न करने के पश्चात् पर्वों के शिथिल होने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। यहाँ अहोरात्र की दोनों संधियाँ, पौर्णमासी, अमावास्या और ऋत्वारम्भ ही उसके पर्व कहे गये हैं। देवताओं ने अग्निहोत्र द्वारा अहोरात्र की संधियों को चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा व्यवस्थित किया[2]। यह सौर एवं चान्द्र गणना के समीकरण की बात ज्ञात होती है। यहाँ उल्लिखित अहोरात्र की संधियों या ऋत्वारम्भ का ज्ञान सूर्य और चन्द्रमा की सूक्ष्म गति जाने बिना संभव नहीं, जो उस काल के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

यह आदित्य ही ऋतु है, जो छह मास तक उत्तर और छह मास तक दक्षिण की ओर रहता है[3] यह उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। इसी आधार पर शतपथ ब्राह्मण में वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा को देवताओं की एवं शरद, हेमन्त और शिशिर को पितरों की ऋतु कहा गया है[4]।

अयन

'अयन' शब्द का प्रयोग गति या मार्ग के अर्थ में ऋग्वेद में हुआ है[5]। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि अयन शब्द का उल्लेख नहीं है फिर भी यह कहा गया है कि जहाँ सूर्य उत्तर दिशा की ओर आवर्तित होता है, वहाँ देवताओं में रहता है, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये देवताओं की ऋतुएँ हैं एवं जब दक्षिण की ओर आवर्तित होता है तब पितरों में होता है,[6] शरद,

---

१. उभयतो मुखमृतुपात्रं भवति को हि तद्वेद यद् ऋतूनां मुखम्।
तै० सं० ६।५।३।

२. श० ब्रा०, १।६।३।३६।

३. असौ वा आदित्य ऋतुस्तस्मादेष षण्मास उदङ्ङेति षड् दक्षिणा;
काठ० सं० २८।२।१०।

४. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा ते देवऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरः।
श० ब्रा० २।१।३।१

५. आयन्नापो अयनमिच्छमानाः; ऋ० ३।३३।७।

६. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देव ऋतवः शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो—स (सूर्यः) यत्रोदगावर्तते। देवेषु तर्हि भवति यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति
—श० ब्रा० २।३।२।३।

हेमन्त और शिशिर पितरों को ऋतुएँ हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय सूर्य जब विषुवद्वृत्त के उत्तर रहता था तो उत्तरायण और दक्षिण रहता था तो दक्षिणायन होता था। कौषीतकी ब्राह्मण में भी सूर्य के छह महीना उत्तर और छह मास दक्षिण में रहने का उल्लेख मिलता है[1]। यह सूर्य जब उत्तर की ओर होता है तो देवों की महिमा में होता है, एवं जब दक्षिण में होता है तो पितरों की महिमा को प्राप्त करता है[2]। पुराण आदि जैसे बाद के साहित्य में तीन ऋतुओं का एक अयन कहा गया है। एक वर्ष में दो अयन होते हैं[3]।

ज्योतिष एवं पुराण आदि ग्रन्थों में सायन मकरारम्भ से कर्कारम्भ पर्यन्त उत्तरायण और सायन कर्कारम्भ से मकरारम्भ पर्यन्त दक्षिणायन कहा गया है[4]। माघ से आषाढ़ तक उत्तरयाण एवं श्रावण से पौष तक दक्षिणायन होता है[5]।

वेदाङ्गकाल में उत्तरायणारम्भ माघ मास में धनिष्ठारम्भ से एवं दक्षिणायनारम्भ श्रावण मास में आश्लेषा से माना जाता था,[6] जिसका

---

१. स वै माघस्यामावास्यायामुपवसत्युदङ्ङावर्त्स्यन्नुपेमे वसन्ति। स षण्मासू-दङ्ङित्वा तिष्ठते। दक्षिणावर्त्स्यन्नुपेमे वसन्ति वैषुवतीयेनाह्ना।
कौ० ब्रा० १९।३।

२. य—उदगयने प्रमीयते देवानामेव महिमानं गत्वादित्यस्य सायुज्यं गच्छत्यथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं सालोकतामाप्नोति। नारायण उ०, अनु० ८०।

३. ऋतु त्रयं चाप्ययनं द्वेऽयने वर्षसंज्ञिते—विष्णु० २।८।७१।

४. कर्कटावस्थिते भानौ दक्षिणायनमुच्यते।
उत्तरायणमप्युक्तं मकरस्थे दिवाकरे॥ विष्णु० २।८।६८-९।

५. तपस्तपस्यौ मधुमाधवौ च शुक्रः शुचिश्चायनमुत्तरं स्यात्।
नभो नभस्यौ च इषस्तथोर्जस्सहः सहस्याविति दक्षिणं तत्॥
विष्णु० २।८।८३।

६. प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सर्पार्धे दक्षिणार्कस्य माघ श्रावणयोः सदा॥
वेदाङ्ग ज्यो०, ऋग्वेद ६, यजु० ७।

उल्लेख बौधायन[1] ने भी किया है। वराह[2]मिहिर के समय यह कर्क और मकर से क्रमशः माना जाता था। इस प्रकार वराहमिहिर और वेदाङ्ग ज्योतिष के बीच १६७३ वर्ष[3] या लगभग १६८० का अन्तर अयन-चलन के आधार पर ज्ञात होता है।

वैदिक यज्ञ एवं संवत्सर व्यवस्था

वैदिक सृष्टि-विद्या में यज्ञ-विद्या का प्रधान स्थान रहा है। सृष्टि के रहस्यों को समझने के लिए वैदिक काल में यज्ञ-विद्या का आविष्कार हुआ, जो ऋग्वेद काल से ही एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ऋग्वेद में अपने पूर्वजों को प्राचीन यज्ञकर्ता रूप में स्मरण किया गया है, जिन्होंने प्राचीनकाल में यज्ञ को प्रतिष्ठित कर भविष्य के व्यक्तियों के लिए पथ का निर्माण किया, जिसका वह अनुगमन कर सके।[4] मनु के साथ ऋग्वेद १।७६।५ में सप्त होताओं, १।३१।१७ में अङ्गिरस एवं ययाति, ८।४३।९३ में भृगु एवं अङ्गिरस, १।८०।१६ में दध्यंच एवं अथर्वन् एवं १।१३९।९ में दध्यंच्, अङ्गिरस, अत्रि एवं कण्व ऐसे प्राचीन यज्ञकर्ताओं का उल्लेख मिलता है। ऋ० १।८३।५ में सूर्य के जन्म स्थान तक

---

१. माघमासे धनिष्ठाभिरुत्तरेणेति भानुमान् ।
अर्धाश्लेषस्य श्रावणस्य दक्षिणेनोपनिवर्तत ।। बौ० श्रौ० सू० २६।२९ ।

२. आश्लेषार्धं दक्षिणमुत्तररवे धनिष्ठार्धम् ।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु ।।
सांप्रतमयनं कर्कटकाद्यं मृगादितश्चान्यत् । बृ० सं० ३।१-२ ।
आश्लेषार्धादासीद्यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य ।
युक्तमयनं तदासीत् साम्प्रतमयनं पुनर्वसुतः ।। पञ्चसि० ३।२१, पृ० ९ ।

३. वेदाङ्गज्योतिष और वराहमिहिर के बीच का अयनान्तर २३°।२० कला होता है। ५०′.२″ प्रतिवर्ष अयन गति मानने पर एक अंश चलने में अयन को लगभग ७२ वर्ष लगते हैं। अतः ७०°।३ चलने में यह अन्तर लगभग $\frac{७०}{३} \times \frac{७२}{१}$ = १६८० वर्ष का आता है। द्रष्टव्य, हि० धर्म० जि० ५, भाग १, पृ० ५१९ ।

४. नः पितः, ऋ० २।३३।१३ ।
तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः, वही, ६।२२।२ ।

अथर्वन् द्वारा अपने पथ के विस्तार का उल्लेख किया है। ऋ० १०।१४।६ में अथर्वों के साथ आङ्गिरसों, नवग्वों एवं भृगुओं को सबका पिता, "नः पितरः" कहा गया है। ऋ० २।४४।१२ में दशग्वों को यज्ञ का प्रथम कर्ता एवं १०।९२।१० में अथर्वों को यज्ञ व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाला कहा गया है। उक्त सभी मनु, अथर्वन् एवं भृगु आदि प्राचीन यज्ञकर्ताओं में आङ्गिरसों को छोड़ कर अन्य किसी भी यज्ञकर्ता के यज्ञानुष्ठान के काल का उल्लेख नहीं मिलता। श्रौतसूत्रों में "अङ्गिरसां अयनम्" नामक वैदिक वार्षिक सत्र का उल्लेख मिलता है, जो वार्षिक सत्रों के प्रतीक 'गवां-अयन' का एक परिष्कृत रूप है। किन्तु 'अङ्गिरसां अयन' नामक सत्र का काल परिमाण कहीं नहीं उल्लिखित है। 'गवां अयन' नामक सत्र का काल-परिमाण तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त होता है, जहाँ अङ्गिरसों के दो भेदों का उल्लेख है, जिन्हें ऋग्वेद (१०।६२।५-६) में नवग्व एवं दशग्व कहा गया है। इन दोनों शाखाओं का साथ-साथ उल्लेख मिलता है और आङ्गिरसों का गुण इनमें कहा गया है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में नवग्वों द्वारा १० महीने तक अपना यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है।[1] ऋग्वेद में दशग्वों को प्रथम यज्ञकर्ता कहा गया है।[2] सप्तमुख दशग्वों के ऊपर उषा की कृपा का उल्लेख है।[3] उक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि नवग्वों एवं दशग्वों का यज्ञ १० महीने में समाप्त होता था।

---

१. येन दश मासो नवग्वाः। यया तरन् दश मासो नवग्वाः। ऋ० ५।४५।७, ११। अथातो यज्ञक्रमा—अग्न्याधेयमग्न्याध्येयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेरग्निहोत्रमग्निहोत्राद्दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्यामाग्रयणमाग्रयणाच्चतुर्मास्यानि चातुर्मासेभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद् वाजपेयो वाजपेयादश्वमेधोऽश्वमेधात् पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधात् दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रागतिष्ठंस्ते वा एते यज्ञक्रमाः। गो० ब्रा० ५।७।

२. ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे। ऋ० २।३४।१२।

३. आङ्गिरसो द्विविधाः। सत्रयागमनुतिष्ठन्तो ये नवभिर्मासैः समाप्य गतास्ते नवग्वाः (नवग्वा नवनीतगतयः, निरुक्त ११।१९) इति यास्को व्याचख्यौ। ये तु दशभिर्मासैः समाप्य जग्मुस्ते दशग्वाः। ऋ० १।६२।४, १०।६२।६ पर सायण की टीका (ऋग्वेद, पूना संस्करण, पृ० ४२५)।

नवग्वों एवं दशग्वों की शाब्दिक निरुक्ति का वर्णन करते हुए सायण[४] ने लिखा है कि नवग्व आङ्गिरसों की वह शाखा है जो अपना यज्ञ नव महीनों में समाप्त करती है एवं दशग्व दूसरी शाखा है, जो अपना यज्ञ दश महीनों में समाप्त करती है। प्रथमतः नवग्वों का यज्ञ भले ही नव महीनों में ही समाप्त हो जाता रहा हो, किन्तु पूर्वोक्त उदाहरणों (ऋ० ५।४५।७, ११) से स्पष्ट है कि दशग्वों के समान उनका भी यज्ञ १० महीनों तक चलता था। इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रायः यज्ञ १० महीनों तक चलते थे। यद्यपि आङ्गिरसों का एक यज्ञ सात वर्ष तक चला था[१] एवं दूसरा, जो विरूपों का था, उसका सम्पादन उन्होंने विभिन्न प्रकार से किया था।[२] किन्तु ये सभी आङ्गिरसों की शाखा थे, जिनमें नवग्वों एवं दशग्वों का स्थान विशिष्ट था, जिनका यज्ञ दस महीनों तक चलता था।

गवां अयन

वैदिककलीन यह एक सत्र था जिसके समान दूसरे सत्र "आदित्यानां अयनम्" एवं "अङ्गिरसां अयनम्" थे जो सूर्य की वार्षिक गति के ऊपर आधारित थे, जैसा कि डा० हाग ने स्पष्ट किया है। ये अपने युग के सर्व प्राचीन यज्ञ हैं जिनकी अवधि एवं विशेष विवरण यज्ञीय ग्रन्थों में दिया गया है। गवां अयन नामक सत्र का ऐतरेय[३] ब्राह्मण (४।१७) में उल्लेख मिलता है। "गायों ने अपने सींग और खुर प्राप्ति के लिए यज्ञीय सत्र का शुभारम्भ किया। दशवें महीने में इसे उन्होंने प्राप्त कर लिया। जिन्होंने यह कह कर कि पहले हम संवत्सर को समाप्त करें (सत्र चालू रक्खा) उनकी सींगें लुप्त हो गईं। इसके अनन्तर उन्होंने ऊर्जा पैदा किया

---

१. प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां—ऋ० १०।४७।६।

२. ऋ० १०।६२।५-६।

३. गावो वै सत्रमासत। शफाँ छृङ्गाणि सिषासत्यस्तासां दशमे मासि शफाः शृंगाण्यजायन्त। ता अब्रुवन् यस्मै कामाया दीक्षानह्मायाम तमुतिष्ठामेति। ता या उदतिष्ठंस्ता एता शृंगिण्योऽथ याः समापयिष्यामः संवत्सरमित्यासत तासामश्रद्धया शृंगाणि आवर्तन्त। ता एवास्तूपरा ऊर्जं त्वसुन्वंस्तस्मावुताः सर्वानृतून्प्राप्त्वोतरमुत्तिष्ठंत्यूंर्ज ह्यसुन्वन् सर्वस्य वै गावः प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गतः। सर्वस्य प्रेमाणं सर्वस्य चारुतां गच्छति य एवं वेद।

और सत्र समाप्त कर (१२ महीने बाद) अपनी सींगें प्राप्त कर गायों ने अपने आप को दुनियाँ और सत्र का प्रिय एवं सुन्दर बनाया"। यहाँ एक वार एवं तैत्तिरीय संहिता (७।५।२।१-२) में दो वार इस सत्र का उल्लेख हुआ है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण में गायों को आदित्य बताया गया है (जो मासों के देवता हैं)। गवां अयन नामक सत्र का आरम्भ कर आदित्यानां अयन को भी ठीक किया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि उक्त सत्र द्वारा यज्ञ एवं संवत्सर-व्यवस्था दोनों का सही समीकरण स्थापित किया जाता था। तैत्तिरीय संहिता के वर्णन भी लगभग ऐतरेय के ही समान हैं, किन्तु उसमें एक-दो महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख हुआ है। उक्त उद्धरणों से ऐसा स्पष्ट है कि वैदिक काल में दो प्रकार के यज्ञकर्ता थे जो क्रमशः १० महीनों एवं १२ महीनों तक यज्ञ करते थे। इन यज्ञों का मुख्य प्रयोजन खेती के लिए जलप्राप्त करना था, जैसा ऋग्वेद (५।४५।११) से स्पष्ट है। यज्ञ सम्बन्धी यह भावना गीता (यज्ञाद्भवति पर्जन्यः, ३।१) से भी प्रकट होती है। जो लोग दस महीने तक यज्ञ करते थे वे वर्षा ऋतु में बादलों के आते ही अपने यज्ञ से उठ जाते थे एवं ऐसा विश्वास रखते थे कि चूंकि आकाश में बादल आगए हैं, इसलिए वर्षा अवश्य होगी, किन्तु वे लोग, जो फिर भी वर्षा के प्रति संदिग्ध थे, वे बारह महीनों तक यज्ञ किया करते थे। इन्हीं दोनों संप्रदायों का उक्त आख्यानों में वर्णन प्राप्त होता है। तैत्तिरीय संहिता के आख्यान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक कालीन संवत्सर का अन्त कब होता था ? वर्षा कालीन दो मास (वार्षिकौ मासौ) संवत्सर के अन्तिम दो महीनें थे जिनके बाद नव वर्षारम्भ शरद से होता था जिसके कई उदाहरण वर्षारम्भ के प्रकरण में देखे जा सकते हैं।

काल-परिमाण के आधार पर सोम-यज्ञ के तीन भेद वेदों में वर्णित हैं। प्रथम प्रकार के यज्ञ "एकाह" कहे जाते हैं, जो एक ही दिन में समाप्त हो जाते हैं। जो यज्ञ एक दिन से अधिक और तेरह दिन से कम चलते थे उन्हें "अहीन" कहते थे एवं तेरह दिन अथवा इससे अधिक एक हजार वर्ष तक भी चलने वाले यज्ञ सत्र कहे जाते थे। प्रथम प्रकार में अग्निष्टोम, जिसका वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण (३।३९-४४) में प्राप्त होता है, आता है। दूसरे प्रकार के सोम यज्ञ अहीन या सत्र दोनों होते हैं, जिन्हें

१. द्रष्टव्य—दी आर्क० होम०, पृ० १७९-१८१।

"द्वादशाह" अथवा बारह दिन में समाप्त होने वाला यज्ञ कहा गया है। यह तीन त्र्यहों (तीन दिनों का समूह), दशम एवं दो अतिरात्र दिनों के योग से बनता है। ऐतरेय ब्राह्मण, ४।२३।१४ में तीन दिनों के नाम क्रमशः ज्योतिष्, गो और आयुष पठित हैं। नव दिनों (तीन त्र्यहों) का यज्ञ नवरात्र कहलाता था जो आज भी शारदीय और चैत्र नवरात्रों के रूप में लोक में प्रचलित है। इस प्रकार के सोम-यज्ञों में दो दिन, तीन दिन एवं चार दिन तक भी चलने वाले यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है, जिन्हें द्विरात्र, त्रिरात्र आदि संज्ञाओं से अभिहित किया गया है (तैत्तिरीय संहिता ७।१।४, ७।३।२, आश्वलायन श्रौ० सू० १०, १२ एवं ता० ब्राह्मण २०।११, २४।१९ इत्यादि)। तीसरी श्रेणी के यज्ञ 'गवां-अयन' प्रकार के सत्र कहे जाते हैं, जिनमें एक माह को षडहों (छः दिनों का समूह जिसमें ज्योतिष, गो, आयुष+आयुष, गो, ज्योतिष) में गिनते हैं। इन षडहों को स्तोत्रों के आधार पर अभिप्लव एवं पृष्ठ्य दों भागों में विभक्त किया गया है। वार्षिक सत्र षडहों के कई समूहों में विभक्त था जिसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त में कई प्रकार के विशिष्ट धार्मिक कृत्य किये जाते थे। सत्र का मध्य दिन "विषुवान्" कहा जाता था, जो सत्र को दो बराबर भागों में विभक्त करता था[1]। प्रथम अर्ध-सत्र में जो क्रिया होती थी ठीक उसके विपरीत दूसरे अर्ध-सत्र में होती थी। वार्षिक-सत्र 'गवां-अयन' के मुख्य-मुख्य निम्न भाग उल्लिखित हैं—

	भाग	दिन
१.	प्रारम्भिक (introductory) अतिरात्र	१
२.	चतुर्विश दिवस (आरम्भणीय)	१
३.	चार अभिप्लव एवं एक पृष्ठ्य षडह (प्रत्येक मास में) पाँच मास पर्यन्त	१५०
४.	तीन अभिप्लव एवं एक पृष्ठ्य षडह	२४
५.	अभिजित् दिवस	१
६.	तीन स्वरसाम दिवस	३
७.	विषुवान् (जिसकी गणना स्वतन्त्र है, सत्र में नहीं)	१

---

१. तै० ब्रा० १।२।३।१।

८.	तीन स्वर साम दिवस	३
९.	विश्वजित् दिवस	१
१०.	एक पृष्ठ्य एवं तीन अभिप्लव षडह	२४
११.	एक पृष्ठ्य एवं तीन अभिप्लव षडह प्रत्येक मास, पाँचमास पर्यन्त	१२०
१२.	तीन अभिप्लव षडह, ९ गोस्तोम + १ आयुस्तोम + दशरात्र = १ मास	३०
१३.	महाव्रत दिवस (चतुर्विंश दिवस)	१
१४.	समापन अतिरात्र	१
		कुलयोग = ३६०दिन[1]

संवत्सर

कालगणना-क्रम में एक वर्ष के कालमान के रूप में संवत्सर शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और परवर्ती वैदिक साहित्य में अनेक बार हुआ है।[2] ऋग्वेद में संवत्सर का रूपकों के रूप में चित्रण प्राप्त होता है, जहाँ सूर्य के रथ में सात अश्वों द्वारा जिसकी तीन नाभियाँ हैं, खीचे जाने

---

१. गवां अयन सत्र के लिए विशेष द्रष्टव्य—तिलक "आर्कटिक होम" पृष्ठ १२२; ऋग्वेदिक इण्डिया अध्याय २२, पृ० ४९६-५२१; "गवां अयन" श्याम-शास्त्री, पृ० ५-८; "एज आफ़ दी ऋग्वेद", पृ० १०१-१०३।

२. संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ऋ० १।११०।४।
संवत्सरे वावृधे जाघमी पुनः ऋ० १।१४०।२।
संवत्सरं इदमद्या व्यस्यत ऋ० १।१६१।१३।
संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणाव्रतचारिणः ऋ० ७।१०३।१।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥ वही, ७।१०३।७।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुते विसर्गम्। वही, ७।१०३।९।
संवत्सरो अजायत—वही, १०।१९०।२ इत्यादि।
समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि, अथर्व० १।३५।४।
संवत्सरो ऋषयो यानि सत्याः, वही, २।६।९।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली, वही, ३।१०।२।
वही, ४।३५।४, ६।५५।३ इत्यादि।

का उल्लेख मिलता है। यह चक्र जरा रहित (अजर) और अनर्व कहा गया है, जिस पर सप्त स्वसाओं एवं सप्त गायों (आदित्य किरण) के आरूढ़ होने का उल्लेख है।[1] विश्वप्रपंच के सभी भूत इसमें निवास और लय को प्राप्त करते हैं, इसलिए इसे संवत्सर कहा गया है।[2]

इसी सूक्त में संवत्सर का जो वर्णन प्राप्त होता है, उससे स्पष्ट है कि संवत्सर चक्र के १२ अरे उसके १२ मास हैं, ७२० अग्नि के पुत्र उसके ७२० अहोरात्र हैं। पंचपाद पितर इसके पाँच युग संवत्सर, परिवत्सर आदि, एवं द्वादशाकृतियाँ इसके १२ मासों के प्रतीक हैं। इसके सात चक्र एवं छह अरे (छह ऋतुएँ) हैं। इस काल-चक्र की नाभि कभी शीर्ण नहीं होती। यह ऋत का चक्र सदा घूमता रहता है[3]। अन्यत्र इस चक्र में १२ प्रधि एवं तीन नाभि कहे गये हैं, जो ३६० शङ्कुओं द्वारा सुदृढ़ किया गया है[4]। अथर्ववेद में उसे एक चक्र, एक नेमि, और सहस्र अक्षों वाला कहा गया है, जिसके आधे से संपूर्ण विश्व उत्पन्न है एवं आधा कहाँ है कौन

---

१. सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा भुवनाधितस्थुः ॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्त चक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्तनाम ॥
ऋ० १।१६४।२-३; तु० अथर्व० ९।९।२-३।

२. संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन् भूतानि—
यत्रेमानि सर्वाणि भूतान्यभिसन्तिष्ठन्ते। निरुक्त अ० ४; पृ० १९८-९
(ऋ० १।१६४।२ की व्याख्या)।

३. द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥
पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥
पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥
ऋ० १।१६४।११-१३।

४. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥
ऋ० १।१६४।४८; तु० अथर्व० १०।८।४।

जानता है[1]। निरुक्त में संवत्सरचक्र की उक्त प्रकार की ही व्याख्या प्राप्त होती है[2]। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णित-कालचक्र रूपी संवत्सर का वर्णन महाभारत[3] एवं पुराणों[4] के काल तक चला आता है, जहाँ इसकी तीन नाभियाँ, पाँच अरे और छह नेमियाँ बताई गई हैं। भागवत में इस संवत्सर चक्र के त्रयोदश अरे (१३ महीने), ३६० जोड़ (३६० दिन), ६ नेमि (६ ऋतुएँ) तथा तीन नाभियाँ (तीन चातुर्मास्य) वर्णित हैं। जगत् की आयु का छेदक यह कालचक्र निरन्तर घूमा करता है[5]।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद और अथववेद के काल तक संवत्सर में १२ मास, तीन, पाँच या छह ऋतुएँ, ३६० दिन या ७२० अहोरात्र होते थे। इन तथ्यों की पुष्टि इतर वैदिक संहिताओं और

---

१. एक चक्रं वर्तते एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरो निपश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद्बभूव॥ अथर्व० १०।८।७।

२. द्वादशारं न हि तज्जराय। (ऋ० १।१६४।११) द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्। (ऋ० १।१६४।४८) इति मासानाम्। मासाः मानात्। प्रधिः प्रहितो भवति—षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः इति च ब्राह्मणं समासेन—सप्त च वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहोरात्राः। इति च ब्राह्मणं विभागेन विभागेन। निरुक्त, अध्याय ४, पृ० २००।

३. षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति।
नाना गोष्ठा विहिता एकदोहना तावश्विनौ दुहतो धर्ममुक्थम्॥
एकां नाभिं सप्तशता अराःश्रिता प्रधिष्वन्या विंशतरर्पिता अरा।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणि॥
एक चक्रं वर्तते द्वादशारं प्रधि षण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम्।
यस्मिन् देवा अधिविश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुंचतो मा विषीदताम्॥
महाभारत, आदि० ३।६३-६५।

४. त्रिनाभि सप्ते पञ्चारे षण्णेमिन्यक्षयात्मके।
संवत्सरमयं कृत्स्नं कालचक्रं प्रतिष्ठितम्॥
कूर्म० १।४१।३९; विष्णु० २।८।४।

५. न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टि पर्व।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत् त्रिणाभि करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत्॥
भा० ३।२१।१८।

ब्राह्मण ग्रन्थों से भी होती है[१]।

संवत्सर ऋतुओं में प्रतिष्ठित कहा गया हैं[२]। ऋतुएँ ही संवत्सर को धारण करती हैं[३]। इससे पता चलता है कि संवत्सर ऋतुओं की अवधि के तुल्य था जो ३६५ = १/४ दिन के बराबर होता है। सावनवर्ष से इसका अन्तर ५ – १/४ दिन का है जो ४ वर्ष में ५ – १/४ × ४=२१ दिन का (अन्तर) हो जायगा। यही अन्तर छह वर्ष में ३१ – १/२ दिन का होगा। इससे स्पष्ट है कि आर्तव वर्ष से सावनवर्ष को ठीक करने के लिए चौथे वर्ष २१ दिन जोड़ कर ठीक किया जाता था। यह अधिक दिन तेरहवें मास के रूप में ग्रहण किया जाता था और हर चौथे वर्ष जोड़ा जाता था ऐसा शतपथ

---

१. द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्यात् द्वादश मासाः संवत्सरः, तै० सं० ५।६।७।
द्वादश मासाः संवत्सरः, ऐ० ब्रा० १।१, श० ब्रा० १।३।१०।५, ६।२।२।८, ११।३।६।८;
काठ० सं० ५०।१२, मै० सं० १।४।१४, ३।४।१०, ४।६।७,
जै० ब्रा० १।२७।१३५, २०६, २।७७, ८३, ९१।
तस्य च त्रीणि च शतानि षष्टिश्च स्तोस्त्रीयाः तावती संवत्सरस्य रात्रयः।
तै० सं० ७।५।१।
पञ्चदश सामिधेनीरन्वाह—तासां त्रीणि च शतानि षष्टिश्चाक्षराणि तावतीः संवत्सरस्य रात्रयः, तै० सं० २।५।८।३।
यावन्ति वै सामिधेनी नामाक्षराणि तावन्ति संवत्सरस्याहानि।
मै० सं १।७।३।
षष्टिश्चैव त्रीणि शतानि संवत्सरस्याहानि, काठ सं० ३३।२।
त्रीणि शतानि स्तोत्रिया भवन्ति षष्टिश्च तावती संवत्सरस्य रात्रयः त्रीणि वै षष्टि शतानि संवत्सरस्याह्नाम्—जै० ब्रा० २।३७७।
संवत्सरो वै प्रजापतिरग्निः। तस्य वा एतस्य संवत्सरस्य प्रजापते सप्त च शतानि विंशतिश्चाहोरात्राणि—श० ब्रा० १०।४।२।

२. षड् वा ऋतवः संवत्सरः ऋतुष्वेव संवत्सरे प्रति तिष्ठन्ति।
तै० सं० ७।५।१।

३. संवत्सर ऐषोऽग्निर्ऋतवः शिक्यम्।
ऋतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुम्।
यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यम्
ऋतुभिरेवैनं विभर्ति। श० ब्रा० ६।७।१।१८।

ब्राह्मण से ज्ञात होता है[1]। यह चौथा वर्ष ३६०+२१=३८१ दिन का होता था। शतपथ ब्राह्मण में ३८१ दिनों के नाम उल्लिखित हैं, जो एक बड़े वर्ष को छोड़कर और कुछ नहीं हो सकता।

संवत्सर को बताने वाले उसके अनेक विभाग हमें वैदिक साहित्य में मिलते हैं। इस प्रकार यह संवत्सर षोडश कलाओं वाला कहा गया है[2]। द्वादश मास और पाँच ऋतुएँ मिलाकर इसे सप्तदश विभागवाला[3], तेरह मास, सप्त ऋतुएँ और दो अहोरात्र तथा संवत्सर मिलाकर तेईस विभाग वाला[4]; चौवीस अर्धमास, छह ऋतुएँ, दो अहोरात्र और संवत्सर मिलाकर तैंतीस संविभाग वाला[5], २६ अर्धमास, १३ मास, सप्त ऋतुएँ एवं दो अहोरात्र संमिलित कर[6], छत्तीस एवं अड़तालिस विभागों वाला[7] एवं ६० मास अहोरात्र २४ अर्धमास, १३ मास एवं ३ ऋतुएँ मिलाकर इसे एक सौ विभागों वाला कहा गया है[8]। इस प्रकार संवत्सर के इन विभिन्न अवयवों

---

१. एक विंशतिर्यूपाः सर्व एकविंशत्यरत्नयो रज्जुदालोऽग्निष्ठो भवति। पैतुदारवावभितः षड्वैल्वास्त्रय इत्यात्रय इत्यात् षट् खदिरास्त्रय एवेत्यात्त्रय इत्यात् षट् पालाशास्त्रय एवेत्था त्रय इत्यात्। तथदेत एवं यूपा भवन्ति। प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत——वनस्पतिरभवद्रज्जुदाल इति। श० ब्रा० १।३।४।४।

२. एष संवत्सरः षोडशकलः, श० ब्रा० १४।४।३।१२।

३. सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादशमासाः पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन। ऐ० ब्रा० १।१; तु० ताण्ड्य० १०।१।७; श० ब्रा० १।३।५।१०; ३।२।२।८ संवत्सरः सप्तदशः——ताण्ड्य० ६।२।२।

४. संवत्सरो वाव संरम्भणस्त्रयोविंशः तस्य त्रयोदशमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव——सर्वाणि भूतानि——श० ब्रा० ८।४।१।१७।

५. वही, ८।४।१।२२।

६. वही, १।६।१।१९।

७. संवत्सरो वावविवर्तोऽष्टाचत्वारिंशः, वा० सं० १४।२३। षडविंशतिरर्धमासास्त्रयोदशमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते। श० ब्रा० ८।४।१।२५।

८. संवत्सरो वै प्रजापतिरेकशतविधः तस्याहोरात्राण्यर्धमासा ऋतव षष्टिर्मासस्याहोरात्राणि——चतुर्विंशतिरर्धमासस्त्रयोदशमासास्त्रय ऋतवस्ताः शतविधाः संवत्सर एवैकशततमी विधा। श० ब्रा० १०।२।६।१।

एवं मास के ६० अहोरात्र के ज्ञान से ऐसा लगता है कि उसके १२ मास, २४ अर्धमास एवं १३ मास एवं २६ अर्धमास वाला संविभाग शतपथ और उसके पूर्व अवश्य ज्ञात था। यजुर्वेद में संवत्सर को ४८ विभाग वाला कहा जाना महत्त्वपूर्ण है। इन दोनों प्रक्रियाओं से स्पष्ट है कि उस काल में कम से कम संवत्सर के दो स्वरूप अवश्य थे, जिसमें पहला १२ मास एवं ३६० दिन परिमाणवाला था तथा दूसरा त्रयोदश एवं २६ अर्धमास वाला था। यह दूसरा रूप अधिमास से युक्त संवत्सरवाला था।

संवत्सर को वैदिक साहित्य में कई प्रकार से चित्रित किया गया है। प्रजापति ही संवत्सर है[१]। संवत्सर ही प्रजापति है[२]। वही भूतों का अधिपति कहा गया है[३]। संवत्सर को यज्ञ तुल्य कहा गया है, क्योंकि वह पाँच ऋतुओं से प्राप्त किया जाता है इसलिए वह यज्ञ में पाँच आहुति डालता है[४]। प्रजापति ही यज्ञ है[५]।

संवत्सरारम्भ—

वैदिक युग में वर्षारम्भ कब होता था? इस विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में अमुक ऋतु संवत्सर का मुख है या यह प्रथम या द्वितीय ऋतु है, इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। ऋतु वाचक, शरद, हेमन्त और वसन्त शब्द संवत्सर के अर्थ

---

१. स ऐक्षत प्रजापतिः। सर्वं वा अत्सारिषं य इमा देवता असृक्षीति
स सर्वत्सरोऽभवत्। सर्वत्सरो ह वै नामैतद्यत्संवत्सर इति।
श० ब्रा०, ११।१।६।१२।

२ संवत्सरो वै प्रजापतिः ऐ० ब्रा० १।१, १३, २८; २।१७;
श० ब्रा०२।३।३।१८, ३।२।१।४, ५।१।२।९; ताण्ड्य० १६।४।१२;
गो० उ० ३।८, ६।१, तै० ब्रा० १।४।१०।१०;
स एष प्रजापतिरेव संवत्सरः कौ० ब्रा० ६।१५।

३. यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः। श० ब्रा० ६।०।३।८।

४. संवत्सरसंमितो वै यज्ञः पञ्चवा ऋतवः संवत्सरस्य तत् पञ्चभिराप्नोति
तस्मात् पञ्चकृत्वा जुहोति। श० ब्रा०, ३।१।४।५।
संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः—वही, २।२।२।४,
संवत्सरो वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः, वही, ४।३।४।३।

५. प्रजापतिर्वै यज्ञः गो० उ० २।१८; तै० ब्रा०, १।३।१०।१०।

में प्रयुक्त हुए हैं।[1] अतः यह संभाव्य है कि संहिता-काल में इन ऋतुओं में वर्षारम्भ होता था। यजुर्वेद-संहिता-काल में और तदनुसार आगे के सभी वैदिक समयों में वर्षारम्भ वसन्त ऋतु और मधुमास में होता था। श्री तिलक एवं अन्यों का मत है कि वर्षा का आरम्भ उत्तरायण के साथ होता था। वेदाङ्ग ज्योतिष में भी संवत्सरारम्भ उत्तरायणारम्भ में ही बता गया है, पर महाभारत और सूत्रादिकों में प्रथम ऋतु वसन्त मानी गई है और चैत्र तथा वैशाख वसन्त के मास बताए गए हैं। अतः वैदिक काल के पश्चात् दोनों पद्धतियों का प्रचार रहा होगा, क्योंकि वेदाङ्ग ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में उत्तरायण में वर्षारम्भ होने का उल्लेख नहीं है। ज्योतिष के सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में वर्ष का आरम्भ चैत्र से ही माना गया है।[2]

एकाष्टका

एकाष्टका (एक तिथि विशेष) को संवत्सर की पत्नी कहा गया है, जिसमें संवत्सर निवास करता है। जो व्यक्ति वार्षिक यज्ञ-सत्र करना चाहता है, उसे एकाष्टका के दिन सत्रारम्भ करना चाहिए।[3] अथर्ववेद (३।१०) में एकाष्टका सम्बन्धी कुछ उल्लेख पाये जाते हैं, जहाँ संवत्सर की प्रतिमाभूता रात्रि को उसकी पत्नी बताया गया है और उससे अपने मंगल को कामना की गई है[4] साथ ही बहुत संतति वाला और धनपति होने की इच्छा व्यक्त की गई है।[5] एकाष्टका ने तपस्या करके महिमायुक्त इन्द्र को उत्पन्न किया जिससे देवताओं ने शत्रुओं को दबाया और

---

१. शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छत मु वसन्तान्। अथर्व० ३।११।४।

२. भारतीय ज्योतिष, पृ १८७।

३. संवत्सराय दीक्षिष्यमाणा एकाष्टकायां दीक्षेरन्। एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्यां वा एष एतां रात्रिं वसति। तै० सं० ७।४।८।१ ;
एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्यां वा एतां रात्रिं वसति साक्षादेव तत्संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते। ताण्ड्य० ब्रा० ५।९।२।

४. संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमंगली।
संवत्सरस्य प्रतिमां यां रात्र्युपास्महे॥ अथर्व ३।१०।२-३; तु० मन्त्र ब्रा० २।२।१६; १८।

५ एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्। अथर्व० ३।१०।५।

शचीपति इन्द्र दस्युओं का हनन करने वाला हुआ।[1]

एकाष्टका सम्बन्धी उक्त उद्धरणों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि संवत्सर का आरम्भ एकाष्टका के दिन से होता था जो उसकी पत्नी कही गई है। यद्यपि वैदिक संहिताओं या ब्राह्मण ग्रन्थों में एकाष्टका को पारिभाषित नहीं किया गया है, जिससे इसका तत्कालीन शब्दार्थ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र में हेमन्त और शिशिर ऋतु के चार महीनों के अपर पक्ष की अष्टमी तिथि को एकाष्टका कहा गया है[2]। कभी-कभी द्वादश मासों के प्रत्येक कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि को भी एकाष्टका कहा गया है[3]। ताण्ड्य ब्रा० ५।९ में प्रयुक्त एकाष्टका शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सायण ने लिखा है कि यहाँ इसका प्रयोग गौण अर्थ में हुआ है। अपने कथन के प्रमाण में उन्होंने आपस्तम्ब[4] गृह्यसूत्र को उद्धृत किया है। आपस्तम्ब और जैमिनि दोनों ने माघकृष्ण अष्टमी को एकाष्टका कहा है जैसा मीमांसक लोग मानते हैं। संवत्सरारम्भ सम्बन्धी विशेष विवरण तैत्तिरीय संहिता ७।४।८१ एवं ताण्ड्य ब्रा० ५।९।१-१४ में विस्तृत रूप से प्रस्तुत हुआ है, जिसके आधार पर ही बाल गंगाधर तिलक ने संवत्सरारम्भ सम्बन्धी चार स्थानों का उल्लेख किया है— १. एकाष्टका, २. फाल्गुनी पूर्णमासी, ३. चित्रा पौर्णमास, एवं ४. किसी भी पूर्णिमा के चार दिन पहले का काल।

(१) एकाष्टका के दिन संवत्सरारम्भ मानने से तीन प्रकार की बाधाएँ तैत्तिरीय और ताण्ड्य ब्राह्मण के उद्धरणों में उल्लिखित हैं। माघ-कृष्ण अष्टमी आर्त समय में पड़ती है (आर्त वा एते संवत्सराभिदीक्षन्ते)। यह आर्तकाल तिलक ने शीतकाल बताया है, जिसका अनुमोदन शबर और सायण भी करते हैं। वे भी माघकृष्ण अष्टमी से ही संवत्सरारम्भ

---

१ एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः॥ वही, ३।१०।१३।

२. हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकाः। आ० गृ० सू० २।४।१।

३. द्वादशैकाष्टकाः द्वादशामावास्याः; ताण्ड्य० ब्रा० १०।३।११।

४. या माघ्या पौर्णमास्या उपरिष्टाद्व्यष्टका तस्याष्टमी ज्येष्ठया सम्पद्यते
तामेकाष्टकेत्याचक्षते। आपस्तम्ब० गृ० सू० ८।२१।१०।

मानते हैं[1]। दूसरी बात यह है कि यह दिन अन्तिम ऋतु के अन्त में पड़ता है अर्थात् पहले वर्ष की समाप्ति माघकृष्ण सप्तमी को हो जाती थी। तीसरी बाधा यह है कि इस दिन यज्ञारम्भ करने वाले व्यस्त क्रम से चलते हैं क्योंकि सूर्य इस समय दक्षिण से उत्तर की ओर हो गया होता है। शबर के अनुसार यह अयन का परिवर्तन है[2]। दूसरी तिथि जिससे संवत्सरारम्भ माना गया है वह है फाल्गुनी पूर्णमासी, जिसमें उक्त तीनों बाधाएँ नहीं है। इसे संवत्सर का मुख कहा गया है[3]। उत्तराफागुनी नक्षत्र युक्त (पूर्णिमा) को संवत्सर का मुख और पूर्वा फाल्गुनी को उसका पुच्छ कहा गया है।[4] फाल्गुनी पौर्णमासी को संवत्सर की प्रथम रात्रि कहा गया है।[5]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक काल में फाल्गुनी पौर्णमास से संवत्सरारम्भ माना जाता था। इस पद्धति में एक दोष है कि ऐसा मानने से विषुवान् वर्षाकाल में पड़ता है। इन दोषों के कारण दूसरा संवत्सरारम्भ काल खोजा गया। यह तीसरा स्थल चित्रा पौर्णमास था।[6] यह भी दूषण से रहित था। एवं चौथा किसी भी पूर्णिमा के पूर्व चौथा दिन संवत्सरारम्भ काल माना जाता था।[7] इससे यह सूचित होता है कि

---

१ दी ओरायन, पृ० ४८-९।

२. वही, पृ० ५०।

३ फाल्गुनीपूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनीपूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्यैकैवनिर्या यत्साम्मेध्ये (मध्ये) विषुवान् सम्पद्यते। तै० सं० ७।४।८।१; ताण्ड्य०, ५।९।१०।
मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी। कौ० ४।४।५।१; ताण्ड्य ब्रा० ५।९।८; गो० उ० १।१९।

४. मुखं (संवत्सरस्य) उत्तरेफाल्गुन्यौ पुच्छं पूर्वे। गो० उ० १।१९।

५. एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत् फाल्गुनी पौर्णमासी— श० ब्रा० ६।२।२।१८।
एषा प्रथमा रात्रिः संवत्सरस्य यत् पूर्वे फाल्गुनी—तै० ब्रा० १।१।२।९।

६. चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते। तै० सं० ७।४।८।१।
तस्य न निर्यास्ति। ताण्ड्य ब्रा० ५।९।११।

७. चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्ये दीक्षेरन्। वही, ७।४।८।१, ५।९।१२।

पहले एकाष्टका की भाँति इसका भी किसी विशिष्ट मास से सम्बन्ध नहीं था। चूंकि एक ही स्थान में तैत्तिरीय संहिता और ताण्ड्य ब्राह्मण में ये चारों विचार उल्लिखित हैं, जो विभिन्न परम्पराओं को द्योतित करते हैं। इससे श्री तिलक ने संवत्सरारम्भ दक्षिणायन (winter solstice) से माना है।[१] लुइ रेनो ने भी संवत्सरारम्भ दक्षिणायन से ही माना है।[२] सूत्र-लेखकों से यह सूचना प्राप्त होती है कि उस काल में वार्षिक यज्ञारम्भ चित्रा या फाल्गुनी पौर्णमास में होता था।[३] इस भिन्नता का कारण श्री तिलक ने नक्षत्र या संवत्सर चक्र का विभिन्न कालों में विभिन्न नक्षत्रों से आरम्भ माना है। उनके विचार से कृत्तिका के पहले भी मृगशिरादि चक्र प्रचलित था। मृगशीर्ष गणना में पहला वर्ष अग्रहायण माना जाता था जैसा कि उसके नामार्थ से सूचित होता है। इस गणना काल में (विशेषत: ऋ० १।१६३।३ और १०।८१ के आधार पर) वसन्त-संपात मृगाशीर्ष में था। "इस मृगादि गणना द्वारा ऋग्वेद संहिता के कुछ सूक्तों का काल शक पूर्व ४००० वर्ष सिद्ध होता है। इससे पहले" पुनर्वसु में संपात रहा होगा। "गणित द्वारा पुनर्वसु में संपात का काल शकपूर्व ६० ० वर्ष आता है", श्री तिलक के मत को उद्धृत करते हुए ऐसा स्व० बालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है।[४] लगभग इसीतरह की मान्यता श्री काणे ने भी प्रस्तुत किया है कि "यदि संवत्सरारम्भ प्रारम्भ में दक्षिणायनारम्भ से प्रारम्भ होता था तो तैत्तिरीय संहिता के ७।४।८ वाले उद्धरण का काल ४०००-६००० मानना होगा। उससे यह सूचित होता है कि विभिन्न कालों में संवत्सरारम्भ भिन्न-भिन्न मासों से माना जाता था।[५] "याकोबी

---

१. दी ओरायन---पृ० ३५-३७।

२ वैदिक इण्डिया, पृ० १३४-५।

३ तेषां (सांवत्सरिकाणां) फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चैत्र्यां वा प्रयोगः।
आश्व० श्रौ० सू० १।२।१४।३, कात्या० श्रौ० सू० ५।१।क; शाखा० श्रौ० सू० ३।८।०, १३।१८।३, द्रष्टव्य—दीओरायन, पृ० ६७।

४. भारतीय ज्योतिष, पृ० १९०।

5. "If the year began with the winter solstice in those days this reference would have to be placed at 4000-6000 B. C. This passage probably embodies traditions that the year began in different months in different periods of time." (History of Dharmasastra, Vol. V, pt. 1., p. 508).

ने मण्डूक सूक्त (ऋ० ७।१०३), सांख्यायन गृह्यसूत्र ४।५ एवं गोभिल गृह्यसूत्र ३।३, के आधार पर संवत्सरारम्भ प्रारम्भिक वैदिक काल में वर्षा ऋतु (भाद्रपद, या प्रौष्ठपद) से माना है, जब वेदारम्भ होता था।[1] वर्ष का आरम्भ शरत् (आश्विन) से और अन्त वर्षा ऋतु से होता था, ऐसा प्रतिपादन ए० सी० दास ने किया है।[2] ब्राह्मण ग्रन्थों में वसन्त में अग्न्याधान की बात कही गई है अतः संवत्सरारम्भ वसन्त ऋतु में होता था, ऐसा ज्ञात होता है।[3] वर्षा इसका पुच्छ था।[4]

उक्त सन्दर्भों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी विशिष्टकाल में संवत्सरारम्भ नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ थी जो संहिता से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। इनकी वैरूपता इन ब्राह्मण ग्रंथों के काल की नहीं है, अपितु परम्परा से चली आ रही परम्पराओं को द्योतित करने के कारण है।

संवत्सर-सत्र का मध्य दिन विषुवान् माना जाता था जिसे संवत्सर की आत्मा कहा गया है[5]। शतपथ ब्राह्मण में संवत्सर को महा सुपर्ण कहा गया है जिसका एक पंख विषुवान् दिवस के पूर्व का ६ माह है एवं दूसरा पंख विषुवान् के बाद का छः मास, बीच में विषुवान् आत्मा है[6]।

---

१ इ० एण्टि० १८९४, पृ० १५५ विशेष द्रष्टव्य—'एज आफ दी ऋग्वेद' पृ० ३७-४२।

२ ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ० ५०६ :

३ संवत्सरो वै व्रतं तस्य वसन्त ऋतुमुखं ग्रीष्मश्च वर्षाश्च पक्षौ शरन् मध्यः हेमन्तः पुच्छम्। ताण्ड्य ब्रा० २१।१५।२।
तस्य (संवत्सरस्य) वसन्तः शिरः; तै० ब्रा०, ३।११।१०।१२।
तस्य वसन्त एव द्वारम्—श० ब्रा० १।६।१।१९।

४. वर्षा उत्तरः (पक्षः संवत्सरस्य) तै० ब्रा० ३।११।१०।३।
वर्षा पुच्छम् (संवत्सरस्य) वही, ३।११।१०।४।

५. आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद्विषुवान्—ताण्ड्य ब्रा० ४।७।१।
आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवाङ्गानि पक्षौ—गो० पू० ४।१८;
श० ब्रा० १२।२।३।६; तु० जै० ब्रा० ३।३९१।

६. अथ ह वा एष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यान् पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति सोऽन्यतरः पक्षोऽथ यान् षडुपरिष्टोत्सोऽन्यतर आत्मा विषुवान्। श० ब्रा० १२।३।७।४।

अधिमास

संवत्सर में १२ मासों के अतिरिक्त एक तेरहवाँ मास अधिमास भी होता था इसकी पुष्टि अनेक वैदिक उद्धरणों से होती है[1]। तेरहवें महीने में सोम खरीदने से उस मास को निन्द्य कहा गया है। इसमें धार्मिक कृत्य आदि नहीं होता था[2]। किन्तु यह कथन है कि तेरहवें मास से संवत्सर प्राप्त किया जाता है[3]। प्रायणीयातिरात्र से तेरहवाँ मास प्राप्त किया जाता है[4]। इन उद्धरणों के पूर्व अथर्व, यजुष् एवं ऋक् संहिता में भी ऐसे संकेत प्राप्त हैं, जहाँ अधिमास वर्ष के होने का प्रमाण मिलता है। वाजसनेयि संहिता और कृष्ण यजुर्वेद में

---

१ अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते—अथर्व०, १३।३।८।
सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः। वही, ५।६।४।
द्वादशरत्नी रशना कर्तव्या ३ त्रयोदशरत्नीरिति। ऋषभो वा एष ऋतूनां यत् संवत्सरः। तस्य त्रयोदशो मासो विष्टपम्। तै० ब्रा० ३।८।३।३।
त्रयोदशरात्रीर्दीक्षितः स्यात् त्रयोदशमासाः संवत्सरः। तै० सं० ५।६।७।
द्वादश वा वै त्रयोदश वा संवत्सरस्य मासाः। श० ब्रा० २।२।३।२७; ५।४।५।२३।
त्रयोदश वै मासा संवत्सरस्य, श० ब्रा० ३।६।४।२४; मै० सं० १।११।८, काठ० १४।८।
नैवारश्चरुस्त्रयोदशो भवति, अस्ति मासस्त्रयोदशः। मै० सं० ३।४।११।

२. तं त्रयोदशान् मासादक्रीणस्तस्मात् त्रयोदशो मासो नानुविद्यते।
न वै सोम विक्रयानुविद्यते पापो हि सोमविक्रयी। ऐ० ब्रा०, ३।१।
नानुविद्यते—शुभकर्मानुकूलो नास्ति। सायण—यतोऽधिमासः सोमविक्रयी अतोऽसौ इतरमासवन्नानुविद्यते न वै सोमविक्रय्यनुविद्यते विद्यमानोऽपि कर्मानर्हत्वादसन्नेवेत्यर्थः—मलमासतत्त्व, पृ० ७८३।
हि० धर्म० जि० ५, भाग १ पृष्ठ ६७२।

३ एतावान् वै संवत्सरो यदेष त्रयोदशो मासस्तदत्रैव सर्वः संवत्सरः आप्तो भवति। कौ० ब्रा० ५।८, १९।२।

४. प्रायणीयेनातिरात्रेण त्रयोदशं मासमाप्नुवन्ति—जै० ब्रा० ३।३८६।

बारह मासों के अतिरिक्त क्रमशः संसर्प, मलिम्लुच और अंहस्पति[1] तथा संसर्प और अंहस्पति[2] का उल्लेख प्राप्त होता है। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भाग पर टीका करते हुए कहा गया है कि पहले अध्वर्यु दक्षिण की ओर जाता है इसके अनन्तर उत्तर की ओर। यह सूर्य की छः मास तक उत्तर की गति की ओर एवं छः मास तक दक्षिण की गति की ओर संकेत करता है। इनका कहना है कि एक तेरहवाँ मास भी होता है जिसकी स्तुति इस प्रकार करते हैं[3]। अथर्व वेद में छः मास शीत एवं छः उष्ण ऋतु के कहे गये हैं, जो इनसे अतिरिक्त ऋतु हैं वह बताओ ऐसा कहा गया है[4]। यहाँ अतिरिक्त ऋतु के रूप में तेरहवाँ मास ही उल्लिखित है जो अकेला था और जिसे सातवीं ऋतु कहा गया है[5]। मलिम्लुच नामक तेरहवें मास को इन्द्र का घर कहा गया है[6]। द्वादश मासों के अतिरिक्त होने के कारण इसे अधिमास कहते हैं[7]।

अधिमास का यद्यपि नामतः उल्लेख तो नहीं, किन्तु इसका संकेत ऋग्वेद संहिता से प्राप्त होता है, जहाँ यह बात कही गई कि वरुण बारह मासों के पास उत्पन्न होने वाले मास को जानता है। सायण ने इसका

---

१. संसर्पाय स्वाहा मलिम्लुचाय स्वाहा, अंहस्पतये स्वाहा;
वा० सं० २२।३०-३१।

२. मधुश्च माधवश्च—संसर्पोऽसि अंहस्पत्याय त्वा। कृष्ण यजु० १।४।१४;
वा० स० ७।३०।

३. प्रसिद्धमेवाध्वर्यु दक्षिणेन प्रपद्यते प्रसिद्धं प्रतिपस्थातोत्तरेण तस्मादादित्यष्षण्मासो दक्षिणेनेति षडुत्तरेण, उपयामगृहीतोऽसि संसर्पोऽस्यंहस्पत्यायत्वेत्याहास्ति त्रयोदशो मास इत्याहुस्तमेव तत्प्रीणाति।
कृष्णयुज० ब्राह्मण भाग, ५।३।१२; तु० तै० सं० ६।५।३४।

४. षडाहुश्शीतान् षडुमास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः। अथर्व० ८।९।१।

५. सप्तर्तवो ह सप्त, वही, ८।९।१८।

६. मलिम्लुचो नामासि त्रयोदशमास इन्द्रस्य शर्म। काठ० सं०, ३८।१४।

७. चैत्रादिनामक द्वादशमासेभ्योऽतिरिक्तत्वात् अधिकत्वादधिमासः।
कालनिर्णय कारिका १८ पर लक्ष्मीधर की टीका—
हि० धर्म०, जि० ५, भाग० १, पृ० ६७१।

अर्थ अधिक मास किया है[१]। इसी आधार पर विल्सन[२] ने भी अपने ऋग्वेद के अनुवाद में इसका ग्रहण अधिमास अर्थ में ही किया है।

यज्ञ में अधिमास के साथ इन तेरह महीनों को तेरह घड़ों से व्यक्त करते थे जिनमें उपांसु सवन नामक तेरहवें घड़े से तेरहवें मास का बोध होता था[४]। ताण्ड्य ब्राह्मण से ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ लोग इसकी सत्ता मानते थे और कुछ इसे नहीं भी स्वीकार करते थे[५]। त्रयोदशी के दिन तेरहवें मास के लिए पशु से यज्ञ करने का विधान प्राप्त होता है। ऐसा करके यजमान तेरहवें मास को प्राप्त करता है[६]।

---

१. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते। ऋ० १।२५।८।
वरुणः प्रजावतः तदा तदोत्पद्यमानप्रजायुक्तान् द्वादश मासान् चैत्रादीन् फाल्गुनान्तान्, वेद जानाति। यः त्रयोदशोऽधिकमासः उपजायते संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते तमपि वेद। ऋ० १।२५।८ पर सायण की व्याख्या।

२. वेदा य उपजायते
Who knows what is *upa* additionally or subordinately produced. The expression is obscure but in connection with the preceding who knows the twelve months we can not doubt the correctness of the scholiasts conclusion that the thirteenth, the supplementary or intercalary month of the Hindu luni-solar year, is alluded to; that "the thirteenth or additional month wich is produced of it self in connection with the year.
The passage is important, as indicating the concurrent use of luner and solar years at this period and the method of adjusting the one to the other."

३. "यस्त्रयोदशोऽधिमास उप जायते संवत्सर समीपे स्वयमेवोत्पद्यते"
"द्रप्स दी वेदिक सायकिल आफ इक्लिप्सेज", पृष्ठ १९।

४. द्वादश पात्राण्युपांशुसवनस्त्रयोदशं यत्तन्मीमांसते
पात्रा उन्नपात्रामिति मीमांसते हि त्रयोदशं मासं
मासा उन्न मासा उ इति। मै० सं० ३।१०।४।५।

५. त्रयोदशं मासं चक्षते नैव च—ता० ब्रा० १०।३।२।

६. अग्नीषोमीया त्रयोदशी उपस्थेयोऽस्ति। मासस्त्रयोदशः तमेवेतयाप्त्वावरुन्धे।
मै० सं० १।५।५।६।

उक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल में लोगों को तेरहवें मास का पूर्ण ज्ञान था एवं इससे वे चान्द्र, सौर या नाक्षत्र वर्ष से समीकरण स्थापित करते थे जो वैदिक यज्ञीय पंचाङ्ग को शुद्ध रखने के लिये आवश्यक था। यद्यपि यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि वैदिक काल के प्रारम्भिक दिनों में इस अधिमास की अवधि कितनी थी। किन्तु चान्द्र और सौर वर्षों का अन्तर १२ दिनों का होता है, इन बारह दिनों में लोग यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य संपादन करते थे। इन बारह रात्रियों को संवत्सर की प्रतिमा कहा गया है[१]। तीन सौ चौवन दिन का वर्ष मानने वाले इन १२ दिनों को यज्ञीय कर्मों में व्यतीत कर संवत्सर को पुनः प्राप्त कर लेते थे[२]। चूँकि ३५४ दिन के वर्ष का स्पष्टतः उल्लेख सामवेद के सूत्र ग्रन्थों में मिलता है अतः वैदिक इण्डेक्स में अधिमास की प्रक्रिया का ज्ञान ब्राह्मण काल तक आसान नहीं माना गया है और इसके विषय में कोई निर्णय नहीं लिया गया है। किन्तु चन्द्र-सूर्य की गति के ज्ञानाभाव में ऊपर के अनेकों उदाहरणों में उल्लिखित अमा-पूर्णिमा आदि तिथियों का ज्ञान असम्भव सा है अतः वैदिक लोगों को सौर चान्द्र मास का ज्ञान अवश्य था, अन्यथा ऋतुओं का निर्धारण और तिथियों का ज्ञान असम्भव हो जायगा। अतः अधिमास का ज्ञान लोगों को था जिसका संकेत ऋग्वेद से प्राप्त होता है[३] जहाँ ऋभुलोग १२ दिन तक अगोह्य के घर सोये रहे। त्सिमर ने इन उद्धरणों में ३५४ दिन के चान्द्र वर्ष में १२ दिन जोड़ कर सौर से समीकरण के आधार पर अधिमास का स्पष्ट संकेत पाया है[४]। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों ने इनके विचार को उचित न बताते हुए इन १२ दिनों को मात्र संवत्सर की प्रतिमा माना है। पर मेक्डानल आदि का यह निर्णय अशुद्ध प्रतीत होता

---

१. संवत्सरस्य प्रतिमा वै द्वादश रात्रयः—तै० ब्रा० १।१।६।७।
द्वादश वा वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा, मै० सं० १।६।१२;
का० सं० ७।१५।

२. प्रजापतिसंवत्सरः, तै० ब्रा० १।१।६।७, ९।१०।
प्रजापति यज्ञो वा एष यद्द्वादशाहः—वही, ४।२५।

३. ऋ० ४।३३।७, १।११०।२; १।१६१।२३।

४. वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी अ०) जि० २, पृ० ४५६-७।
लुइरैनो, वेदिक इण्डिया, पृ० १३४-१३५।

है[1] यतः तेरहवें मास का स्पष्ट उल्लेख संहिताओं में प्राप्त है। उक्त इन १२ दिनों में किन्हीं विशिष्ट यज्ञों का विधान नहीं था तथा वैदिक युग में दो प्रकार के याज्ञिकों का संप्रदाय था ऐसा ज्ञात होता है। एक वह जो इन बारह दिनों को छोड़ता था और दूसरा वह जो उन्हें नहीं छोड़ता। उक्त तथ्य इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि ऋग्वेद एवं बाद के वैदिक युग में अधिमास की यह प्रक्रिया पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित थी। शाम शास्त्री ने अधिमास के दिनों की संख्या ९, ११, १२ या २१ तक मानी है[2]। लगता है वैदिक काल में १२ दिन प्रत्येक वर्ष में जोड़ने की प्रक्रिया को लोगों ने छोड़ दिया और ढ़ाई वर्ष बाद ($१२ \times \frac{५}{२} = ३०$) पूरा एक मास जोड़ने लगे और यही अन्तर पाँच वर्ष की युग प्रक्रिया में २ मास का हो गया जिसका एक भाग २½ वर्ष बाद और दूसरा पाँच वर्ष के बाद जोड़ा जाता था जैसा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से स्पष्ट है[3]। किन्तु यह भी एक स्थूल प्रक्रिया थी, क्योंकि सौर वर्ष के वास्तविक परिमाण से १२ दिन चान्द्र वर्ष में जोड़ने से वर्ष $\frac{३}{४}$ दिन बढ़ जाता था और यह अन्तर ४० वर्षों में $४० \times \frac{३}{४} = ३०$ दिनों के बराबर हो जाता था जिससे वैदिक काल में यज्ञों के मुहूर्तों के आनयन में बाधा पड़ती थी अतः वैदिक ऋषि ४० वर्षों में एक महीना छोड़ दिया करते थे जिसकी सूचना ऋग्वेद से संकेत रूप में मिलती है जहाँ अदिति के आठ पुत्र कहे गये हैं। सात उसने देवों को दे दिया जो सप्त ऋतुओं के अधिपति थे, आठवाँ मार्तण्ड था जिसे उसने मृत्यु को दे दिया[4]। मृत्यु को देने का कोई दूसरा उचित अर्थ नहीं प्रतीत होता क्योंकि इस आदित्य (आठवें) मास को ४० वर्ष बाद छोड़ दिया जाता था जिसका संकेत ऋग्वेद में ही पाया जाता है जहाँ ४०वें वर्ष में

---

१. एज आफ दी ऋग्वेद, पृ० १८-२९।

२. 'द्रप्स' दी वैदिक सायकिल, पृ० २३।

३. पञ्च च संवत्सरयुगमिति।——एवमर्धतृतीया नामाब्दानामधिमासकम्।
ग्रीष्मे जनयतः पूर्व पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्। अर्थशास्त्र, देशकालमान २।२०।

४. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत् पूर्व्यं युगम्
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत्॥ ऋ० १०।७२।८-९।

इन्द्र द्वारा अपने शत्रु को पाये जाने का उल्लेख है[1]। अतः अधिमास की प्रक्रिया वैदिक काल में लोगों को पूर्णरूपेण ज्ञात थी[2]।

इस प्रकार अधिमास के विषय में तीन मुख्य बातें ज्ञात होती हैं—

(१) पहले वैदिक ऋषि चन्द्रमास में नाक्षत्र या सौर वर्ष के समीकरण के लिए १२ दिन जोड़ते थे, किन्तु बाद में वे इस प्रथा को छोड़ दिये और प्रत्येक चान्द्र वर्ष के तीसरे वर्ष एक महीना पूरा जोड़ने लगे।

(२) इस काल में कोई याज्ञिक क्रिया सम्पन्न नहीं की जाती थी। इसमें केवल उपसद और दीक्षा की क्रिया होती थी।

(३) इस काल को यज्ञों का फलनाशक एवं अपवित्र कहा गया है जिसे मलिम्लुच और विनामक नामों से अभिहित किया गया है[3]। इस काल में वरुण और नृर्ऋति आदि देवता पाश लिए हुए रहते हैं जो इससे पापों की मुक्ति कराते हैं। बारह दिन के इस काल में पापों का क्षय होता है यह ऐतरेय ब्राह्मण के एक उद्धरण से सिद्ध होता है[4]। तीन वर्षों में यह अधिमास का काल १२×३=३६ दिनों के बराबर होता है, जो ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित है। अथर्ववेद में इन बारह रात्रियों को प्रजापति के व्रत की रात्रि कहा गया है[5]। इसी में उल्लिखित वरुण के ७×३=२१ पाशों का

---

१. यः शंबरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥
ऋ० २।१२।११।

२. एज आफ दी ऋग्वेद, पृ० २९।

३. वत्सरान्तर्गतः पापः यज्ञानां फलनाशकृत्।
नैर्ऋतेर्यातुधानाद्यैस्समाक्रान्तो विनामकः॥ इत्यादि ज्योतिश्शास्त्रे विरुद्धनामको विनामकः कुतः मलिम्लुचादिनामकत्वात् (स्मृतितत्त्व, पृ० ७७८)।

४. त्र्यश्च वा एते त्र्यहा आदशममहराद्वावतिरात्रौ यद्द्वादशाहो द्वादशाहानि दीक्षितो भवति। यज्ञिय एव तैर्भवति द्वादश रात्रीरुपसद उपैति। शरीरमेव ताभिर्धुनुते। द्वादशाहं प्रसूते धूत्वा शरीरं धूत्वा शुद्धः पूतो देवता अप्येति। य एवं वेद। षट्त्रिंशदहो वा एष यद् द्वादशाहः, ऐ० ब्रा० ४।४।२४।

५. द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद अनडुहो व्रतम्॥ अथर्व० ४।११।११।

संकेत भी २१ दिन के अधिमास से प्रतीत होता है, जिसकी शक्तियों से पापियों को बाँधा जाता है एवं सत्पुरुषों को मुक्त कर दिया जाता है[1]।

ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न वैदिक ज्योतिर्विदों के संप्रदाय में अधिमास के दिनों की संख्या विभिन्न हुआ करती थी जो उनके द्वारा स्वीकृत किन्हीं दो प्रकार के वर्षों के अन्तर को ठीक करने के लिए ग्रहण की जाती थी—उदाहरणार्थ जो सम्प्रदाय ३५४ दिन का चान्द्र वर्ष स्वीकार करता था उसे ३६६ दिन के सौर वर्ष से समन्वित करने के लिए १२ दिन उस वर्ष में जोड़ने पड़ते थे जिनमें १२ पंक्तियों के साम मन्त्र से अन्तिम दिन प्रार्थना की जाती थी। इसी प्रकार जो सम्प्रदाय नाक्षत्र चान्द्रवर्ष (Siderial lunar year) २७ × १३ = ३५१ दिन के मानते थे उन्हें इसमें ९ दिन जोड़ कर उसका ३६० दिन के सावन वर्ष से मिलान के लिए संस्कार करना पड़ता था। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक काल में इस प्रकार के अनेक गणकों के सम्प्रदाय थे जो इन अधिमास के दिनों में बड़े-बड़े यज्ञ और धार्मिक कृत्य किया करते थे। इस प्रकार के अधिमास के दिनों को "गवां अयन" इस शीर्षक के अन्तर्गत संग्रहीत किया गया है, जो बाद में अधिवर्ष (Intercalary year) के प्रतीक बन गये।

इस प्रकार का विवेचन "निदान सूत्र" एवं लाट्यायन के "श्रौतसूत्र" में विशद रूप से किया गया है। निदान सूत्र में पाँच प्रकार के संवत्सरों का निरूपण हुआ है[2]। प्रथम सावन वर्ष है जो ३६० दिन का होता है। दूसरा वर्ष सावन वर्ष से ३६ दिन, तीसरा ९ दिन एवं चौथा ६ दिन कम होता है एवं पाँचवाँ उससे १८ दिन बड़ा होता है। जो वर्ष सावन वर्ष से ३६ दिन कम होता है उसे नाक्षत्र वर्ष कहते हैं जिसके प्रत्येक माह में

---

१. ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनंतु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ अथर्व० ४।१६।६।

२. अथातःसंवत्सर वर्गाणां। पञ्चसंवत्सरा वर्गाः। तेषु धीरो मनीषया कर्मण उपसदो विद्यात् संस्था वा एषु व्रतानि च। षट्त्रिंशोनो नवोनश्च षडहोऽनथ सावनोऽष्टादशभिर्ज्यायानहोभिः सावनात्परो नाक्षत्रमिति मासश्च तस्य चैव त्रयोदश चान्द्रमसस्सावनश्चोभावथाष्टादश्युत्तरोऽष्टा सप्तत्रिंशते पौर्णमास्यां प्रसाधयेत्। निदान सूत्र—क्रमशः।

२७ दिन होते हैं, क्योंकि नक्षत्रों की संख्या २७ है। इसमें २७ × १२ = ३२४ दिन) होते हैं। तीसरा वर्ष (३५१ दिन) जो सावन दिन से ९ दिन कम होता है वह नक्षत्र वर्ष ही है, जिसके मास २७ दिन के होते हैं पर मासों की संख्या तेरह होती है (१३ × २७ = ३५१)।

जो वर्ष (३५४ दिन) सावन वर्ष से छह दिन कम है वह चान्द्र वर्ष है, जिसके प्रथम छह मास तीस दिन के एव दूसरे छह मास २९ दिन के होते हैं (३० × ६ = १८० + २९ × ६ = १७४ = ३५४)। सावन वर्ष की व्याख्या हो चुकी है, जिसमें ३६० दिन होते हैं। इसके बा ह मास तीस दिन के होते हैं। इस प्रकार एक मास में ३० × १२ = ३६० दिन होते हैं। इसे ही आदित्य संवत्सर भी कहते हैं। यह नाक्षत्र सौर वर्ष के समान ही कहा गया है जो ३६६ दिन का होता हैं। मूलतः इस वर्ष का उल्लेख पाँच प्रकार के वर्षों में नहीं है, जिससे लक्षित होता है कि पहले सावन वर्ष (३६० दिन) नाक्षत्र वर्ष था जिसमें $१३\frac{१}{३}$ दिन के २७ चक्र होते थे ($१३\frac{१}{३}$ × २७ = ३६०) जो बाद में सूक्ष्म ज्ञान होने पर सुधार लिया गया जिसका वास्तविक मान २७ × $१३\frac{५}{९}$ = ३६६ दिन स्वीकृत हुआ जो इस ज्ञान का परिणाम था कि सूर्य को एक नक्षत्र को पार करने में एक दिन के $\frac{२}{९}$ भाग तुल्य काल और अधिक लगता है। सूर्य प्रत्येक नक्षत्र पर $१३\frac{१}{३}$ दिन एवं $\frac{२}{९}$ कला रहता है। $\frac{२}{९}$ कला तुल्य समय का २७ चक्रों में अन्तर $\frac{२}{९}$ × २७ = ६ दिन का एक वर्ष में हो जाता है, जो सावन दिन से छह दिन बड़ा होता है।[1]

---

१. गवामयनस्योपायांश्चतुरः प्रतिपादयेत्। तेषां नाक्षत्रः प्रथमस्तस्य सप्तविंशिनो मासाः सप्तविंशतिर्नक्षत्राणीति। तस्य कल्पः प्रथमस्य प्रथमस्याभिप्लवस्य स्थाने त्रिकद्रुकत्र्यहं कुर्यात्प्राग्विषुवत उत्तमस्योत्तमस्योर्ध्वम्। विषुवतः ते खल्वभिप्लवतन्त्र एव क्लृप्ताः स्युरित्येके। एते चाधिकृता न चापि निवर्तयत्यथापि दृश्यते त्र्यहस्त्र्यह तन्त्रे क्लृप्तो यथा स्वरसामानस्त्रिकद्रुकपञ्चाङ्श्चाभिप्लवतन्त्रे। सप्तदश रात्रे। स्वरतन्त्रा इत्यपरम्। एवं च तन्त्राविलोपः अपि च सत्रेषु त्रिकद्रुकत्र्यहः स्वतंत्रो भवति।

अथ नवोनस्तस्यैवं त्रयोदश मासाः संभार्ययोर्मासयोर्नवाहं लुम्पे। चतुरहमेव प्राग्विषुवतः पञ्चाहमूर्ध्वं तस्य कल्पः प्रथमस्याभिप्लवस्य स्थाने ज्योतिषं नात्र विषुवानभिभवत्युत्तरेऽत्र पक्षसि विषुवानुपर्यंख्यायत इति।

वह वर्ष जो सावन वर्ष से १८ दिन अधिक है ३७८ दिन का होता है। यह सूर्य की उत्तर और दक्षिण गति के कारण होता है। सूर्य छह मास ९ दिन तक दक्षिण और छह मास ९ दिन तक उत्तर रहता है। इस प्रकार ३० × ६ + ९ = १८९ × २ = ३७८ दिन का यह वर्ष होता है[1]।

वर्षपरिमाण

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं वर्ष का सामान्य मान ३६० दिन था जो १२ मासों में विभक्त था। यज्ञ संबन्धी कार्यों में विशेषतः इसके

---

१. अथ षडूनाश्चांद्रमसाः षट्पूर्णोपक्रमाः ऊनावसानाः पूर्वे पक्षसि मासास्स्युः। ऊनोपक्रमाः पूर्णावसाना उत्तरे तस्य कल्पः प्रथमस्य प्रथमस्याभिप्लवस्य स्थानेऽभिप्लवपञ्चाहं कुर्यात् प्राग्विषुवत ऊनेषु मासेषु उत्तमस्योत्तमस्योर्ध्वं विषुवतः।

व्याख्यातस्सावनः। स एष आदित्यसंवत्सरो नाक्षत्र आदित्य खलु शश्वदेतावद्भिरहोभिर्नक्षत्राणि समवेति त्रयोदशाहं त्रयोदशहमेकैकं नक्षत्रमुपतिष्ठत्यहस्तृतीयं च नवधा कृतयोरहोरात्रयोर्द्वे द्वे कले चेति। सांवत्सरास्ताश्चतुष्पञ्चाशतं कलाः ते षण्णववर्गाः स षट् षष्ठित्रिशतः षष्ठित्रिशते। श्लोकौ भवतः—अथष्टादशभिज्यायोनादित्यसंवत्सर एव तैर्यगयनिको भवति आदित्यः खलु शश्वदेका षण्मासानुदङ्ङेति नव चाहानि तथा दक्षिणा। तदप्येते श्लोका भवन्ति। निदान सूत्र ५।११।१२,

तु० ज्योतिषामयनं विकल्पाः। तत्र यदादितोन्ततस्तदूर्ध्वं विषुवतः। मासि मास्याद्यस्याभिप्लवस्य स्थाने विकद्रकाः। स षट्त्रिंशदूनो नाक्षत्रस्सप्तविंशिनो हि मासाः। षष्ठाद्यस्याभिप्लवस्य स्थाने ज्योतिर्गौश्च ज्योतिरेवावृत्ते स नवोनो नाक्षत्र एव त्रयोदशी युग्ममासेष्वाद्यस्याभिप्लवस्य स्थाने तत्पञ्चाहः स षडूनश्चांद्रमसः। षष्ठादौ त्रिकद्रकानाभिप्लवं चोपदध्यात् सोऽष्टादशाधिकः पौर्णमासी प्रसवस्तैर्यगयनिक आदित्यस्य।

लाट्यायन श्रौ० सूत्र ४।८।१-७।

उत्सर्जनानि मासि मासि। यथान्त एवमावृतानामादिः। पूर्वेष्वभिप्लवेषु षष्ठमहरुक्थं कृत्वाग्निष्टोममुत्तमे। तद्वैकत्रिकस्तोमम्। सवनविधं पशुं कुर्वन्नुत्तममभिप्लवपञ्चाहं कृत्वा षष्ठस्थाने सवनविधः पशुः। प्रथमं चाभिप्लव पंञ्चाहं कृत्वा मासान्ते सवनविधः पशुः। सर्वानूनानेके प्रथममभिप्लवपञ्चाहं कुर्युः। व्यत्यासं वा पूर्णोनानूनपूर्णानावृतान् शालंकायनिनः।

वही, ४।८।८-२०।

प्रयोग के कारण इसे सावन वर्ष कहा गया है। इसीलिए वैदिक साहित्य में अधिकतया इसी का सर्वत्र विवरण प्राप्त होता है। अधिमास प्रक्रिया में ७,९,११,१२,२१ या पूरे १ मास जोड़ने का भी उल्लेख मिलता है जिससे अधिमास का मान विभिन्न प्रकार का था पर सामान्यतया प्रत्येक वर्ष १२ दिन जोड़े जाते थे जो बाद में २½ वर्ष में एक मास या ३ वर्ष के पश्चात् ३६ दिन या ५ वर्ष में २ मास के तुल्य था। अतः अधिमास वर्ष भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न अवधिवाला था। चान्द्र वर्ष में जब २१ दिन जोड़ा जाता था तब तीन वर्ष के पश्चात् चौथा वर्ष ३८१ दिन का होता था एवं जब एक माह जोड़ा जाने लगा तब यह ३६०+३०=३९० दिन का होता था जिसका स्पष्ट ज्ञान ऋग्वेदिक लोगों को था ऐसा थीबो ने लिखा है।[1] एक मास में तीस[2] पैंतीस[3] या छत्तीस[4] दिन होने का उल्लेख प्राप्त होता है। सावन वर्ष के अतिरिक्त काल गणना के लिए अन्य परिमाणवाले वर्षों का भी प्रयोग होता था। वैदिक साहित्य में ३२४ दिन या ३५१ दिन (१२ या १३ नाक्षत्र चान्द्रमास जो २७ दिन का होता था) का पहला; दूसरा ३५४ दिन का चान्द्रवर्ष (२९½ दिन का एक मास); या ३६६ दिन का नाक्षत्र सौर वर्ष (२७ नक्षत्रों में प्रत्येक पर १३⅟₉ दिन तक सूर्य के रहने का काल) का भी उल्लेख मिलता है।[5] इस प्रकार लगता है कि वैदिक काल में तीस दिन के सावन मास और वर्ष के अतिरिक्त अन्य प्रकार के मान भी प्रचलित थे।

युग एवं युगव्यवस्था

युग शब्द का प्रयोग वैदिक काल में प्रचुरता से हुआ है। केवल ऋग्वेद में इसका प्रयोग तैंतीस बार हुआ है, किन्तु वहाँ उसके अर्थों में विभिन्नता पाई जाती है[6]। कुछ उद्धरणों में इसका प्रयोग

---

१. हि० धर्म०, जि० ५, भाग १, पृ० ४९०।
२. अथर्व० १३।३।८।
३. श० ब्रा० १०।५।४।५।
४. वही, ९।१।१।४३, ३।३।१८, द्र० गवां अयन, पृ० १२२।
५. बार्नेट, एण्टीक्वीटीज आफ इण्डिया; पृ० २२३-२२४।
६. द्रष्टव्य—हि० धर्म०, जि० ३; पृ० ८८६-८९,
भारतीय विज्ञान के कर्णधार पृ० ६९-७०।

जूवा[1], कुछ में लघु काल[2], कुछ में पीढ़ी[3], कुछ में चार या पाँच वर्ष के काल[4] एवं कुछ में दीर्घ काल[5] के अर्थ में हुआ है।

प्रयोगों के आधार पर युग शब्द के विभिन्न अर्थ अवश्य ही प्रतीत होते हैं। "दीर्घतमा मामतेय दशम युग में बुढ्ढा हुआ", ऋग्वेद के इस उद्धरण में श्री तिलक ने युग शब्द पर विशेष रूप से विचार किया है[6]। यहाँ उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि बहुत से विद्वान् युग शब्द का अर्थ चार या पाँच वर्ष वाले वेदाङ्ग ज्योतिष के काल में प्रचलित युगमान से लगाते हैं और ५० वर्ष में दीर्घतमस के जराक्रान्त होने की बात कहते हैं। "पिटर्सवर्ग" शब्द कोष में ऋग्वेद में आये एक दो उदाह-

---

१. यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरणायकम्, ऋ० १०।६०।८।
युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वम्, वही, १०।१०१।३।
सीरायुञ्जन्ति कवयो युगावितन्वते पृथक्, वही, १०।१०१।४।

२. अश्वो न क्रन्दं जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिः युगे-युगे।
वही, ३।२६।३।

३ प्रमिनती मनुष्या युगानि, वही, १।९२।११।
अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि, वही, १।१२४।२।
दिव इवेदर तिर्मानुषा युगा, वही, २।२।२।
आ यत् ते घोषानुत्तरा युगानि, वही, ३।३३।८,
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः, वही, ५।५२।४;
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि, वही, १०।१०।१०।

४. दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे, वही, १।१५८।६,
षोल्हा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति, वही, ३।५५।१८।

५. युगे युगे विदथ्यं गृणद्भ्योऽग्ने रयिं यशसं धेहि नव्यसीम्। वही, ६।८।५,
त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे, वही, ६।१५।८,
उक्थेषु शस्य मानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे, वही, १०।७२।१,
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत, वही, १०।७२।२,
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम्, वही, १०।७२।९,
त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा, वही, १०।१४०।६,
ध्रुवा एव वः पितरो युगे युगे, वही, १०।९४।१२,
या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा, वही, १०।९७।१।

६. आर्क० होम०, पृ० ५८-५९।

रणों को छोड़कर सर्वत्र इसका अर्थ कालवाचक न करके पीढी (जेनरेशन) परक किया गया है एवं ग्रासमान आदि ने प्रायः यही अर्थ किया है किन्तु इतनी बात तो निश्चित ही है कि यद्यपि ऋग्वेद में इसके विभिन्न अर्थ मिलते हैं पर उनमें कालपरक एक अर्थ भी युग का है। इतनी बात अवश्य है कि इस काल का परिमाण कितना है यह निश्चित ज्ञात नहीं। साथ ही यह भी विचारणीय है कि यदि युग का पढ़ी (जनरेशन) परक अर्थ भी माना जाय तो भी उसका काल से तो संवन्ध है ही। युग शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ किन्हीं दो वस्तुओं का संयोग या युग्म (कपुल) है, जो दो दिन-रात, पक्ष, मास या ऋतुओं का युग्म हो सकता है या सूर्य और चन्द्रमा के संयोग अर्थात् एक मास का भी द्योतक हो सकता है। कलि-युगारम्भ के समय सभी ग्रहों का सूर्य के साथ साहचर्य होने के कारण उसे युग कहा जाता है। किन्तु कालपरक अर्थ करने पर उसका परिमाण कितना हो यह व्युत्पत्तिगत अर्थ के आधार पर नहीं सुलझाया जा सकता। युग शब्द के प्रयोगात्मक आधार पर एक दिन से लेकर एक वर्ष, पाँच वर्ष, दस वर्ष या इससे भी अधिक समय-बोध का अर्थ किया जा सकता है। जहाँ तक युग शब्द का दीर्घकालीन अर्थ संबन्धित है यह तथ्य भलीभाँति देखा जा सकता है कि दो प्रकार के युगमान ऋग्वैदिक ऋषियों के मन में थे जहाँ वे "मानुषा युगा" और "देवानां युगे" अर्थात् मानुष-युग एवं दिव्य युग में अन्तर रखते थे। युगों का उत्तर और पूर्व युगों में विभाजन भी उनके पूर्वापर क्रम को सूचित करता है। श्री तिलक ने ऋग्वेद के बहुत से उद्धरणों के आधार पर दीर्घतमस के उद्धरण को छोड़ कर अन्य बहुत से स्थलों पर युग का परिमाण एक वर्ष से कम का माना है[1]। उत्तरयुग, पूर्वयुग, मनुष्य युग और देवयुग इस प्रकार के विशेषण काल के दो विभिन्न दीर्घमानों को सूचित करते हैं। अथर्ववेद में दस हजार वर्ष वाले युग का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर (एक) दो, तीन और चार

---

1. "Apart from the legend of Dirghatamas we have, therefore, sufficient evidence in the Rigveda to hold that the word *yuga* was used to denote a period of time, shorter than one year and that the phrase '*manusayuga*' meant human ages or the period of time between the first and the last dawn of year and not human generations."

The Arctic Home., pp. 162-63.

युगों का उल्लेख मिलता है पर उनका नाम या पूर्ण परिमाण नहीं दिया गया है। पर इतना निश्चित है कि यहाँ पठित युगमान युग का दीर्घ-कालिक मान है, ऋग्वेद की तरह स्वल्पकाल का नहीं।

उक्त उदाहरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल से लेकर अथर्व[1] संहिता के काल तक का युग का प्रयोग एक दिन से लेकर एक मास, दस मास, एक वर्ष, पाँच वर्ष, दस वर्ष, एक सौ वर्ष और दस सहस्र वर्ष वाले कालमान को सूचित करने के लिए हुआ है। स्वयं ऋग्वेद के काल में भी देवयुग और मनुष्य युग का अन्तर समझा जाता था। वैदिक कालीन देव और मानुष युग की कल्पना के आधार पर ही महा काव्यों, स्मृतियों एवं पुराण आदि ग्रन्थों में दिव्य और मानव वर्षों की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा आभास मिलता है। महाभारत और पुराणों में देवयुग का सुस्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

पञ्चसंवत्सरात्मक युगव्यवस्था

अब तक वैदिक कालीन काल गणना के विषय में अध्ययन प्रस्तुत करते हुए वैदिक संहिताओं से लेकर सूत्रकाल तक की सामग्री का अव-लोकन हम कर चुके हैं, जिसमें अहोरात्र के विभिन्न अवयवों से लेकर संवत्सर एवं युगों तक का उल्लेख प्राप्त हुआ है। किन्तु तत्कालीन किसी सुव्यवस्थित युग प्रणाली के प्रचलित होने का उल्लेख वहाँ नहीं प्राप्त होता है। ज्योतिष का सर्व प्राचीन ग्रन्थ "वेदाङ्ग-ज्योतिष"[3] है, जिसकी

---

१. शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।

अथर्व० ८।२।२१ ।

२. ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन् ।

यज्ञं वेद प्रमाणेन विधिवद्यष्टुमीप्सवः ॥ महा० सौ०, १८।२ ।

एवं देवयुगानां तु सहस्राणि परस्परात् ।

गतानि ब्रह्मलोकं वै अपरावर्तिनीं गतिम् ॥ वायु० ७।३१-३२,

तु० वही, १०१।६८ ।

एवं देवयुगानीह दशकृत्वा निवर्तते ।

एवं देवयुगानीह व्यतीतानि सहस्रशः ॥ वायु० ६१।१३१-१३२ ।

३. आजकल वैदिक ब्राह्मण लोग ३६ श्लोकात्मक इस ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं किन्तु इसके अतिरिक्त सोमाकार की टीका से युक्त यजुर्वेद ज्योतिष

रचना संभवतः वेदाङ्ग काल में ज्योतिष शाखा को पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर हुई होगी, जिसमें हम सर्व प्रथम दिवस ,ऋतु, अयन और मास अङ्गों-वाली पंचसंवत्सरात्मक युग व्यवस्था का उल्लेख पाते हैं। इसमें लगध द्वारा प्रवर्तित काल ज्ञान की प्रक्रिया विवेचित करने की प्रतिज्ञा की गई है[1]। यद्यपि यहाँ युग में पाँच वर्ष वताये गये हैं, पर इनके नाम यहाँ

नामक दूसरा ग्रन्थ भी है। इसके अन्त में 'शेषकृत यजुर्वेदाङ्ग ज्योतिष' लिखा है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद ज्योतिष नामक तीसरा ग्रन्थ है, जो पहले दोनों से भिन्न है। ऋग्वेद ज्योतिष में ३६ श्लोकों में से ३० श्लोक यजुर्वेद ज्योतिष में आये हैं तथा १९ श्लोक अधिक हैं। इस प्रकार इसमें सब मिलाकर ४९ श्लोक प्राप्त होते हैं।

रचनाकाल—इसके रचना काल के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इस प्रकार इसे मैक्समूलर ई० पू० ३०० वर्ष, बेवर ५०० ई० सन्, ह्विटनी १३३८-९ ई० पू० एवं अयन चलन के आधार पर शंकर बालकृष्ण दीक्षित १४१० ई० पू० का मानते हैं (भारतीय ज्योतिष, पृ० १२३-१२५)। पाश्चात्य विद्वान् अधिकतया इसे ई० पू० ४०० की रचना मानते हैं। श्री काणे ने प्रो० लुइ रेनों के विचार उद्धृत करते हुए इसे कम से कम ८ शताब्दी ई० पू० की रचना माना है (हि० धर्म०, जि० ५, भाग १, पृ० ५०५, टिप्पणी ७३२)। डा० सत्यप्रकाश ने दक्षिणायनारम्भ एवं उत्तरयणारम्भ के उल्लेख के आधार पर (चूँकि उस समय उत्तरायणारम्भ धनिष्ठा के आदि में होता था और आज वह मूल नक्षत्र के मध्य में होता है अतः यह अन्तर ३$\frac{1}{2}$ नक्षत्रों का होता है। एक नक्षत्र चलने में अयन को ९५० वर्ष लगते हैं। अतः ३$\frac{1}{2}$ नक्षत्रों के चलने में ९५० × ३$\frac{1}{2}$ = ३३२५ वर्ष लगेगें। वेदाङ्ग ज्योतिष को उन्होंने आज (१९५४) से ३३५०, अर्थात् १४७१ ई० पू० पुराना माना है। वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा; पृ० ८९। रेने टाटेन द्वारा सम्पादित 'ए जेनरल हिस्ट्री आफ साइन्सेज', पृ० १३५, १९६३ लन्दन, नामक पुस्तक में इस ग्रन्थ को ई० पू० ३०० से ई० सन ३०० के मध्य रचा गया बताया गया है।

१. पञ्च संवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनत्वयनभासाङ्गं प्रणम्य शिरसा शुचिः।
प्रणम्य शिरसा कालमभिध्याय सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः॥ ऋग्वेद ज्यो० १-२।

पठित नहीं हैं। किन्तु वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं परिवर्ती साहित्य में इन नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पाँच वर्षों के एक समूह का जो प्रत्येक छह ऋतुओं में विभक्त था संकेत मिलता है[1]। संवत्सर के अलावा ऋग्वेद में परिवत्सर (१०।६२।२) एवं परिवत्सरीण शब्द (७।१०३।८) आया है। संवत्सर और परिवत्सर पाँच संवत्सरों में से दो के नाम हैं। वाजसनेयि संहिता में इनके नाम संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर एवं वत्सर कहे गये हैं।[2] तैत्तिरीय संहिता में इदावत्सर के स्थान पर इदुवत्सर शब्द आया है[3]। अथर्व वेद में संवत्सर, परिवत्सर और इदावत्सर के लिए नमस्कार किया गया है[4]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अग्नि, आदित्य, चन्द्र और वायु संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और अनुवत्सर के प्रतीक कहे गये हैं। यहाँ चार नाम ही उल्लिखित हैं। इनका संवन्ध चार चातुर्मास्यों वैश्वदेव, वरुणप्रघास, शाकमेध, और सुनासिरीयसे बताया गया है[5]। ये अन्यत्र संवत्सर, परिवत्सर,[6] इदुवत्सर, परिवत्सर, संवत्सर[7] संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर एवं अनु-

---

माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्ण समापिनः।
युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते ॥ वेदाङ्ग ज्यो०, ५।

१. षाषहा युक्ताः पञ्चपञ्चा वहन्ति, ऋ० ३।५५।१८।
२. संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि।
वाज० सं० २७।४५; तु० वही, ३०।१६।
३. तै० सं० ५।५।७।१-३।
४. अथर्व० ६।५५।३।
५. अग्निर्वाव संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इदावत्सरः। वायु पुनरनुवत्सरः। यद्वैश्वदेवेन यजते। अग्निमेव तत्संवत्सरमाप्नोति तस्माद्वैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरीणां स्वस्तिमाशास्तइत्याशासीत्। यद्वरुणप्रघासैर्यजते। आदित्यमेव तत्परिवत्सरमाप्नोति। यत्साकमेधैर्यजते चन्द्रमसमेव तदिदावत्सरमाप्नोति। यत् पितृयज्ञेन यजते देवानेव तदन्ववस्यति। अथवा अस्य वायुश्चानुवत्सरश्चाप्रीतावुच्छिछ्येते। यच्छुनासीरीयेण यजते वायुमेव तदनुवत्सरमाप्नोति। तै० ब्रा० १।४।१०।१-३।
६. अथर्व० ८।८।२३; तै० आ० १०।८०।
७. तै सं० ५।७।२।४।

वत्सर[1] एवं संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, तथा इद्वत्सर[2] आदि विभिन्न नामों से उल्लिखित हैं।

यद्यपि उपर्युक्त उल्लिखित संवत्सर आदि नामों की संख्या और क्रम में भिन्नता विभिन्न उद्धरणों में दिखाई पड़ती है, जो इस बात की ओर संकेत करती है कि इनका उल्लेख पंचसंवत्सरात्मक युग को ध्यान में रख कर नहीं किया गया है, किन्तु ये धार्मिक कृत्यों के संदर्भ में उल्लिखित वत्सर के पर्याय मात्र हैं[3], फिर भी इतना तो निश्चित है कि जहाँ इनके पाँच या छह नामों का उल्लेख है वे काल गणना वाले युग विशेष से ही संबद्ध हैं, क्योंकि सभी जगह इनके एक से अधिक नामों का एक साथ संकलन है। परिवर्ती साहित्य के उद्धरण भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। इन नामों पर टीका करते हुए बालकृष्ण दीक्षित ने लिखा है कि तैत्तिरीय और वाजसनयि संहिताओं में संवत्सर संबन्धी अनेक उदाहरण आये हैं। इस प्रकार कहीं पाँच, कहीं छह और कहीं चार नाम ही आये हैं और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार से। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये वेदाङ्ग ज्योतिष के पंचसंवत्सरात्मक युग के ही प्रचारदर्शक हैं तथापि वेदोत्तरकालीन बहुत से ग्रन्थों में पंचसंवत्सरात्मक तथा उसके अवयवी भूत संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इदवत्सर नामक इन संवतों का निर्देश अनेक स्थानों में है अतः उनका पूर्व परंपरागत कोई आधार अवश्य होना चाहिए। सारांश यह है कि वैदिक काल में प्रचलित युग पद्धति सर्वथा वेगाङ्ग ज्योतिषोक्त पंच सवत्सरात्मक युगपद्धति सरीखी न रही हो तो भी उसका कुछ अंशों में इससे साम्य अवश्य रहा होगा।

मैत्रायणी संहिता[5] से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक काल में

---

१. वाज० सं० १५।१५।

२. तै० आ० ४।१९।१।

३. वैदिक इण्डेक्स, (हि० अ०) भाग २, पृ० ४५५।

४. भारतीय ज्योतिष, पृष्ठ ३७।

५. त्रिंशद्वै रात्रयो मासः यो मासः स संवत्सरः। संवत्सरः प्रजापतिः। वैश्वदेवेन चतुरो मासो युवत। वरुणप्रघासैः परांश्चतुरः साकमेधैः परांश्चतुरः। ऋतुयाजी वा अन्यश्चातुर्मास्य याज्यन्यः। यो वसन्तोऽभूत् प्रावृडभूच्छरदभूदिति यजते स ऋतुयाजी। अथ यस्त्रयोदशं मासं संपादयति त्रयोदशं मासमभियजते स चातुर्मास्य याजी। मैत्रायणी संहिता १।१०।८।

यज्ञकर्ताओं के दो संप्रदाय थे, पहला ऋतु-याजी एवं दूसरा चातुर्मास्य-याजी। इनमें से ऋतु याज्ञिकों का संप्रदाय वह था, जो यह सोच कर यज्ञ करता था कि जो वसन्त था वह वर्षा हो गया एवं जो वर्षा था वह शरद हो गया। जो तेरहवें मास को प्राप्त कर उसके लिए यज्ञ करता था वह चातुर्मास्ययाजी कहलाता था। चातुर्मास यज्ञों का सम्बन्ध वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं शाकमेध यज्ञों से था। इनमें से ऋतुयाजियों का संप्रदाय गणना के लिए ३५४ दिनों का चान्द्र[1] वर्ष स्वीकृत किया था, जिसे सौर या नाक्षत्र वर्ष (३६६ दिन) के साथ प्रतिवर्ष ठीक नहीं किया जाता था। इस प्रकार प्रति वर्ष बारह दिन की कमी के कारण ३० या ३२ वर्षों में पुनः इसके आरम्भिक विन्दु को प्राप्त कर लेते थे। इसी से 'जो वसन्त था वह ग्रीष्म हो गया एवं जो ग्रीष्म था वह पतझड़ हो गया, ऐसा कहा गया है। वे लोग जो इन घूमती (बदलती) हुई ऋतुओं में यज्ञ किया करते थे वे ऋतु याजी कहे गये[2] एवं दूसरे चातुर्मास्ययाजी लोग थे जो तीन सौ चौवन दिन के वर्ष को नाक्षत्रवर्ष (३६६ दिन) से छोटा नहीं होने देते थे किन्तु इसका समन्वय वे (१२×५=६० दिन) २ मास प्रति पाँचवें वर्ष या ४ चार मास प्रति दशवें वर्ष जोड़कर कर लिया करते थे। बारह दिन के उद्धरण से स्पष्ट है कि नाक्षत्रवर्ष के साथ लोग चान्द्रवर्ष का समन्वय करते थे। इस प्रकार तीन वर्ष में अतिरिक्त दिनों की संख्या १२ × ३ = ३६ और २ वर्ष में २४ दिन हो जाती है तथा दोनों मिल कर पाँच वर्षों में एक मास के तुल्य होते हैं। इस प्रकार पाँच वर्ष के नाक्षत्रवर्ष

---

१. वैदिक काल में गणना के लिए कई प्रकार के वर्ष प्रचलित थे यह बात उत्सर्गिणामयन से, जो गवां अयन की एक विकृति है, ज्ञात होती है। इसमें एक संप्रदाय संवत्सर के कुछ दिनों को छोड़ देता था। इसका विवेचन तैत्तिरीय संहिता ७।५।६ में तथा ताण्ड्य ब्राह्मण ५।१०।२ में हुआ है जहाँ कहा गया है कि यदि संवत्सर में कुछ दिन छोड़े नहीं गये तो वह चमड़े की भाथी की तरह फूल जायगा। इसी से ऐसा भी ज्ञात होता है कि कुछ लोग इसे छोड़ते थे और कुछ इसे नहीं भी छोड़ते थे—उत्सृज्यां ३ नोत्सृज्या ३ मिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः।

२. ऋतुयाजिन् और चातुर्मास्य याजिन्—इनकी विशेष व्याख्या के लिए द्रष्टव्य-'दी थर्टिन्थ मन्थ इन ऐंशियेण्ट हिन्दू क्रोनालिजी' द्वारा बी० फेडेगान, अस्सूरडम, 'एक्टा ओरियण्टालिया' जि० ४, पृ० १२४-१३३।

के साथ सामंजस्य के लिए चान्द्रवर्षों में २ मास का काल जोड़ा जाता था। चातुर्मास्ययाजी के लिए एक तेरहवाँ वर्ष भी होता है इस कथन से स्पष्ट है कि चार मास के ये तीन अधिमास के काल थे जिनमें यज्ञों का अनुष्ठान किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि (तीस वर्षों में) जब चार-चार महीनों के तीन काल जोड़ दिए जाते थे तो वैदिक ऋषि अपनी यज्ञीय अग्नि की नूतन स्थापना करते थे[1]।

उक्त उद्धरण से हमें यह नहीं समझना चाहिए कि वैदिक ऋषि दस वर्षों में चार महीने एक बार जोड़ते थे जिसमें वे यज्ञ किया करते थे। अपितु यह अधिमास प्रक्षेप की एक विधि थी, इसके अतिरिक्त अन्य विधियाँ भी प्रचलित थीं। चूंकि त्रयोदश मास का हमें वेदों में अकसर ही उल्लेख मिलता है अतः ऐसा लगता है कि वे ढाई वर्ष के बाद एक मास का प्रक्षेप करते थे। इसलिए जहाँ कहीं तेरहवें वर्ष का उल्लेख मिलता है वहाँ सौर-चान्द्र तिथि-क्रम का ढाई वर्ष का काल जानना चहिए। पाँच वर्ष में दो महिनों का प्रक्षेप बीस वर्षों में आठ महिनों के तुल्य हो जायगा। ये ही अदिति के आठ पुत्र कहे गये हैं जो आठ अधिमासों के देव हैं। 'प्रजा उत्पत्ति की कामना से अदित ने चरु बनाया। उसके द्वारा अवशेष के भक्षण करने पर अर्यमा और धाता उत्पन्न हुए। उसने दुबारा चरु बनाया जिससे मित्र और वरुण हुए, उसने फिर चरु बना कर खाया उससे अंश और भाग की उत्पति हुई। उसने फिर पाक बनाया उससे इन्द्र एवं आठवें मृत अण्ड मार्तण्ड की उत्पत्ति हुई।' इन्हें उच्छिष्ट से उत्पन्न हुआ कहा गया है। जो व्यक्ति अग्न्याधान करना चाहता है उसे एक वर्ष छोड़ देना चाहिए। उसे बारह रात्रियों को छोड़ देना चाहिए क्योंकि ये संवत्सर की प्रतिमा कही गई हैं[2]।

---

१. त्रेधा विहितानि चातुर्मास्यानि। संवत्सरं वै चातुर्मास्यानि। संवत्सरेणाग्निं मन्थति। मैत्रायणी सं० १।१०।७।

२. अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्। सोच्छिष्टमश्नात्। तस्या धाताचार्यमा चाजायेताम्। सापरमपचत्। सोच्छिष्टमश्नात्। तस्या मित्रश्च वरुणश्चाजायेताम्। सापरमपचत्। सोच्छिष्टमश्नात्। तस्या अंशश्च भगश्चाजायेताम्। सापारमपचता सैक्षतोच्छिष्टं मेऽश्नत्या द्वौ-द्वौ जायेते।········ उच्छिष्टभागा वा आदित्याः।········संवत्सरमुत्सृजेताग्निमाधास्यमानो

उक्त आख्यान के अनुसार अदिति के तीन जोड़े पुत्र यदि पन्द्रह सौर एवं चान्द्र वर्षों में पड़ने वाले छह अधिमासों के अधिपति हैं तो चौथे जोड़े के इन्द्र और अर्धमृत मार्तण्ड की समस्या रह जाती है। वे अगले ५ वर्ष में पड़ने वाले दो अधिमासों के देव हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतुओं को ठीक-ठीक सौर वर्ष (३६५-१/४ दिन) ही प्रतिष्ठित रख सकता है, नाक्षत्र वर्ष (३६६ दिन) नहीं क्योंकि यह पूर्व से ३/४ दिन बड़ा होता है। इस प्रकार बीस वर्षों में यह अन्तर ३/४ × २० = १५ दिन का हो जायगा। आरम्भ में वैदिक ऋषियों ने यह अन्तर आठ महीनों का माना होगा किन्तु इससे ऋतुओं में व्यत्यास उत्पन्न हो गया होगा जिसे ठीक करने के लिए उन्होंने ऐसा परिवर्तन किया [1]। जो पूर्ण नहीं था उस आठवें को छोड़ कर अधिमासों के अधिपति आदित्यों को सात की संख्या द्वारा ही प्रकट किया गया है।[2] यहाँ उल्लिखित अतिरिक्त ऋतु इन अधिमासों का ही द्योतक हैं, ऐसा शामा शास्त्री का मत है [3]। उन्होंने अथर्ववेद के उस उद्धरण का उल्लेख किया है, जिस में संवत्सर को सहस्र अक्षरों वाला कहा गया है तथा दूसरे उद्धरण में सूर्य रूपी हंस

नास्याग्निं गृहाद्धरेयुर्नान्यता आहरेयुः। संवत्सरे वृद्धा गर्भाः प्रजायन्ते प्रजातमेनं वृद्धमाधत्ते। द्वादश रात्रीरुत्सृजेत द्वादश वै रात्रयः संवत्सरस्य प्रतिमा। मैत्रायणी सं० १।६।१२।

१. 'द्रप्स' दी वैदिक सायकिल आफ इक्लिप्सेज, पृष्ठ ५९-६१।

२. षडाहुश्शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः॥
सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्त ऋतवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परिभूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥
अथर्व० ८।९।१७-१८।

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥
इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ अथर्व ९।९।२-३।
साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति। वही, ९।९।१६।

३. द्रप्स, दी वेदिक सायकिल, पृ० ८१।

को एक हजार पंखों वाला बताया गया है जो आकाश में उड़ता है [1]। यदि मन्त्रों में उल्लिखित हंस के पंखों की संख्या पर ध्यान दें दोनों पक्षों की संख्या १००० × २=२००० दिन होती है। इन दिनों में चान्द्र वर्षों

$$\text{की संख्या} = \frac{२०००}{२९ \text{ दि० } १२ \text{ घ० } ४५ \text{ मि०}} = \frac{२००० \times ३२}{९४५} = \frac{१२८००}{१८९} = ६७$$

चान्द्रमास और २२ दिन अधिक होते हैं यदि चान्द्रमास का परिमाण २९ दिन १२ घण्टा और ४५ मिनट माना जाय। उनके विचार से यहाँ पर बीस वर्ष के चक्र का पंच वर्षात्मक अन्तिम चक्र ७½ अधिमासों सहित उल्लिखित है। पाँच वर्षों में चान्द्र दिनों की संख्या ५ × ३५४=१७७० दिन तथा १२ × २०=२४० दिन, दोनों मिलाकर १७७० + २४०= २०१० होती है जिसमें १० दिन अधिक होता है। यही १० की संख्या पुरुष सूक्त में पुरुष से दस अङ्गुल अतिरिक्त कही गयी है।[2] अथर्व वेद १०।८।७, १३ एवं १२।४।२२ में बीस वर्षात्मक चक्र ८ अधिमासों सहित उल्लिखित है[3]। आगे चलकर इन अधिमास वर्षों की संख्या न ७ एवं न ८ अपितु ठीक ७½ कही गयी है।[4] किन्तु स्पष्टतः यह बात नहीं ज्ञात होती कि यह अधिमास कितने दिन का होता था और कब जोड़ा जता था? सप्त संख्या से उल्लिखित होम, समिधा ,मधु, ऋतु, आज्य आदि किस वस्तु के प्रतीक हैं ऐसा कुछ निश्चय ढंग से नहीं कहा जासकता। वस्तुतः यह शमा शास्त्री का अनुमान मात्र है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में ३६० दिन के वर्ष के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वर्ष का जिस में १२ मासों के अलावा एक १३ वाँ मास भी जोड़ा जाता था वर्णन प्राप्त होता है जो अनुमानतः (३६० + ३०) = ३९० दिन का होता था[5], ऐसा विचार श्री

---

१. एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्रपुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद्बभूव ॥
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंयस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥
अथर्व १०।८।७।१८ तु० वही, १३।२।३८।

२. द्रप्स दी वेदिक सायकिल, पृ० ७६-७७।

३. अष्टाचक्रं वर्तते एकनेमी सहस्राक्षरं प्र पुरो निपश्चा।

४. सप्तार्धगर्भं भुवनस्य रेतः; अथर्व ९।१०।१७।

५. हि० धर्म०, जि० ५, भाग १; पृ० ४८९-९०।

थीवो ने अपने ग्रन्थ गुण्ड्रिस, पृ० ७ में व्यक्त किया है[१]।

वेदाङ्ग ज्योतिष के अनुसार एक वर्ष में ३६६ दिन, दो अयन और १२ सौर मास होते हैं। युग इसका पंच गुणित होता है[२]। इससे स्पष्ट है कि एक युग में ३६६ × ५ = १८३० सूर्योदय होते हैं। युग में सावन मास की संख्या ६१, चान्द्रमास की ६२ और स्तृमास (नाक्षत्रमास) की ६७ (षष्टिः ससप्तिका) होती है।[३] सावन दिन से उसका ६२ वां भाग घटा देने पर जो शेष रहता है उसे चान्द्र (दिन या तिथि) कहते हैं। सौर दिन से तिथि छोटी होने के कारण (युग के) मध्य और अन्त में अधिमास आते हैं।[४] सोमाकर द्वारा उल्लिखित गर्ग वचनों में भी युग की दिन संख्या १८३० ही बतायी गई है।[५]

ऋग्वेद ज्योतिष श्लोक ४ के 'षष्ट्या षष्ट्या युतं द्वाभ्यां पर्वाणां राशिरुच्यते' से ज्ञात होता है कि साठ पर्व, अर्थात् ३० चान्द्रमास के बाद एक अधिमास होता था।[६] पाँचों संवत्सरों का लक्षण सोमाकर द्वारा उल्लिखित गर्ग वचनों के आधार पर इस प्रकार कहा गया है।[७] अयन,

---

१. वही, पृ० ४९०।

२. त्रिंशत्यह्नां सषट् षष्टिरब्दः षड् ऋतवोऽयने।
मासा द्वादश सूर्याः स्युरेतत् पञ्चगुणं युगम्॥ यजुर्वेद ज्यो० श्लो० २७।

३. सावनेन्दुस्तृमासानां षष्टिः सैका द्विसप्तिका।
द्युत्रिंशत् सावनः सार्धः स्तृणां सपर्ययः॥ वही, । ३०।

४. द्यूनं द्विषष्टिभागेन हेयं सूर्यात् सपार्वणम्।
यत्कृतावुपजायेते मध्ये चान्ते चाधिमासकौ॥ वही, । ३७।

५. त्रिशच्चाष्टादशशतं (१८३०) दिनानां च युगं स्मृतम्।
(गर्गोक्त वचन, भारतीय ज्यो० पृ० १२२, यहाँ सावनादि दिनों का भी विवेचन हुआ है)।

६. भारतीय ज्योतिष, पृ० ९९।

७. अयनान्यृतवो मासाः पक्षास्त्वृक्षं तिथिर्दिनम्।
तत्त्वतो नाधिगम्यन्ते यदाब्दो नाधिगम्यते॥
यदा तु तत्त्वतोऽब्दस्य क्रियतेऽधिगमो बुधैः।
तदैवैषाममोहः स्यात् क्रियाणां चापि सर्वशः॥
तस्मात् संवत्सराणां तु पञ्चानां लक्षणानि च।
कर्माणि च पृथक्त्वेन देवतानि च वक्ष्यति।

ऋतु, मास, पक्ष, नक्षत्र, तिथि और दिन का ज्ञान तब तक ठीक नहीं हो सकता जब तक वर्ष का तत्त्वतः ज्ञान न हो, इसके ज्ञान से ही संपूर्ण व्यावहारिक क्रियाएँ चलती हैं। इसलिए संवत्सरों का लक्षण और उनमें होने वाले कर्मों का निरूपण करता हूँ। जब माघ शुक्ल प्रतिपदा के दिन सूर्य धनिष्ठा नक्षत्र में हों तो उत्तरायण एवं जब चन्द्रमा चित्रा नक्षत्र एवं सूर्य आश्लेषार्ध पर हो तो श्रावण शुक्ल सप्तमी से दक्षिणायनारम्भ होता है, यह संवत्सर नामक पहला वर्ष है, जिसका अधिपति अग्नि है। जब सूर्य माघ शुक्ल त्रयोदशी को धनिष्ठा एवं चन्द्र आर्द्रा पर हो तो उत्तरायणारम्भ एवं सूर्य आश्लेषार्ध एवं चन्द्रमा पूर्वाभाद्रपद पर हो तो दक्षिणायनारम्भ होता है। इस समय परिवत्सर नामक वर्ष होता है जिसका

यदा माघस्य शुक्लस्य प्रतिपद्युत्तरायणम्।
सहोदयं श्रविष्ठाभिः सोमार्कौ प्रतिपद्यतः ॥
तदात्र नभसः शुक्लः सप्तम्यां दक्षिणायनम्।
सर्पार्धे कुरुते युक्ति चित्रायां च निशाकरे ॥
प्रथमः सोऽग्निदैवत्यो नाम्ना संवत्सरः स्मृतः।
यदा माघस्य शुक्लस्य त्रयोदस्यांमुदग्रविः ॥
युक्ते चन्द्रमसा रौद्रे वासवं प्रतिपद्यते।
चतुर्थ्यां नभसः कृष्णे तदार्को दक्षिणायनम् ॥
सपर्धे कुरुते सूर्यस्त्वज युक्ते निशाकरे।
द्वितीयश्चार्कदैवत्यः स नाम्ना परिवत्सरः ॥
कृष्णे माघस्य दशमीं वासवादौ दिवाकरः।
उदीचीं दिशमातिष्ठन् मैत्रस्थेऽनुष्णतेजसि ॥
नभसश्च निवर्तेत शुक्लस्य प्रथमे तिथौ ॥
चन्द्रर्काभ्यां सुयुक्ताभ्यां सर्पार्धे वायुदैवतम् ॥
तदा तृतीयं च तं प्राहुरिदासंवत्सरं जनाः ॥
सप्तम्यां माघशुक्लस्य वासवादौ दिवाकरः ॥
अश्विनीसहिते सोमे यदाशामुत्तरं व्रजेत्।
सोमे चाप्येनसंयुक्ते सर्पार्धस्थो दिवाकरः ॥
व्रजेद् याभ्यां शुक्लस्य श्रावणस्य त्रयोदशीम्।
चतुर्थमिन्दुदैवत्यमाहुश्चाथानुवत्सरम् ॥ इत्यादि

विशेष द्रष्टव्य–भारतीय ज्यो०; पृ० १०१–१०३।

अधिपति सूर्य है। जब माघ शुक्ल १० को सूर्य धनिष्ठा और चन्द्रमा अनुराधा नक्षत्र पर हो तो उत्तरायण, एवं आश्लेषार्ध पर सूर्य एवं आश्लेषा पर चन्द्रमा के होने पर दक्षिणायनारम्भ हो तो वायु दैवत वाला तीसरा इदावत्सर वर्ष होता है। माघ शुक्ल ७ को धनिष्ठा नक्षत्र पर सूर्य, अश्विनी पर चन्द्र तथा उत्तरायण आरम्भ होने से तथा श्रावण शुक्ल त्रयोदशी को सूर्य के आश्लेषार्ध एवं चन्द्रमा के पूर्वाषाढा नक्षत्र पर दक्षिणायनारम्भ होने से चोथे चन्द्राधिपतिवाले अनुवत्सर का प्रारम्भ होता है। माघ शुक्ल ४ धनिष्ठा पर सूर्य एवं उत्तरा फाल्गुनी पर चन्द्र से उत्तरायण एवं श्रावण कृष्ण १० आश्लेषार्ध पर सूर्य एवं रोहिणी पर चन्द्र से दक्षिणायनारम्भ होने से मृत्यु देवता वाले इद्वत्सर का प्रारम्भ होता है।

उत्तरायणारम्भ				दक्षिणायनारम्भ		
संवत्सर	तिथि	सू० नक्षत्र	च० नक्षत्र	तिथि	सूर्यनक्षत्र	चन्द्रनक्षत्र
संवत्सर	मा०शु० १	धनिष्ठा	धनिष्ठा	श्रा० शु० ७	आश्लेषार्ध	चित्रा
परिवत्सर	" १३	"	आर्द्रा	" कृ० ४	"	पूर्वभाद्र
इदावत्सर	"कृ१०	"	अनुराधा	" शु० १	"	आश्लेषा
अनुवत्सर	"शु ७	"	अश्विनी	" शु०१३	"	पूर्वाषाढा
इद्वत्सर	"कृ ४	"	उत्तराफा०	" कृ०१०	"	रोहिणी

पंचसंवत्सरचक्र - गर्ग के आधार पर

सुश्रुत संहिता में भी कालावयवों का वणंन करते हुए युगों का मान पाँच वर्ष ही बताया गया है।[1] महाभारत में भी पंच वर्षात्मक युग प्रणाली प्रचलित थी, ऐसा ज्ञात होता है। आदि पर्व में पाण्डु पुत्रों को पाँच संवत्सरों के समान कहा गया है, सभापर्व में पाँच संवत्सरों का एक युग एवं पाँचवे वर्ष में दो अधिमासों का उल्लेख विराट् पर्व में मिलता है। किन्तु इस काल तक ज्योतिषोक्त युगमान अपनाए जाने के कारण उक्त

१—अथ खल्वयने द्वे युगपत् संवत्सरो भवति ते तु पञ्चयुगमिति संज्ञां लभन्ते। एष एव निमेषादिर्युगपर्यन्त कालः। सुश्रुत ६।९ (सुश्रुत की तिथि २००० ई०पू० कही गई है, द्रष्टव्य— सुश्रुत संहिता, प्राक्कथन, पृ० १२, काशी ग्रन्थमाला)।

प्रणाली का निर्देश मात्र ही हुआ है।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाँच वर्षों का युग बताते हुए इसमें दो अधिमासों के योग की बात कही गयी है, जिसमें पहला अधिमास २½ वर्ष के बाद एवं दूसरा पाँच वर्ष के अन्त में जोड़ा जाता था[2]।

वराह की पंचसिद्धान्तिका से पता चलता है कि पितामह सिद्धान्त के अनुसार युग सूर्य और चन्द्रमा के पाँच वर्ष का होता था, जिसमें ३०-मास के उपरान्त एक अधिमास एवं ६२ वर्षों के पश्चात् एक क्षायमास होता था।[3] ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) ने संहिताकारों द्वारा पाँच वर्ष का युग मान कर इसके द्वारा लाए गये अधिमास, तिथि आदि को असत् (स्थूल) बताया है[4]। बृहत्संहिता की भटोत्पल टीका में पंचसंवत्सरात्मक पद्धति का ऋग्ज्योतिष का एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें पाँच वर्षों वाले युग के काल ज्ञान को बताने की बात कही गई है[5]।

---

१ अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव ।। महा० आदिपर्व १२४।२२ ।
संवत्सरा पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः । महा० सभा० ११।३८ ।
तेषां कालातिरेकेण ज्योतिषां च व्यतिक्रमात् ।
पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौमासावुपजायतः ।।
एषामभ्यधिकाः मासाः पञ्च च द्वादश क्षयाः ।
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः ।। महा० विराट्पर्व ५२।३-५ ।

२—पञ्चसंवत्सरो युगमिति ।.........एवमर्धतृतीयानामब्दानामधिमासकम् ।
ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम् । अर्थशास्त्र २।२० ।
देशकालमान, पृ० १०९ ।

३—रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि ।
अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ट्या तु ।। पंच सि० १२।१ ।
वराह के अनुसार पितामह सिद्धान्त में शक २ गत को अपना इष्ट बताया गया है (द्यूनं शकेन्द्र कालं)। इससे सिद्ध होता है कि इसकी रचना ८० ई० के लगभग हुई होगी (हि० धर्मशास्त्र, जिल्द ५, भाग १, पृ० ४८८)

४—युगमाहुः पञ्चाब्दं रविशशिनोः संहिताकाराश्च ये ।
अधिमासावमरात्रस्फुटतिथ्यज्ञानतस्तदसत् ।। ब्रह्मसिद्धान्त ११।२ ।

५—युगस्य पञ्चमस्येह (पञ्चवर्षस्य) कालज्ञानं निबोधत ।
भारतीय ज्यो०, पृ० १३४ ।

यद्यपि पुराणों के काल में युगों के बृहद्मान स्वीकृत किये जा चुके थे जिनका प्रयोग स्मृति काल के पहले से ही चला आरहा था, किन्तु उसमें इनके अतिरिक्त पंचसंवत्सरात्मक युग पद्धति का उल्लेख भी वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, लिङ्ग, विष्णु आदि प्राचीन स्तर के पुराणों में सुरक्षित बच गया है। इस प्रकार वायु पुराण में कालात्मा प्रजापति पाँच भागों में प्रविभक्त कहा गया है, जिनके नाम संवत्सर, परिवत्सर, इद्वत्सर, अनुवत्सर एवं वत्सर हैं।[1] ये ही नाम विष्णु पुराण में भी पठित हैं, जिन्हें युग-संज्ञक काल कहा गया है[2]। ग्रह, ऋक्ष एवं ताराओं में स्थित होकर परमाणु से लेकर संवत्सर पर्यन्त यह विभु कालचक्र घूमता रहता है जो संवत्सर, परिवत्सर इत्यादि नामों से जाना जाता है[3]।

अन्यत्र भागवत पुराण के अनुसार सूर्य की मन्द, शीघ्र एवं सम गति के कारण जितने समय में सूर्य द्वारा द्यावा और पृथिवी मण्डल के सहित नभोमण्डल की संपूर्ण प्रदक्षिणा होती है, उस कल को संवत्सर, परिवत्सर अनुवत्सर आदि कहा जाता है[4]। लिङ्ग पुराण में नक्षत्रों में प्रथम श्रविष्ठा

१—कालात्मा स प्रजापतिः।
पञ्चानां प्रविभक्तानां कालावस्थां निबोधत।
दिनार्धमासमासैस्तु ऋतुभिस्त्वयनैस्तथा॥
संवत्सरस्तु प्रथमो द्वितीयः परिवत्सरः।
इद्वत्सस्तृतीयस्तु चतुर्थश्चानुवत्सरः॥
वत्सरः पञ्चमस्तेषां कालः स युगसंज्ञितः॥ वायु० ३१।२५-२८।
इत्येतत् पञ्चवर्षं हि युगं प्रोक्तं मनीषिभिः।
यच्चैव पञ्चधात्मा वै प्रोक्तः संवत्सरो द्विजैः॥ वही, ३१।४९-५०।

२—संवत्सरादयः पञ्च चतुर्मास विकल्पिताः।
निश्चयः सर्व कालस्य युगमित्यभिधीयते॥
संवत्सरस्तु प्रथमो········ कालोऽयं युगसंज्ञितः॥ विष्णु० २।८।७१-७३।

३—ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत्।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः॥
संवत्सरः परिवत्सरः इडावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते॥
·················तस्मै बलिं हरत वत्सर पञ्चकाय॥ भा० ३।११।१३-१५॥

४—अथ च यावन् नभो मण्डलं सह द्यावा पृथिव्योर्मण्डलाभ्यां कार्त्स्न्येन सह

(घनिष्ठा), अयनों में उत्तरायण एवं पंचसंवत्सरों में संवत्सर, ऋतुओं में शिशिर, मासों में माघ, पक्षों में शुक्ल पक्ष, तिथियों में प्रतिपक्ष, अहोरात्रों में दिन, मुहुर्तों में रुद्रदैवत एवं क्षणों में निमेषादि प्रथम कहे गये हैं। धनिष्ठा के आदि से श्रवण के अन्त तक चलने वाला यह युग पाँच वर्षों का कहा गया है,[1] जो सूर्य की गति विशेष के कारण चक्रवत् घूमा करता है। नक्षत्र मण्डल का विधिवत् ज्ञान वैदिक काल में हो चुका था, क्योंकि २८ नक्षत्रों के नाम अथर्ववेद (१९।६।१-५) एव उनके देवताओं का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता ४।४।१०, तैत्तरीय ब्राह्मण १।५।१ एवं ३।१।४।६ में विस्तृत रूप से हुआ है, जहाँ नक्षत्रों का प्रारम्भ कृत्तिका से किया गया है। इससे स्पष्ट है कि समयानुसार नक्षत्रारम्भ प्राचीन काल से बदलता रहा है।

वायु पुराण में पंच संवत्सरात्मक युग-व्यवस्था का पूर्ण वर्णन सुरक्षित है, जिसमें ऋतु अग्नि को संवत्सर कहा गया है। परिवत्सर का नियामक सूर्य, इद्वत्सर का सोम, अनुवत्सर का वायु एवं वत्सर का अधिप रुद्र[2] को बताया गया है। संवत्सरों के अधिपतियों का यह वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मण के काल से चलाता हुआ वेदाङ्ग काल, गर्ग आदि की संहिताओं, पुराणों एवं अन्य स्मृतिग्रन्थों से लेकर वराह मिहिर के काल तक उल्लिखित हुआ है। पुराणों में इन का संग्रह परंपरया कर लिया गया है किन्तु मूलतः ये

भुञ्जीत तं कालं संवत्सर परिवत्सरमिडावत्सरमनुवत्सरं वत्सरमिति भानोर्मान्द्यशैध्य्रसमगतिभिः समामनन्ति। भा० ५।२२।७।

१—नक्षत्राणां श्रविष्ठा स्यादयनानां तथोत्तरम्।
वर्षाणां चैव पञ्चानां आद्यः संवत्सरः स्मृतः॥
ऋतुनां शिशिरश्चापि मासानां आद्य उच्यते।
पक्षाणां शुक्लपक्षस्तु तिथीनां प्रतिपत्तथा॥
अहोरात्रविभागानामहश्चादिः प्रकीर्तितम्।
मुहूर्तानां तथैवादिमुहूर्तो रुद्रदैवतः॥
क्षणश्चापि निमैषादिः कालः कालविदांवराः॥
श्रवणान्तं धनिष्ठादि युगं स्यात् पञ्चवार्षिकम्॥
लिङ्ग० १।६१।५२-५५, वायु० ५३।११२-११६।

२—वायु० ३१।२४-३४; तु० ब्रह्माण्ड०२।२८।२१-२२, मत्स्य० १४१।१७-१८; लिङ्ग १।६१।६२, भाग० ३।११।१४-१५, विष्णु० २।८।७१-७३।

प्राचीन ज्योतिषशास्त्र के विषय रहें हैं। इनका संकेत रूप से उल्लेख वायु (५६।१४-२२) में भी प्राप्त होता है, जहाँ इनका सम्बन्ध ब्रह्मा से बताया गया है एवं इनके पूर्वोक्त अधिपतियों का उल्लेख भी हुआ है। जैन ग्रन्थ तिलोय पणत्ति में भी पाँच वर्ष के युग का उल्लेख मिलता है।[1]

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि पंच संवत्सरात्मक युग-पद्धति का सूत्रपात ऋग्वेद काल में ही हो चुका था, जिसके दो नाम संवत्सर और परिवत्सर उस काल में पाये जाते हैं। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में इनके कहीं चार और कहीं पाँच नाम पाये जाते हैं। उनमें इनके अधिपतियों के नाम भी प्राप्त होते हैं। वेदाङ्ग ज्योतिष में तो इन संवत्सरों की गणितीय वैज्ञानिकता का विवेचन भी हुआ है। युगात्मक यह मान गर्ग और पराशर के काल में भी प्रचलित था जिसका उल्लेख सुश्रुत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा पुराणों में भी हुआ है और क्षीण रूप में वाराह की बृहत्संहिता में भी उल्लिखित हुआ है। इससे यह पता चलता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी तक इसका प्रचार स्पष्ट रूप से होता था जिसका कौटिल्य ने उल्लेख किया है। बाद में यह गणना धीरे-धीरे काल के प्रभाव से क्षीण हो गई एवं लगता है लोगों ने इसमें परिष्कार करके बार्हस्पत्य ६० संवत्सरों के रूप में पाँच संवत्सरों के द्वादश चक्र को अपना लिया। मूलतः ये संवत्सर विभिन्न प्रकार के कालगणना के भेद ज्ञात होते हैं।

स्मृति, महाकाव्य एवं पौराणिक काल

पूर्व के प्रसङ्ग में वैदिक (संहिता से वेदाङ्ग) काल की युग पद्धति का विवेचन किया गया। किन्तु उस काल की प्रचलित पंचवर्षात्मक युग-पद्धति मनु आदि धर्मशास्त्र ग्रन्थों, महाभारत और पुराणों के युग तथा ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में आकर बदल गई और उसके स्थान पर कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि नामक चार युगों से संबन्धित सृष्ट्यादि से सृष्ट्यन्त पर्यन्त चलने वाली ब्रह्म-दिनात्मक युग पद्धति प्रचलित हो गई जिसमें एक सृष्टि की अवधि ब्रह्मायु के एक दिन मान के बराबर मानी गई, जिसके अनन्तर इतनी ही अवधि वाली रात्री होती है। इसमें कृतयुग चार सहस्र एवं कलि एक सहस्र परिमाण वाला था। इसके साथ ही युगों

१—पञ्चेहि वच्छरेहिं जुगम्;
वेण्णिजुगादशवरिसा; तिलोयपणत्ति ४।२९०-१।

के परिमाण के अनुसार उतना ही शत परिमाण वाले संध्या और संध्यांश मिल कर १२ सहस्र दिव्य वर्षों वाली युगाख्या का निर्माण करते थे, जिसमें कृतयुग=४००+४०००+४००=४८०० वर्षों, त्रेता ३००+३०००+३००=३६०० वर्षों, द्वापर २००+२०००+२००=२४०० वर्षों एवं कलि १००+१०००+१००=१२०० वर्षों का था।[1] यही कालमान आगे चल कर अन्य धर्मशास्त्रों, पुराणों और ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में भी उल्लिखित हुआ है। पुराणों का तो विषय ही सृष्टि से प्रलय पर्यन्त इस विश्व का इतिहास उपन्यस्त करना है, अतः उनमें इस युग पद्धति का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।[2]

पौराणिक वाङ्मय में वायु पुराण की प्राचीनता सर्वमान्य है, उसमें दो भिन्न स्थानों पर काल-मान पठित है। लगता है ये कालमान दो विभिन्न कालों में संग्रहीत किये गये थे। अध्याय ३२ का पठित मान

१—चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथा विधिः॥
इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादश साहस्रं देवानां युगमुच्यते॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रपरिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च॥ मनु० १।६९-७२।

२—द्र०—शोध प्रबन्ध का कालमान खण्ड जहाँ पुराणों में आये युगादि मानों के उद्धरण दिये गये हैं।
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां च कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥
त्रेता त्रीणि सहस्राणि संख्यया मुनिभिः सह।
तस्यापि त्रिशती संध्या संध्यांशश्च तथा विधः॥
द्वापरे द्वे सहस्रे तु वर्षाणां संप्रकीर्तितम्।
तस्यापि द्विशती संध्या संध्यांशो द्विशतस्तथा॥
कलिवर्षसहस्रं तु प्राहुः संख्याविदो जनाः।
तस्यापि शतिका संध्या संध्यांशः शतमेव च॥ इत्यादि
वायु० ३२।५८-६७, ५७।२२-२८ तु० लिङ्ग १।४।५-८।

पुराना है एवं अध्याय ५७ का ज्योतिष संहिता तथा सिद्धान्त ग्रंथों से प्रभावित कालमान है जो बाद का प्रतीत होता है। युगों का प्रथम कालमान महाभारत और मनुस्मृति की युग प्रणाली से साम्य रखता है जहाँ १२००० वर्षों का एक चतुर्युग पठित है।

उक्त तीनों उदाहरणों को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जिसे बाद के सिद्धान्त ग्रन्थों वा पुराणों में कल्प कहा गया उसे मनुस्मृति में देव युग कहा गया है, पर वहाँ वर्षों को दिव्य नहीं कहा गया है। महाभारत एवं वायु पुराण के उद्धरणों में देव युग नहीं अपितु १२०० वर्षों की एक युगाख्या वा चतुर्युग बताया गया है। श्रीमानकड ने इसे मानव वर्ष माना है। स्व० श्री बालकृष्ण दीक्षित ने यह अनुमान किया है कि यहाँ १२०० वर्षों का एक देवयुग तो माना गया है पर यह स्पष्ट नहीं बतलाया गया है कि ये युग देवताओं के हैं। देवताओं का वर्ष यदि ३६० मनुष्य वर्षों के बराबर मान लिया जाय तो एक देवयुग में (३६० × १२०००=) ४३२००० मनुष्य वर्ष होंगे। प्रो० ह्विटने कहते हैं कि इन १२००० वर्षों को देववर्ष मानने की कल्पना मनु की नहीं है। इसकी उत्पत्ति बहुत दनों बाद हुई है। परन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि मनु के बहुत पहले ही इस बात का निश्चय हो चुका था कि देवताओं का दिन मनुष्य दिन से बड़ा होता है। तैत्तिरिय संहिता के ऊपर लिखे हुए एक वाक्य में यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्यों का एक संवत्सर (अर्थात् ३६० दिन) देवताओं के एक दिन के बराबर होता है। अतः मनुष्यों के ३६० वर्ष देवताओं के एक वर्ष के बराबर होगें ही। यद्यपि मनु के वाक्य में देव-वर्ष शब्द स्पष्टतया नहीं आया है पर यह स्पष्ट है कि युग देवताओं का ही है। अतः वर्ष भी देवताओं का ही होना चाहिए। इससे यह बात निःशंसय सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यों के (१२००० × ३६० =)४३२०००० वर्ष तुल्य देवतओं के युग का परिमाण मनु कालीन ही है[1]। मनु ने आगे यह भी कहा है कि ऐसे एक हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसी आशय का एक उद्धरण निरुक्त में[2] भी

१—भारतीय ज्योतिष, पृ० १४८-१४९।

२—सा (प्रकृतिः) स्वपिति युगसहस्त्रं रात्रिस्तावेतावहोरात्रावजस्त्रं परिवर्तते स कालस्तदेतदहर्भवति युगसहस्त्रपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुर्रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदोजना इति। निरुक्त १४।४।

मिलता है। वहाँ ब्रह्मा का दिन एक सहस्र वर्षों का होता है ऐसा उल्लेख है। यहाँ केवल युग शब्द का प्रयोग हुआ है, चतुर्युग, कल्प या दिव्य युग नहीं कहे गये हैं एवं नहीं उनका परिमाण कथित है कि प्रत्येक युग का मान विस्तार कितना है। ठीक यही वाक्य स्पष्टतया गीता में भी उल्लिखित है[1]। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस परिकल्पना का मूल स्रोत अथर्ववेद तक जाता है जहाँ एकमहायुग में दश हजार वर्षों का उल्लेख है[2]। दूसरी युग प्रक्रिया, जो पुराणों एवं बाद की ज्योतिष संहिता एवं सिद्धान्त ग्रन्थों में भी वर्णित है, प्रायः सर्वत्र पुराणों में उल्लिखित हुई है जहाँ मानववर्षों के हिसाब से दिव्य युगों का मान पठित है। यहाँ कृतयुग= १७२८०००, त्रेता= १२९६०००, द्वापर= ८६४०००, एवं कलि= ४३२००० मानववर्षों के बताये हैं। इस प्रकार ४३२०००० मानव वर्षों का एक महायुग या चतुर्युग पठित है। वैसे ७१ महायुगों का एक मन्वन्तर पठित है।[3] चौदह मन्वन्तरों का काल एक कल्प कहा जाता है। यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है। हम इन सब मानों का आगे विशद् विवेचन प्रस्तुत करेगें। चूंकि वायु की यह परंपरा पुराणों में पूर्ण ज्ञात होती है अतः उसे यहाँ प्रधान मानकर अन्य पुराणों के उद्धरण भी प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार पुराणों के आधार पर हम दो प्रकार के युगों का मान पाते हैं जिनकी संख्या दिव्य वर्षों एवं मानववर्षों में दी गई है। यही प्रक्रिया ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में भी दी गई है जिसे आर्यभट प्रथम एवं पौलिश और रोमक आदि कुछ प्राचीन आचर्यों को छोड़कर सब ने अपनाया है जिसका विवरण सूर्य सिद्धान्त, ब्राह्म सिद्धान्त आर्यभटीयम् (आर्यभट द्वि०) एवं भास्कराचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि के कालमानाध्यायों में प्राप्त होता है।

ज्योतिष सिद्धान्त-काल

काल एवं ज्योतिष का अभिन्न सम्बन्ध है। संपूर्ण ज्योतिष शास्त्र का

१—सहस्र युगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥
श्रीमद्भगवद् गीता ८।१७, महा०, शान्ति० ३३९।३१।

२—शतं तेऽयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। अथर्व ८।२।२१।

३—वायु० ५७।२९-२३; तु० लिङ्ग १।४।२६-३४,
विष्णु १।३।११-१५।

मूलाधार काल-विज्ञान है और वस्तुतः शुभ मुहूर्तों के काल के ज्ञानार्थ जिनमें यज्ञ संपादित किया जासके ज्योतिष शास्त्र की उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकार ग्रहानयन में गणना सृष्टि के प्रारम्भ से की गई है। एक सृष्टि का काल ब्रह्मा का एक दिन होता है जिसे कल्प कहते हैं। अतः बहुत से सिद्धान्त ग्रन्थों में ग्रहानयन कल्पारम्भ से पठित है। बाद के सिद्धान्तों में युगादि गणना भी दिखाई पड़ती है। अतः यहाँ ज्योतिषशास्त्र के जो प्राचीन पाँच मुख्य सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं, जिनका संग्रह वराहमिहिर के पंचसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ में हुआ है, उनके अनुसार युग प्रक्रिया को देखने का प्रयास करेगें। इन सभी सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन शकारम्भ से ५०८ वर्ष पूर्व (ई० पू० चौथी-पांचवीं शती) में हो चुका था[१]। ये पाँच सिद्धान्त पौलिश, रोमक, वासिष्ठ, सौर और पैतामह हैं[२]। इसमें पौलिश को विस्पष्ट कहा गया है, उसके निकट रोमक का सिद्धान्त था। सूर्य सिद्धान्त स्पष्टतर था एवं शेष वासिष्ठ और पैतामह सिद्धान्तों में बहुत अन्तर बढ़ गया था[३]। इसमें पितामह सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रमा और सूर्य के पाँच वर्ष का एक युग, तीस महीनों के बाद एक अधिमास और ६३ मासों के बाद एक क्षय दिवस होता है[३]! दिनमानानयन एवं नक्षत्रानयन में उत्तरायण एवं दक्षिणायन का उल्लेख तथा नक्षत्रारम्भ धनिष्ठा से किये जाने के कारण इसकी युग[४] पद्धति आदि वेदाङ्ग ज्योतिष काल की पद्धति से बहुत साम्य रखती जान पड़ती है। वासिष्ठ सिद्धान्त आदि में भी युग पद्धति स्मृति ग्रन्थादि समर्थित ही थी क्योंकि ब्रह्म गुप्त ने केवल रोमक सिद्धान्त को युग, मन्वन्तर, कल्प आदि काल परिच्छेदकों के अभाव से स्मृतिवाह्य कहा है[५]। रोमकसिद्धान्त में युग २८५० वर्षों का पठित

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ० २०९।

२. पौलिशरोमकवासिष्ठसौरपैतामहास्तु पञ्चसिद्धान्ताः।

३. पौलशति विस्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ॥ भारतीय ज्योतिष, पृ० २१०-१।

४. रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि।
अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमस्त्रिषष्ट्याह्नाम्॥ पंचसि० १२।१।

५. युगमन्वन्तरकल्पाः कालपरिच्छेदकाः स्मृतावुक्ताः।
यस्मान्न रोमके ते स्मृतिबाह्यो रोमकस्तस्मात्॥ ब्रह्मसिद्धान्त १।१३।

है जिसमें १०५० अधिमास १६५४७ प्रलय, अर्थात् तिथिक्षय होते हैं।[1] पंचसिद्धान्तों में सूर्य सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यह इस बात से सूचित होता है कि सूर्यचन्द्रानयन अन्य चार सिद्धान्तों के पृथक्-पृथक् हैं पर अन्य ग्रहों के मान सूर्य सिद्धान्त के ही हैं। दूसरी बात यह है कि इसे सभी सिद्धान्तों में स्पष्टतर माना भी गया है। इसमें युगारम्भ मध्यरात्रि से माना गया है, जो उसकी युग पद्धति के होने को प्रमाणित करता है। पंचसिद्धान्तिका में उल्लिखित सूर्य सिद्धान्त से वर्तमान प्राप्त सूर्य सिद्धान्त को दीक्षित आदि विद्वानों ने भिन्न माना है।[2] यद्यपि दोनों में कुछ भिन्नता है पर अधिक समानता ही मिलती है। वर्तमान प्राप्त सूर्य सिद्धान्त में वर्णित कालमान और युगपद्धति का यहाँ विचार करना है। इसमें सृष्ट्युत्पत्ति की वर्ष संख्या १७०६४००० बताई गई है। ब्रह्म गुप्त और उनके अनुयायी सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म दिन अर्थात् कल्पारम्भ से मानते हैं, जब ग्रहों के उच्च और पात तथा ग्रह मेष में इकट्ठे थे। सूर्य सिद्धान्तानुसार कल्पारम्भ में सृष्टि नहीं हुई। सृष्टि को रचने में ब्रह्मा को ४७४०० दिव्य वर्ष (कलि के समान ३९.३ युग) लगे। कल्पारम्भ के इतने समय बाद ग्रहादिकों की उक्त स्थिति वे मानते हैं। वर्तमान सूर्यसिद्धान्त में युग सम्बन्धी निम्नकाल मान पठित है। ३६० मानववर्षों का एक दिव्य या देव वर्ष कहा गया है। इस परिमाण से १२००० दिव्य वर्षों का चतुर्युग कहा गया है जो ४३२०००० सौर वर्षों (४३२ × १००००) का कहा गया है। इसका दशवां भाग चार, तीन, दो, एक से गुणित होकर कृतादि युगों का परिमाण बताता है जिसका छठां भाग युग सन्धियाँ कही गई हैं[3]।

---

१. रोमकयुगमर्केन्दोर्वर्षाण्याकाशपञ्चवसुपदाः (२८५०)।
रवेन्द्रियदिशोऽ १०५० धिमासाः स्वरकृतविषयाष्टयः १६५४७ प्रलयाः,
पञ्चसि० १।१५

२. भारतीय ज्यो०, पृष्ठ २३५।

३. सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात्।
तत्षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च॥
तद्द्वादश सहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम्।
सूर्याब्दसङ्ख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः॥
संध्यासंध्यांशसहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम्।
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया॥

१२००० ÷ १० × ४ = ४८०० (दिव्यवर्ष) = कृतयुग ४८०० × ३६० = १७२८००० मानववर्ष
१२००० ÷ १० × ३ = ३६०० ,, = त्रेतायुग ३६०० × ३६० = १२९६०००
१२००० ÷ १० × २ = २४०० ,, = द्वापर २४०० × ३६० = ८६४०००
१२००० ÷ १० × १ = १२०० ,, = कलियुग १२०० × ३६० = ४३२०००
१२००० ,, = महायुग = ४३२०००० मानव वर्ष

संधियाँ—

४८०० × ६ = ८०० २ = ४०० कृतपूर्व एवं ४०० वर्ष कृत पश्चात् की संधि
३६०० ÷ ६ = ६०० २ = ३०० त्रेतापूर्व ३०० त्रेतापश्चात्
२४०० ÷ ६ = ४०० २ = २०० द्वापरपूर्व २०० द्वापर पश्चात्
१२०० ÷ ६ = २०० २ = १०० कलिपूर्व १०० कलिपश्चात्

संधिरहित युगों का मान—

४८०० – ८०० = ४००० कृतयुग वर्ष
३६०० – ६०० = ३००० त्रेता वर्ष
२४०० – ४०० = २००० द्वापर वर्ष
१२०० – २०० = १००० कलिवर्ष
} १०००० दिव्यवर्ष = महायुग ३६० ३६००००० मानववर्ष निरंशक महायुगमान

इसके अतिरिक्त मन्वन्तर और कल्प नामक दो मान और पठित हैं। कल्प ब्रह्मा का एक दिन होता है, जिसमें सन्धि सहित १४ मनुओं के व्यतीत होने का उल्लेख है। एक मनु का काल ७१ महायुग कहा गया है। इसप्रकार एक कल्प में १४म० × ७१ म०यु० = ९९४ महायुग एवं इन मन्वन्तरों की कृतयुग तुल्य पन्द्रह सन्धियाँ पठित हैं। जो सब मिला कर ४८०० × १५ = ७२००० ÷ १२००० = ६ महायुग के तुल्य होती हैं अतः ९९४ + ६ = १००० महायुगों का एक कल्प माना गया है। यह ब्रह्मा का दिन है और उनकी रात्रि भी इतने ही प्रमाणवाली कही गई है। इस आयुष्य मान के अनुसार ब्रह्मा की आयु एक सौ वर्ष पठित है।[1]

युगस्य दशमो भागश्चतुस्त्रिद्व्येक सङ्गुणः।
क्रमात् कृतयुगादीनां षष्ठांशः सन्ध्ययोः स्वकः॥ सूर्य सि० १।१४-१७।

१. युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते।
कृताब्दसंङ्ख्यस्तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश।

वर्तमान कल्प से व्यतीत हुए वर्ष—

वर्तमान कल्प के छह मनु एवं वैवस्वत मनु के काल का त्रिघन ३ × ३ × ३ = अर्थात् २७ चतुर्युग व्यतीत हो चुका है। अठाईसवें चतुर्युग का यह कृतयुग है।[1] कल्प के आरम्भ में सृष्टि करते समय ब्रह्मा के ४७४ × १०० = ४७४०० दिव्य वर्ष[2] व्यतीत हुए जो मानव वर्षों के परिमाण से ४७४०० ३६० = १७०६४००० वर्षों के तुल्य होता है। इसप्रकार कृतान्त तक व्यतीत हुए वर्षों[3] की उपपत्ति इसप्रकार है—

१ मनु = ७१ महायुग। सन्धि = ४८०० दिव्याब्द।

१ महायुग = १२००० दिव्यवर्ष,	= ४३२००००	सौर वर्ष
६ मनृ = ७१ × १२००० × ६ दिव्यवर्ष	= १८४०३२००००	,,
७ सन्धि = ७ कृतयुग = ७ × ४८००	= १२०९६०००	,,
२७ महायुग = २७ × १२००० दिव्यवर्ष	= ११६६४००००	,,
१ कृतयुग = ४८०० ,,	= १७२८०००	,,
कल्प से व्यतीत हुए सौर वर्ष	= १९७०७८४०००	
कल्पादि से सृष्टिकालावधि	= १७०६४०००	
कृतान्त में सृष्ट्यादि से गत सौर वर्ष	= १९५३७२००००	

कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥
इत्थं युग सहस्रेण भूतसंहारकारकः ।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती ॥
परमायुः शतं तस्य तयाऽहोरात्रसंख्यया ।
आयुषोऽर्धमितं तस्य शेष कल्पोऽयमादिमः ॥ सूर्य० सि० १।१८-२१ ।
विशेष द्र० शोध प्रबन्ध का 'कालमान' अंश—मन्वन्तर और कल्प ।

१. कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥
अष्टाविंशायुगादस्माद्यातमेतत् कृतं युगम् ।
अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥ सूर्य सि० १।२२-३ ।

२. ग्रहर्क्षदेवदैत्यादि सृजतोऽस्य चराचरम् ।
कृताद्रिवेदा दिव्याब्दाः शतघ्ना वेधसो गताः ॥ वही, १।२४ ।

३. षड्मनूनां तु संपीड्य कालं तत्संधिभिः सह ।
कल्पादिसंधिना सार्धं वैवस्वतमनोस्तथा ॥

सिद्धान्त ग्रन्थों में आर्यभट की युग-पद्धति अन्य आचार्यों से भिन्न ज्ञात होती है। दशगीतिका में उन्होंने लिखा है कि ७२ युगों के मान से १४ मन्वन्तरों में भारत पूर्व या कलियुगारम्भ तक – ६ मनु और २७ युग एवं अठाइसवें युग के तीन पाद व्यतीत हो चुके हैं[1]। इनकी युग पद्धति में ७१ महायुग के स्थान पर ७२ महायुग माने गये हैं। द्वितीय आर्या में उन्होंने कलियुग का आरम्भ शुक्रवार को और उसके पहले दिन गुरुवार मानते हैं, किन्तु महायुगारम्भ बुधवार से मानते हैं। महायुगारम्भ बुधवार को मानने से कलियुगारम्भ शुक्रवार को नहीं आता, किन्तु सब युग-पाद समान मानने से इसकी संगति ठीक लगती है। इससे सिद्ध होता है कि कि आर्यभट युगों में एक, दो, तीन, चार का सम्बन्ध नहीं मानते, अपितु चारों युगों को समान मानते थे। उनके अनुसार कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुग पर्यन्त १९८६१२०००० गत वर्ष होते हैं और कल्पारम्भ में गुरुवार आता है। अन्य सब सिद्धान्तों द्वारा कल्पारम्भ से वर्तमान कलियुगारम्भ तक १९७२९४०००० वर्ष आते हैं जिनमें सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी वर्ष भी सम्मिलित हैं। स्मृति विरुद्ध युगों के मान पठित करने के कारण ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की निन्दा की है[2]।

इस प्रकार सिद्धान्त काल में एवं पुराणों के काल में काल मान निरूपण प्रकारणों में प्रायः समान रूप से विवरण प्राप्त होता है जिसके अनुसार दिव्य वर्षों एवं मानव वर्षों में समीकरण स्थापित कर मान पठित हैं। इसमें यह बताना कठिन है कि सिद्धान्त काल के मान पुराणकारों ने लिए अथवा सिद्धान्त लेखकों ने सृष्टिप्रकरण में वणिति काल तत्त्वों के आधार पर यह मान ग्रहण किया। वस्तुतः "सर्ग" पुराण के एक प्रधान

युगानां त्रिघनं यातं तथा कृतयुगं त्विदम्।
प्रोज्झ्य सृष्टेस्ततः कालं पूर्वोक्तं दिव्यसंख्यया॥
सूर्याब्दसंख्यया ज्ञेयाः कृतस्यान्ते गता अमी।
खचतुष्कयमाद्यग्निशररन्ध्रनिशाकराः॥ वही, १।४५-४७।

१. काहो मनवो ढ मनुयुगश्ख=७२ गतास्ते च ६
मनुयुगछ्ना २७ च। कल्पादेयुर्गपादा ग ३ च
गुरुदिवसाच्च भारतात् पूर्वम्॥ ३॥ भारतीय ज्योतिष, पृ० २६७-८।

२. न समा युगमनुकल्पाः कल्पादिगतं कृतादि यातं च।
स्मृत्युक्तैरार्यभटो नातो जानाति मध्यगतिम्॥ ब्रह्म सि० ११।१०।

लक्षणों में से है उसी प्रकार प्रतिसर्ग भी अर्थात् सृष्टि की उत्पति एवं विनाश (लय) दोनों का विवरण प्रस्तुत करना पुराणों का विषय है। प्रजापति ब्रह्मा की उत्पत्ति से लेकर प्रलय पर्यन्त काल की चर्चा पुराणों में पाई जाती है। यही नहीं सृष्टि उत्पत्ति क्रम में भूगर्भशास्त्र आदि के अनुसार जो स्तर बताए जाते हैं उनके समान ही सृष्टि की उत्पत्ति के कई स्तर पुराणों में दिखाये गये हैं। उसमें सृष्टि के नवसर्गात्मक स्तरों के वर्णन प्रसङ्ग के आधार पर सृष्टि के निकास-क्रम का उत्तम अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इससे प्रकट होता है कि पुराणों में सृष्टि के प्राचीनत्व पर भी विचार किया गया। काल-मान की यह प्रक्रिया पुराणकारों ने प्राचीन परम्परा से चले आ रहे अनुस्रोतों से लिया था अथवा ज्योतिष की संहिताओं में पठित आधारों पर-स्वयं गणना किया था, यह कहना कठिन है। यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है कि १२००० वर्षों के दिव्य मान वाले महायुग की परम्परा मनुस्मृति, महाभारत एवं वायुपुराण आदि से प्रमाणित है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि यह प्राचीन मालूम पड़ती है एवं बाद में इसे दिव्यत्व प्रदान करने के लिए इसके मान बढ़ा दिये गये। ध्यान देने की बात है कि छिट-पुट रूप में कई स्थानों में मन्वन्तर युग आदि के मान निरंशक अर्थात् संध्या और संध्यांशों के विना भी पठित हैं अर्थात् ऐसा निष्कर्ष निकालना भी अनुचित नहीं होगा कि कभी समाज में युगों के निरंशक मान भी प्रचलित थे। इस प्रकार १२००० दिव्य वर्षों में २००० वर्ष संध्या एवं संध्यांशों का निकाल देने पर युगों के मूल मान १००० वर्ष कलियुग, २००० वर्ष द्वापर, ३००० वर्ष त्रेता एवं ४००० वर्ष कृतयुग के होते हैं और १०००० दिव्य वर्षों का एक महायुग आता है। दिव्य एवं मानव युग में अन्तर की भावना हम ऋग्वेद के काल से पाते हैं जैसा वैदिक प्रकरण में कहा जा चुका है, जो पुराणों एवं सिद्धान्त काल तक आते-आते प्रबल हो गयी थी। यद्यपि सृष्टि की महती प्राचीन परम्परा में उसे दो अरब वर्ष प्राचीन बताना कोई आश्चर्य की बात नहीं जैसा कि हमारे ज्योतिष के ग्रन्थों एवं पुराण आदि शास्त्रों में वर्णित है, फिर भी ये दीर्घमान ऐतिहासिक विद्वानों को मान्य नहीं हैं क्योंकि सभ्यता के इतने प्राचीन अवशेषों का बच पाना भी कठिन है और यदि मिल भी जाँय तो उनसे कोई महत्त्वपूर्ण सूचना नहीं मिल पाती।

अतः ऐसा अनुमान करना पड़ता है कि सृष्टि के प्राचीन संदर्भों में इन

सुदीर्घकालीन युगमानों के मेल का हम उपयोग भले ही कर सकें पर ऐतिहासिक धरातल पर इनके प्रयोग से कुछ ठोस उपलब्धि प्राप्त होने को नहीं है। क्योंकि इनके प्रयोग से ऐतिहासिक घटनओं के काल में महान् अन्तर आ जाता है जो मानव वुद्धि के लिए विश्वासगम्य नहीं है[१]। इसलिए विद्वानों ने ऐसा निश्चय किया है कि ये ज्योतिषोक्त पठित काल-मान केवल ग्रहगणित आदि के लिये उपयोगी हैं। ऐतिहासिक पृष्ठि-भूमि में इनका उपयोग नहीं हो सकता। प्राचीन ग्रन्थों के विश्लेषण के आधार पर युगों के भिन्न-भिन्न मान काल विशेष में स्वीकृत किये गये थे ऐसा ज्ञात होता है। इसप्रकार एक ही युग शव्द का मान भिन्न-भिन्न संदर्भ एवं प्रायोगिक लक्षणों के आधार पर भिन्न-भिन्न आता है। ऋग्वेद काल में युग का मान एक दिन, एक मास, अथवा एक वर्ष से कम का काल, एक वर्ष या चार वर्ष, वेदाङ्ग ज्योतिष[२] में पाँच वर्ष एवं अथर्व[३] वेद में दश, शत एवं एक और दस हजार वर्षों का बोधक था, किन्तु यही मान आगे चल कर महाभारत और मनुस्मृति काल में १२००० वर्षों का पठित है।[४] विश्लेषणात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि पुराण, स्मृति एवं महाभारतीय युगों का मूल मान १०००+२०००+३०००+४०००=१०००० वर्षों अथवा संध्यांशकों के साथ ग्रहण करने पर १२००+२४००+३६००+४८००=१२००० वर्षों का था। युगों में १:२:३:४ का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। आर्यभटादि के अनुसार उनमें १:१:१:१ का सम्बन्ध है। यदि इसका विश्लेषण किया जाय तो मूलतः १:२:३:४=१० वर्षों का एक महायुग या १०:२०:३०:४०=१०० वर्षों का महायुग या १००:२००:३००:४०० = १००० वर्षों का महा युग अथवा १०००:२०००:३०००:४०००=१०००० वर्षो का एक महा युग हो सकता है। इन सभी सम्बन्धों से लाये गये महा युग के मानों का प्रयोग साहित्यक उद्धरणों में में मिल सकता है, जिसके मूल का संकेत ऊपर कर चुके हैं। आर्यभट के अनुसार समानपद मानने पर १०००+१०००+१०००+१००=४०००

---

१. दफ्तरी—एस्ट्रोनामिकल मेथड, भूमिका, पृ० १-२।

२, भारतीय ज्योतिष, पृ० ३५।

३. अथर्ववेद ८।२।२१।

४. द्रष्टव्य—इस अध्याय में उल्लिखित 'वैदिक काल गणना—युग एवं युग व्यवस्था'।

दिव्य वर्ष वा संधियुक्त मानने पर १२००+१२००+१२००+१२००= ४८०० दिव्य वर्षों का एक चतुर्युग हो सकता है। यदि १२ हजार वर्षों का एक चतुर्युग माना जाय तो प्रत्येक युक का मान ३००० वर्ष होगा या १०००० मानने पर २५०० दिव्यवर्षों का एक युग आयेगा। इसप्रकार हमलोगों के सामने चार प्रकार की युग संख्याएँ विचारणीय हैं।

	(१)	(२)	(३)	(४)
कृत=	१७२८०००	४८००	१२००	१०००
त्रेता=	१२९६०००	३६००	१२००	१०००
द्वापर=	८६४०००	२४००	१२००	१०००
कलि=	४३२०००	१२००	१२००	१०००
	४३२००००	१२०००	४८००	४०००

उक्त चारों मानों में प्रथम एवं द्वितीय प्रकार के मानों का ही प्रयोग पुराण, स्मृति आदि ग्रथों में मिलता है। यद्यपि निरंशकमानों का भी उल्लेख मिलता है पर वे व्यापकनहीं हैं। वैदिक एवं वेदाङ्ग काल के पश्चात् संभवतः निरंशकमानों का प्रचार रहा.हो जिनमें वाद में संध्या एवं संध्यांश जोड़े गए और १२००० वर्षों का दिव्य मान स्वीकृत किया गया। वस्तुतः इन वर्षों को पूर्व के युग-विचारकों ने मानव वर्ष ही माना है और ये ही मूल भान ज्ञात होते हैं[१]। इसमें भी ४० वर्षों का लघु चतुर्युग (१० वर्ष का एक युग) मानने पर १२०० वर्षों में ४०=३० लघु चतुर्युग होगें। इस प्रकार के लघु चतुर्युंगों का संकेत पुराणों में कई स्थलों में मिलता है[२]।

इस प्रकार यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि १२०० वर्षों का एक महायुग ४० वर्षों के लघु युगों से संयुक्त हो कम से कम पुराणों के काल में अवश्य प्रचलित था जिसका बाद में मान बढ़ा कर उसे दिव्यत्व प्रदान कर दिया गया। स्मृति, महाभारत, पुराण एवं ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रचलित युग-पद्धति कब और क्यों अपनाई गई, इसका ठीक उत्तर दे पाना किसी भी अध्येता के लिए दुष्कर है, क्योंकि एक ओर वैदिक संहिता से लेकर वेदाङ्ग काल तक पंचवर्षात्मक पद्धति का संकेत प्राप्त होना एवं साथ ही

१. पुराणिक क्रोनालोजी, पृष्ठ–३१९।

२. व्यासों के अवतार वर्णन प्रसंग में द्वापर के २८ परिवर्तों का उल्लेख पुराणों में मिलता है जो एक ही युग की चतुयुर्ग व्यवस्था में बार-बार उल्लिखित हुए हैं। द्र० लिङ्ग १।२४।१२-१३९, वायु० २३।१०८-२२७।

अथर्ववेद में युगों के दस सहस्र वर्ष तक मान का उल्लेख मिलना दोनों बातें परस्पर दो विरुद्ध तथ्यों की ओर संकेत करती हैं। ऋग्वेद में कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि इन चार युग-नामों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। पर ऋग्वेद (१०।३४।६, १०।४३।५) में एवं अथर्व (७।५२।२) में कृत शब्द अक्ष में पासे के उत्तम रीति से फेकने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद ८।६६ में कलि एक लेखक के नाम से प्रसिद्ध है एवं १।११२।१५ के अनुसार वह अश्विनों से एक पत्नि प्राप्त करता है। किन्तु कलि अक्ष के पास फेंकने के अर्थ में ऋग्वेद में नहीं मिलता। अथर्व, ६।११४।१ में यह अक्ष में पासे फेंकने के लिये प्रयुक्त हुआ है। कृत, त्रेता, द्वापर और आक्षन्द शब्द तैत्तिरीय संहिता (४।३।३), वा० संहिता (३।१८) एवं शतपथ ब्राह्मण (१३!६।२।९-१) में प्राप्त होते हैं। तैतिरीय ब्राह्मण (३।४।१६) में कलि के स्थान पर आक्षन्द शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में कलि को सोता हुआ, द्वापर को जँभायी लेता हुआ, त्रेता को उठता हुआ एवं चलते हुये को कृत कहा गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण (५।४।४।६) में कलि को अभिभू कहा गया है। यहाँ भी इसे अक्ष के ५ वें ढलान का प्रतीक कहा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (४।९।४) में भी कृत=४, त्रेता=३, द्वापर=२, कलि=१ अक्ष के फेंकने से सम्बन्धित हैं। केवल मुण्डकोपनिषत् में त्रेता का युग से सम्बन्ध ज्ञात होता है[2]।

इसप्रकार उक्त उद्धरणों के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक काल के अन्तिम चरण तक कलि, द्वापर आदि का प्रयोग अक्ष में पासा फेंकने की संख्या के लिए किया जाता था। युगों के बोधक रूप में इन शब्दों का उल्लेख नहीं मिलता है। युगों के मान में एक, दो, तीन और चार का सम्बन्ध स्वीकार करते हुए संपात गति के आधार पर एच्०एस् स्पेन्सर ने युगों का मान निम्नरूप में बताया है—

सत्य युग =४ × १२९६=५१८४ वर्ष
त्रेतायुग =३ × १२९७=३८३८ ,,
द्वापरयुग =२ × १२९६=२५९२ ,,
कलियुग =१ × १२९६=१२९६ ,,

---

१. कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ॥ ऐत० ब्रा० ३३।३, शा० ब्रा० १५।१९, मनु० ९।३०१-२ ।

२. तानि त्रेतायां बहुधा संन्ततानि, मुण्डक ३०।१।२।९ ।

चूँकि संपात की गति ५०′ – १०″ प्रतिवर्ष मानी गई है, जिसके हिसाब से एक अंश चलने में लगभग ७२ वर्ष का समय लगता है। इसलिए १८०° चलने में १८० × ७२ = १२९६० वर्ष लगेगें जो चारों युगों के मान से ९६० वर्ष अधिक है।[1]

श्री कनिंघम ने भी युगों की आनयन प्रक्रिया को संपात की गति से ही संवद्ध माना है। उनका कहना है कि चूँकि भारत में ज्योतिषियों द्वारा प्रयुक्त कोई भी प्राचीन संवत् सप्तर्षि या बार्हस्पत्यमान या (षष्ठि संवत्सर चक्र) या कलियुग क्रमशः ६७७७ ई० पू० से प्राचीन सिद्ध नहीं होता और कलियुग और बार्हस्पत्यमान ३००० ई० पू० से कुछ पहले तक ही जाते हैं अतः युग पद्धति इससे प्राचीन नहीं हो सकती। सिकन्दर के समय भारतीय लोग ६७७७ वर्ष तक अपनी प्राचीनता बताते थे। इसलिए संदेह होता है कि युगों के जो बृहद् मान बाद में स्वीकृतकिये गये वे ज्योतिषियों की कल्पना के परिणाम थे जो उन्हें संपात गति के ज्ञान से प्राप्त हुई थी। हिपार्कस द्वारा संपात गति ४९.८ सेकेण्ड स्वीकृत की गई है। इसलिए एक संपूर्ण ३६०° के चक्र को पार करने में ३६ × ०२४ $\frac{१६}{१६६}$ वर्ष लगेंगें। संपूर्ण वर्ष संख्या प्राप्त करने के लिए अपूर्णाङ्क संख्या को अलग कर केवल १६६ से गुणा करने पर २६०२४ × १६६ = ४३२०.००० वर्ष के लगभग आते हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भारतीय ज्योतिषियों ने हिपार्कस की संपात गति को नहीं लिया है, किन्तु इससे कोई मूल्य में अन्तर नहीं आता, क्योंकि उनके द्वारा स्वीकृत संपात गति से भी इतना ही मान आता है। पराशर ने ४६.५ और आर्यभट ने ४६.२ कला संपात गति माना है। पूर्व प्रक्रिया के ही अनुसार हम पराशर के मत से २७८७० $\frac{१५०}{१५५}$ और आर्यभट के अनुसार २८०५१ $\frac{१४६}{१५४}$ वर्ष पाते हैं। यूरोपियन गति भी ५०.१ सेकेण्ड है जिससे यह २५८६८ $\frac{१४४}{१६७}$ वर्ष आता है, जिसे पूर्णाङ्क करने से ४३२०००० वर्ष ही आते हैं,[2] जो महायुगों की संख्या है। वार्नेट ने भी भारतीय ज्योतिष सिद्धान्तोक्त व्यवस्थाओं को ग्रीक ज्योतिष से प्रभावित माना है जब कि हिन्दू ज्योतिष शास्त्र ने अपनी प्राचीन मान्यताओं को छोड़कर ग्रीक सिद्धान्तों को अपनाया क्योंकि इस

---

१. 'दी आर्यन इक्लिप्टिक सायकिल', पृ० १३४-१४२ पर संपात गति के आधार पर वर्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

२. कनिंघम, 'इण्डियन एराज, पृ० ४।

युग में वैदिक काल से आती हुई पंचवर्षात्मक व्यवस्था ही परिवर्तित हो उठती है[1]। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि हिपार्कस के बहुत पहले युगों के काल-मान की संख्या का पूर्ण ज्ञान भारतीय महर्षियों को था। ऋग्वेद की अक्षर संख्या गिनते समय बृहतीछंद के ३६ अक्षर वाले १२००० बृहती मंत्रों का उसमें संग्रह मानते हुए उसमें ३६० × १२०००= ४३२०००० अक्षरों का समाम्नाय मानते थे। साथ ही प्रजापति को संवत्सर मानते हुए उसे पांक्त कहा गया है। वैसे भी इस संख्या पर पहुँचा जासकता है। इसलिए ऐसा कहना कि युगों के मान की कल्पना पश्चिम से आई यह वार्नेट आदि का मत ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि युगों की कोई कल्पना पश्चिम की किसी संस्कृत में नहीं है। इसके विपरीत पुराणों और स्मृतियों से लेकर बाद के सभी ग्रन्थों में इनका निरूपण है। यह कल्पना कैसे विकसित हुई यह निश्चित रूप से बताना कठिन है पर वह है भारतीय ही क्योंकि देव और मनुष्य युगों की कल्पना वैदिक काल में ही उद्‌भूत हो चुकी थी। साथ ही पारम्परिक मान्यता के अनुसार गर्ग, पराशर आदि ज्योतिषियों का काल हिपार्कस से बहुत पहले का है। श्री० पी० वी० काणे ने अशोक के शिलालेखों में 'कल्प' इत्यादि शब्दों को देखकर कल्प, मन्वन्तर एवं युगों के बृहद् मानवाली प्रणाली को ई० पू० तीसरी शताब्दी के पहले का माना है[2]। प्रो० रंगाचार्य ने भी ज्योतिष सिद्धान्तोक्त एवं पुराणों की बृहद्‌मान वाली युगप्रणाली को बहुत बाद में विकसित हुआ बताया है क्योंकि आरम्भ में पंचवर्षात्मक वेदाङ्गप्रणाली का प्रचार था जो परिवर्तित होकर महाभारत और मनु तथा प्राचीन पुराणों में १२००० वर्षों के रूप में उल्लिखित है, जिसका प्रारम्भिक मान १०००० वर्षों का था जिसका अथर्ववेद में संकेत मिलता है। अतः उन्होंने फ्लीट महोदय के इस कथन को कि कलियुग आदि के बृहद्‌मान वाली युग प्रणाली ग्रीक ज्योतिष से प्रभावित होकर आयी है, अर्थात् ४०० ई० सन् की देन है, उचित नहीं माना है। यह युग प्रणाली बाद की विकास परंपरा में आती है पर इतना बाद में नहीं विकसित हुई जितना फ्लीट साहब मानते हैं।[3]

---

१. एल० डी० वार्नेट, एक्टीक्यूटीज आफ इण्डिया, पृ० २१०।
२. हि० धर्म०, जि० ३, पृष्ठ ८९०।
३. प्रीमुसलमान इण्डिया—'वैदिक इण्डिया', पृ० १००-१०१।

कालक्रम एवं पुराण

भारतीय वाङ्मय की समृद्ध शाखाओं में से अष्टादश पुराण हैं जो प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं। इस दृष्टि से पुराणों का वंश और वंशानुचरित अंश बहुत ही उपादेय हैं, जिनके वर्ण्यविषय एक निश्चित काल-क्रम में उपस्थित किये गये हैं, जिनका परस्पर तारतम्य बैठना आज के अध्ययन और शोध की प्रमुख समस्या है। पौराणिक वंशविदों का स्पष्ट कथन है कि मनु स्वायम्भुव से लेकर कृष्णपर्यन्त २८ युगों के क्रम से अवतार लक्षण उन्होंने प्रस्तुत किया है, जिस समय कृष्ण द्वैपायन ने स्मृति समूहों का विभाग किया था[१]। इससे स्पष्ट है कि उनका वर्णन एक पूर्वापर क्रम से है छिट-पुट नहीं। प्रायः पौराणिक आख्यानों एवं प्रसिद्ध ऐतिहासि घटनाओं को धार्मिक वर्णनों के आवरण में ठीक से समझा नहीं जा सका है। वास्तव में ये अपने युग की ऐतिहासिक घटनाएँ ज्ञात होती हैं जिनका उल्लेख पौराणिक युगावस्था के अनुकूल हुआ है। आधुनिक युग की भाँति उस समय घटनाओं के निरूपण के लिए किसी संवत् विशेष का प्रयोग नहीं होता था, अपितु उनका उल्लेख युगानुरूप होता था। इसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) द्विपरार्ध संज्ञक अवधि के व्यतीत हो जाने पर ब्रह्मस्थान सहित सम्पूर्ण विश्व का विनष्ट हो जाना[२]। देवताओं के आदिकल्प में वैदिक मन्त्रों का प्रवर्तन[३]।

(२) सर्व प्रथम ब्रह्मा तदनन्तर स्वायम्भुव उत्तम, तामस एवं चाक्षुष मन्वन्तर के व्यतीत होने एवं वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में वैन्य (पृथु) द्वारा इस पृथिवी का दोहन किया जाना[४]।

---

१. इत्येतद्वै मया प्रोक्तमवतारेषु लक्षणम्।
मन्वादिकृष्णपर्यन्तमष्टाविंशयुगक्रमात्॥
भविष्यति तदा कल्पे कृष्णद्वैपायनो यदा।
तत्र स्मृतिसमूहानां विभागो धर्मलक्षणम्॥ वायु० २३।२२६-२२७,
लिङ्ग० १।२४।१३९-१४०।

२. क्रीडावसाने द्विपरार्धसंज्ञे—भा० ९।४।५३।

३. अभिवृत्तास्तु ते मन्त्रा दर्शनैस्तारकादिभिः।
आदिकल्पे तु देवानां प्रदुर्भूतास्तु ते स्वयम्॥ मत्स्य० १४१।४५।

४. वायु० ६३।१२-२०।

(३) देवताओं के आद्य मन्वन्तर में ब्रह्मा द्वारा देवयान के मार्गरूप चार आश्रमों का निर्माण किया जाना[१]।

(४) स्वायंभुव मन्वन्तर के आद्य त्रेता युग में स्वायम्भुव मनु के पौत्रों द्वारा सम्पूर्ण पृथिवी का विनिवेशन[२]। इसी काल में ध्रुव का तपस्या कर महद्‌यश को प्राप्त करना[३], एवं यज्ञ प्रवर्तन के संबन्ध में ऋषियों एवं देवताओं में परस्पर महान् विवाद का उत्पन्न होना[४] इस मन्वन्तर के चार युग[५] याम नामक देवों की उत्पत्ति,[६] इस मन्वन्तर के द्वापर युगु के प्रवृत होने पर ब्रह्मा का मनु से कुछ कहना[७] स्वायम्भुव मनु के दश पुत्रों का वर्णन,[८] इस मन्वन्तर में देवता, असुर, सुपर्ण, गन्धर्व, पिशाच, उरग, राक्षस आदि आठ देव योनियों एवं पितरों की सहस्रों सन्तानों का व्यतीत होना,[९] जिनकी संख्या अत्यधिक होने के कारण उनका विवरण प्रस्तुत कठिन बताया गया है[१०]।

---

१. आद्ये मन्वन्तरे भुवि, वायु० ८।१९७।

२. स्वायंभुवेऽन्तरे पूर्वमाद्यत्रेतायुगे तदा।
प्रियव्रतस्य पुत्रैस्तैः पौत्रैः स्वायंभुवस्य तु॥
प्रजासर्गं तपो योगैस्तैरियं विनिवेशिता॥ वायु० ३५। ५-६।

३. त्रेतायुगे तु प्रथमे पौत्रः स्वायम्भुवस्य सः॥ वही, ६२।८०।

४. एवं विवादः सुमहान् यज्ञस्यासीत् प्रवर्तने।
ऋषीणां देवतानां च पूर्वं स्वायम्भुवेऽन्तरे॥ वही, ५७।११९।

५. चतुर्युगानि यान्यासन् पूर्वं स्वायंभुवेऽन्तरे। वही, ५७।१।

६. त्रेतायुगमुखे पूर्वमासन् स्वायंम्भुवेऽन्तरे।
देवा यामा इति ख्याताः पूर्वं ये यज्ञसूनवः॥ वही, ३१।३।

७. द्वापरे च पुरावृत्ते मनोः स्वायम्भुवेऽन्तरे।
ब्रह्मा मनुमुवाचेदं तद्वदिष्ये महामते॥ वही, ६०।२।

८. अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधामेधातिथिर्वसुः।
ज्योतिष्मान् द्युतिमान् हव्यः सवनः पुत्र एव च॥
मनोः स्वायम्भुवस्यैते दशपुत्रा महौजसः॥ वही, ३१।१७-१८।

९. वायु ३१।१०-१३।

१०. नो शक्यमानुपूर्वेण वक्तुं वर्षशतैरपि।
बहुत्वान्नामधेयानां संख्या तेषां कुले तथा॥ वही, ३१।२०।

(५) कृत के अन्त में क्षत्रियों और विप्रों का घोर युद्ध[1]।

(६) चाक्षुष मन्वन्तर में पृथु का जन्म लेना,[2] इसके पहले मन्वन्तरों में पृथिवी का ऊँचा-नीचा होना जिसे सम बना कर उनका इस पर खेती, पुर, ग्राम गोरक्षा, वाणिज्य आदि की स्थापना करना,[3] विकुण्ठा के गर्भ से वैकुण्ठ का अवतार[4] लेना।

(७) सप्तम वैवस्वत् मन्वन्तर में मरीचिनन्दन कश्यप से आदित्य, वसु, रुद्र, साध्य, मरुद्गण, विश्वेदेव, भृगु, अङ्गिरस आदि देवों एवं परमर्षियों का जन्म लेना;[5] कश्यप एवं अदिति से वामन की उत्पत्ति जिन्होंने तीन पगों में तीन लोकों को नाप कर इन्द्र को दे दिया,[6] दक्ष प्राचेतस के यज्ञ का विनाश[7]। कृत युगके आरम्भ में त्रैलोक्य विख्यात तारकामय संग्राम होने का उल्लेख[8]।

(८) त्रेतायुग में त्रयी (वेदधर्म) का प्रतिष्ठित होना[9]। इसी काल में

---

१. आसीत् कृतयुगस्यान्ते युद्धं परमदारुणम्—विष्णुधर्म० १।७४।५।

२. चाक्षुषस्य निसर्गे तु समासाच्छ्रोतुमर्हथ।
तस्यान्ववाये संभूतः पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्, ॥ वायु० ६२।७२।

३. न हि पूर्वं विसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभागः पुराणां वा ग्रामाणां वापि विद्यते ॥
न सस्यानि न गोरक्षा न कृषिर्न वणिक्पथः।
चाक्षुषस्यान्तरे पूर्वं मेतदासीत्पुराकिल ॥ वायु ६२।१७५-६।

४. वैकुण्ठः स पुनर्देवः संप्राप्ते चाक्षुषेऽन्तरे—वही, ६६।१३४।

५. वायु० ६४।१-४।
स तु नारायणः साध्यः प्राप्ते वैवस्वतेऽन्तरे।

६. मारीचात् कश्यपाद्विष्णुरदित्यां संवभूव ह।
त्रिभिः क्रमैरिमांल्लोकांजित्वाविष्णुमुपक्रमम् ॥ वायु० ६६।१३५-१३६।

७. प्राचेतसस्य दक्षस्य कथं वैवस्वतेऽन्तरे।
विनाशमगमत् सूत हयमेधः प्रजापतेः ॥ वायु० ३०।७९।

८. वृत्ते वृत्रवधे वर्तमाने कृते युगे।
आसीत् त्रैलोक्यविख्यातः संग्रामस्तारकामयः ॥ मत्स्य० १७१।१०।

९ त्रेतायां संप्रवृत्तायां मनसि त्रय्यवर्तत ॥ भाग० ९।१४।४३।

पुरूरवा का यज्ञानुष्ठान से गन्धर्व लोक को प्राप्त करना[१], आद्य त्रेता के मध्य में ब्रह्मा का अन्य प्रजाओं को रचना[२]।

(९) द्वितीय द्वापर में धन्वन्तरि का आविर्भाव[३]।

(१०) त्रेता और द्वापर की सन्धि में भार्गव राम[४] एवं दाशरथी राम[५] का उत्पन्न होना एक दूसरे मत से चौबीसवें त्रेता युग में विश्वामित्र और राम[६] का होना एवं राम द्वारा रावण का नाश[७] राम के समकालीन वाल्मीकि का चौबीसवें परिवर्त में ऋक्ष नामक व्यास होना[८]

---

१. पुरूरवस एवासीत् त्रयीत्रेतामुखे नृप ।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गान्धर्वमेयिवान् ॥ भाग० ९।१४।४९ ।

२. ततोऽन्या मानसीः सोऽथ त्रेतामध्ये सृजत्प्रजाः । वायु० ८।२०० ।

३. द्वितीयं द्वापरं प्राप्य थविता त्वं न संशयः ।
द्वितीये द्वापरे प्राप्ते सौनहोत्रः प्रकाशिराट् । वायु० ९२।१६-१७ ।
द्वितीयायां तु संभूत्यां लोके ख्यातिं गमिष्यति ॥ वायु० ९२।१४,
ब्रह्मा० ३।७।१९-२० ।

४. त्रेता द्वापरयोः सन्धौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत् पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ महा० आदि० २।३ ।

५. संधौ तु समनुप्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्य च ।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः ॥ महा०, शान्ति ३४८।१६ ।

६. चतुर्विंशयुगे चापि विश्वामित्रपुरः सरः ।
राज्ञो दशरथस्याथ पुत्र· पद्मायतेक्षणः ॥
लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः ॥ हरिवंश १।४१।२१-२२ ।

७. त्रेतायुगे चतुर्विंशे रावणस्तपसः क्षयात् ।
रामं दाशरथिं प्राप्य सगणः क्षयमोयिवान् ॥ वायु० ७०।४४-४९,
ब्रह्माण्ड ३।८।५१-५४ ।

८. परिवर्ते चतुर्विंशे ऋक्षो व्यासो भविष्यति, वायु० २३।२०६ ।
त्रेतायुगे चतुर्विंशे भृगुवंशोद्भवेन तु ।
बाल्मीकिना तु रचितं स्वमेव चरितं शुभम् ॥ ब्रह्माण्ड ३।८।५१-५४ ।

जिन्होंने रामाख्यान लिखा[1]।

(११) नर-नारायण का द्वापरान्त में वासुदेव और अर्जुन के रूप में अवतरित होकर पृथिवी का भार उतारना[2]। वैवस्वत मन्वन्तर के २८वें द्वापर में कृष्ण के समकालीन पराशर सूनु व्यास कृष्ण द्वैपायन का जन्म लेना[3], द्वापरादि (द्वापर के अन्त) में शुक का अपने पिता व्यास से भागवत पढ़ना[4], द्वापर के प्रत्येक युग में व्यास का उत्पन्न होना[5] (२८ व्यासों की परम्परा), उन्तीसवें चतुर्युग में द्रोणी का व्यास होना[6] एवं देवापि द्वारा क्षात्रवंश को पुनरुज्जीवित किया जाना[7], वर्तमान मन्वन्तर में कलियुग के पूर्व २८ चतुर्युगों का काल व्यतीत हो चुका एवं कलि का आरम्भ आसन्न में ही होने वाला है[8]। ब्रह्मा का रैवत को यह बताना कि अब तक २७ चतुर्युग का काल व्यतीत हो चुका है। इसलिए तुम अपनी कन्या को व्रज में अवतरित बलदेव को

---

१. त्रेतायुगे चतुर्विंशे भृगुवंशोद्भवे न तु।
वाल्मीकिना तु रचितं स्वमेव चरितं शुभम् ॥ विष्णुधर्म० १।७४।३८-३९।

२. तथैव द्वापरस्यान्ते वासुदेवार्जुनौ रणे।
चक्रतुर्वसुधां लघ्वी नरनारायणौ नृप ॥ विष्णुधर्म० १।७४।२०।

३. अष्टाविंशे पुनः प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते।
पराशरसुतः श्रीमान् विष्णुर्लोकपितामहः ॥
तदा षष्ठेन चांशेन कृष्णः पुरुष सत्तमः।
वसुदेवाद्यदुश्रेष्ठ वासुदेवो भविष्यति ॥ लिंग १।२४।१२४-१२६,
देवी भाग० १।३।२२-२३, वायु २३।२१९, तु० विष्णुधर्म० १।७४।२२।

४. इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितम्।
अधीतवान द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम् ॥ भाग० २।१।८।

५. वायु० २३।११४-२२६, लिंग १।२४।१२-१२६, देवीभा० १।३।२६-३३।

६. एकोनत्रिंशत्संप्राप्ते द्रौणिर्व्यासो भविष्यति। देवी भा० १।३।२२-२३।

७. देवापिः पौरवो राजा ऐक्ष्वाको यश्च तेमतः।
महायोग बलोपेतौ कलापग्राममाश्रितौ ॥
एतौ क्षत्रप्रणेतारौ नवविंशे चतुर्युगे ॥ मत्स्य० २७२।५४-५५,
तु० वायु० ३२।३९-४०।

८. सांप्रतं महीतलेऽष्टाविंशतितममनोश्चतुर्युगमतीतप्रायं वर्तते।
आसन्नो हि कलिः। विष्णु ४।७६-७७।

प्रदान कर दो[१]। वैवस्वत मनु के २८वें द्वापरान्त में कुरुक्षेत्र में रण (महाभारत) होने का उल्लेख[२]।

(१२) कलि में सूर्य वंश[३] एवं इक्ष्वाकुवंश[४], जो सुमित्रांत तक होगा उसका नष्ट हो जाना एवं कीकट क्षेत्र में बुद्ध का उत्पन्न होना[५]।

इसके अतिरिक्त वाराहकल्प में देवों और दैत्यों के बीच उत्तराधिकार के लिए हुए १२ संग्रामों का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है—

(१) नारसिंह—नरसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का मारा जाना, (२) वामन द्वारा बलि का बाँधा जाना, (३) वराह द्वारा पृथ्वी का उद्धार, (४) अमृतमन्थन के लिए युद्ध, (५) तारक के साथ शिव पुत्र "कार्त्तिकेय" का युद्ध, (६) आडीवक युद्ध, (९) ध्वज के साथ हुआ संग्राम, (१०) वार्त-संग्राम, (११) हालाहल एवं (१२) कीलाहल[६] युद्ध।

---

१. कालोऽभियातस्त्रिणवश्चतुर्युगविकल्पितः ।
तद् गच्छ देवदेवांशो बलदेवो महाबलः ॥ भाग० ९।३।३३ ।

२. भविष्याख्ये महाकाले प्राप्ते वैवस्वतेऽन्तरे ।
अष्टाविंशद्वापरान्ते कुरुक्षेत्रे रणोऽभवत् ॥ भविष्य, प्रतिसर्ग ३।३।४ ।

३. कलेरन्ते सूर्यवंशं नष्टं भावयिता पुनः । भाग० ९।१३।८ ।

४. इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति ।
यतस्तं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ ॥ भाग० ९।११।१६ ।
एतेन क्रमयोगेन ऐला इक्ष्वाकवो नृपाः ।
उत्पद्यमानस्त्रेतायां क्षीयमाणा कलौ युगे ॥ मत्स्य० २७२।६४ ।

५. ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्ना जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ भाग० १।३।२४ ।

६. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन् ।
वराहेऽस्मिन् दशद्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः ॥
प्रथमो नारसिंहस्तु द्वितीयश्चापि वामनः ।
तृतीयः स तु वाराहश्चतुर्थोऽमृतमन्थनः ।
संग्रामः पञ्चमश्चैव सुघोरस्तारकामयः ॥
षष्ठो ह्याडीवकस्तेषां सप्तमस्त्रैपुरः स्मृतः ।
अन्धकारोऽष्टमस्तेषां ध्वजश्च नवमः स्मृतः ॥
वार्तश्च दशमो ज्ञेयस्ततो हालाहलः स्मृतः ।
स्मृतो द्वादशमस्तेषां घोरः कोलाहलोऽपरः ॥ वायु० ९७।७२-७६ ।

नरसिंह ने हिरण्यकशिपु को; वामन ने बलि को; वराह ने हिरण्याक्ष को; इन्द्र ने प्रह्लाद एवं विरोचन को, शंकर ने त्रिपुर को एवं रजि ने असुरों को एवं देवताओं ने षण्डामर्क को जीत लिया[1]।

पुराणों में उल्लिखित घटनाएँ एवं उनका कालक्रम निम्न प्रकार से, वर्णित है। प्रधान अवतारों का वर्णन करते हुए निम्न कालक्रम से नारायण से लेकर कल्कि तक का वर्णन एक कालक्रम में उपस्थित किया गया है जैसे चाक्षुष मन्वन्तर में धर्म से नारायण की उत्पत्ति, चतुर्थयुगाख्या में नरसिंह का अवतार, त्रेता के सप्तमयुग में बलि को बाँधने के लिए वामन का प्रादुर्भाव, का उल्लेख है[2]। उक्त तीनों विभूतियाँ उनकी दिव्य कही गई हैं। इसी प्रकरण में आगे चलकर भगवान् विष्णु की सात मानव विभूतियों का प्रादुर्भाव-काल पठित है। दशवें त्रेतायुग में चौथी विभूति दत्तात्रेय, पन्द्रहवें त्रेतायुग में पाँचवीं विभूति मान्धाता, इक्कीसवें त्रेतायुग में छठी विभूति विश्वामित्र के समकालीन जामदग्न्य राम, चौबीसवें त्रेता में सातवीं विभूति के रूप में वसिष्ठ के साथ दाशरथी राम, २८ वें द्वापर में पराशर से आठवीं विभूति वेदव्यास, २८ वें द्वापर में वृष्णिकुल में वसुदेव पुत्र कृष्ण नवीं विभूति तथा इस युग के क्षीण होने पर कल्कि विष्णुयशस् दशवीं विभूति के रूप में उत्पन्न कहे गए हैं[3]।

---

१. एते देवाः पुरा वृत्ताः संग्रामा द्वादशैव तु ।
देवासुरक्षयकराः प्रजानामशिवाय च ।। वही, ९७।७७-८७ ।

२. धर्मान्नारायणस्तस्मात् संभूताश्चाक्षुषेऽन्तरे ।
यज्ञं प्रवर्तयामास चैत्ये वैवस्वतेऽन्तरे ।।
चतुर्थ्यां तु युगाख्यायामापन्नेष्वसुरेष्वथ ।
संभूतः स समुद्रान्तर्हिरण्यकशिपोर्वधे ।।
द्वितीयो नरसिंहो भूद्रुद्रः सुरपुरस्सरः ।
बलिसंस्थेषु लोकेषु त्रेतायां सप्तमे युगे ।
दैत्यैस्त्रैलोक्य आक्रान्ते तृतीयो वामनोऽभवत् ।। वायु० ९८।७१-७४,
ब्रह्माण्ड ३।७३।७२-७७ ।

३. एतास्तिस्रः स्मृतास्तस्य दिव्याः सम्भूतयः शुभाः ।
मनुष्याः सप्त यास्तस्य शापजांस्तान्निबोधत ।।
त्रेतायुगे तु दशमे दत्तात्रेयो बभूव ह ।
नष्टे धर्मे चतुर्थश्च मार्कण्डेयपुरःसरः ।।

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि पौराणिक प्राचीन घटनाओं के निरूपण में पुराणकारों ने काल का संकेत भी दिया है, पर वह प्रणाली युगों की है, संवतों की नहीं। युग, मन्वन्तर, और कल्प की प्रधान घटनाओं का निरूपण उनमें है। अतः यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन लोगों को संवत् की गणना प्रणाली ज्ञात नहीं थी। यह अवश्य है कि जो गणना प्रणाली उनकी है उनका आधुनिक इतिहास के साथ सामंजस्य हम बैठाने में सफल नहीं हुए हैं एवं यह उलझन विद्वानों के व्यक्तिगत मान्यताओं एवं विचारधाराओं के कारण अधिक है, क्योंकि वे शास्त्रों में उल्लिखित युग-व्यवस्था या कालगणना प्रणली को समुचित रूप से सुलझा नहीं पाये हैं। यद्यपि इस दिशा में विद्वानों ने काम किया है, फिर भी अभी सर्वांगीण प्रयत्न करना शेष है।

ऐतिहासिक संवत्सरों का विकास

विद्वानों की धारणा है कि भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युगों में किसी संवत् विशेष का प्रयोग नहीं होता था क्योंकि ई० सन् के पूर्व किसी सुव्यवस्थित संवत् का प्रयोग घटनाओं के निरूपण के लिए नहीं प्राप्त होता[1]। वस्तुतः विद्वानों का उक्त आक्षेप सत्यांश के निकट है, क्योंकि

पञ्चमः पञ्चदश्यान्तु त्रेतायां संबभूव ह।
मान्धातुश्चक्रवर्तित्वे तस्थौतथ्य पुरः सरः॥
एकोनविंशे त्रेतायां सर्वक्षत्रान्तकोऽभवत्।
जामदग्न्यस्तथा षष्ठो विश्वामित्रपुरः सरः॥
चतुर्विंशे युगे रामो वसिष्ठेन पुरोधसा।
सप्तमो रावणस्यार्थे जज्ञे दशरथात्मजः॥
अष्टमो द्वापरे विष्णुरष्टाविंशे पराशरात्।
वेदव्यासस्ततो जज्ञे जातूकर्णपुरः सरः॥
अस्मिन्नेव युगे क्षीणे संध्याश्लिष्टे भविष्यति।
कल्किर्विष्णुयशा नाम पाराशर्यः प्रतापवान्॥
दशमो भाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्य पुरः सरः॥

वायु० ९८।८८-९३, १०३-४, तु० ब्रह्माण्ड ३।७३।८८-१०५।

१, "आरम्भ में मूलतः किसी संवत् का प्रयोग नहीं होता था। यदि किसी घटना की तिथि देना आवश्यक समझा जाता था, वह उस राजा के राज्य

अब तक किसी संवत् विशेष[१] में प्राचीन घटनाओं के अंकित करने के अभिलेखीय या अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु भारत ऐसे प्राचीन सांस्कृतिक देश में जहाँ सांस्कृतिक इतिहास की धारा कई सहस्र वर्षों से प्रवाहित होती चली आ रही है, वहाँ किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष से संबन्धित या प्रचलित संवत् का प्रयोग सार्वभौम रूप से हो यह उसके विशाल क्षेत्रीय परिमाण और विभिन्न जातियों के निवास को दृष्टि में रख कर संभव नहीं प्रतीत होता। दूसरी बात यह है कि काल की सुदीर्घ परंपरा में यहाँ व्यक्ति का स्थान न्यून समझा गया। जीवन की सामान्य घटनाओं का संकलन तो दूर रहा प्रधान घटनाओं का भी लोग संकलन नहीं करते थे और न उनका महत्त्व ही समझते थे। इसलिए मध्य-काल तक के बड़े-बड़े व्यक्तियों के निजी जीवन-चरित्र के विषय में भी हम कुछ अधिक नहीं जानते! इसके अतिरिक्त जो कुछ हमारे पास सौभाग्य से बच गया है वह प्रायः धार्मिक परिवेश से आवृत है जिसके ऐतिहासिक सत्यांश को निकाल पाना सामान्यतया कठिन हो जाता है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त रामायण और महाभारत दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ हमारे पास हैं। इनसे भी और अधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक वाङ्मय हमारे पुराण हैं जहाँ ब्रह्मदिन से लेकर वर्तमाकाल तक के दिनों का हिसाब जोड़ कर रखा गया है, किन्तु इनमें भी घटनाओं का निरूपण युगानुक्रम से हुआ है जैसा हम ऊपर देख चुके हैं।

वर्ष में दी जाती थी जिसके काल में वह घटित हुई रहती थी। "वार्नेट", एण्टी० क्वीठीज आफ इण्डिया, पृ० १२४-५।

"प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के प्रायः तिथि विहीन होने का मुख्य कारण यह है कि ई० सन् के पूर्व भारतवर्ष में किसी संवत् का प्रयोग प्रचलित नहीं था।"

सी० वी० वैद्य "हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर", पृ० २-३।

"ई० पूर्व प्रथम शताब्दी के पूर्व इस बात के पुष्ट प्रमाण नहीं हैं कि भारतवर्ष में किसी सुव्यवस्थित संवत्सर व्यवस्था का प्रयोग घटनाओं को अंकित करने के लिए किया जाता था जैसा कि मध्य और अर्वाचीन यूरोप में रोम के (ए० यू० सी०) या ईस्वी सन् का प्रयोग होता था"।

—ए०एल० वाशम, "दी वण्डर दैट वाज इण्डिया", पृ० ४९३।

१. इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० १७६।

साहित्यिक उद्धरणों के पश्चात् इतिहास के प्रधान साधन अभिलेख और मुद्राएँ हैं। अभिलेखों का महत्त्व न केवल इसलिये है कि ये बहुत अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं, अपितु इसलिये भी है कि ई० सन् के पश्चात् इनमें अधिकांश शिलालेख किसी न किसी विशिष्ट संवत् में तिथि-युक्त हैं जिससे उनकी सत्यता जाँची जा सकती है। किन्तु दुर्भाग्य से अधिकांश प्रारम्भिक अभिलेख तिथि-विहीन हैं [1]। यह भी ध्यान देने की बात है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी से पहले के शिलालेख नहीं के बराबर हैं। भारतीय इतिहास में सर्वप्रथम अशोक के शिलालेख प्राप्त होते हैं, जिनमें गणना के लिये किसी संवत् विशेष का प्रयोग नहीं है, अपितु उसके राज्य वर्ष में विभिन्न घटित घटनाओं[2] का निरूपण हुआ है। यही क्रम भागभद्र[3] उदाक,[4] खारवेल[5] और गौतमीपुत्र सातकर्णी के अभिलेखों तक चलता है।

---

१. आर० बी० पाण्डेय—इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० १७६; इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २४०-२४१।

२. द्वादश वसाभिसितेन मया इदं आनापितम्—अशोक का तृतीय शिलालेख (ल० २७२-३ ई० पू०)
त्रेदशवसाभिसितेन मया धर्ममहामात्र कट—वही, पंचम शिलालेख
दसवसाभिसितो संतोयाय संबोधिम् —वही, तृतीय शिलालेख, गिरनार
अठ वस अभिसितस — —,, त्रयोदश शिलालेख
सलेक्ट इंसक्रिप्सन्स, पृ० १९, २३, २८, ३५, ३६।

३. वसेन चतुदशेन राजेन वधमानस—भागभद्र के काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० का बेसनगर अभिलेख, वही, पृ० ९१।

४. उदाकस दशम सवच्छरे—उदाक का पभोसा अभिलेख (प्रथम शताब्दी ई० पू०) वही, पृ० ९८।

५. अभिसितमतो च पथमे वसे—खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख (प्रथम शताब्दी ई० पू०) वही, पृ० २०७।

६. सवच्छरे १८ वास पखे—गौतमी पुत्र सातकर्णी का नासिक अभिलेख (ई० १०६-३० ई० स०) वही, पृ० १९२।
आर० बी० पाण्डेय, इण्डियन पैलियोग्राफी—पृ० १७८-१८३।

प्रारम्भिक प्राप्त सिक्कों पर भी राज्य वर्ष ही उल्लिखित हैं।[1] उक्त उदाहरणों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राजकीय प्रमुख घटनाओं का निरूपण उस राजा के बीते हुए राज्य वर्ष में किया जाता था। घटनाओं के निरूपण की यह प्रक्रिया अशोक के शासन काल (२७२ ई० पू०) से लेकर गौतमी पुत्र सातकर्णी के काल तक (१३० ई० स०) चली आती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि अब तक किसी निश्चित संवत् विशेष का प्रयोग नहीं होता था। संभव है धार्मिक क्षेत्र में लोक-व्यवहार के लिये कलियुग, सप्तर्षि, बौद्ध, जैन निर्वाण, एवं हर्ष (४५ई०पू०) आदि के संवत् प्रचलित रहे हों जैसा कि अलबेरुनी ने लिखा है कि भारतीय लोग ब्राह्ममान, कल्प, सप्तम मनु (वैवस्वत्), कृतयुगारम्भ, कलियुगारम्भ, एवं पाण्डवकाल आदि विभिन्न संवतों से गणना करते थे किन्तु इनके बृहद् मान के कारण लोग इन्हें छोड़ कर हर्ष, विक्रम एवं शक आदि छोटे मान अपना लिए थे[2]।

ज्योतिष के 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ में कलियुग के छह शककर्ताओं (संवत् प्रवर्तकों) युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजयाभनन्द, नागार्जुन और कल्किन् का उल्लेख है, जिनके राज्य वर्ष क्रमशः ३०४४, १३५, १८००, १००००, ४००००० और ८२१ वर्ष उल्लिखित हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ का आरम्भ काल ३०३८ कलि कहा गया है पर इसकी भाषा-शैली आदि के ऊपर विचार करने के पश्चात् विद्वान् इसे (१५-१६ वीं) की

---

१. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २४२-२४३।

2. "of their eras we may mention :—
(i) The beginning of the existence of Brahman, (ii) The beginning of the present nychemeron of Brahman, i. e., the beginning of the Kalpa (iii) The beginning of the seventh manvantara in which we are now, the beginning of the twenty eighth chaturyuga in which we are now (iv) the beginning of the fourth yuga of the present chaturyuga called Kalikāla i. e. the time of Kali .. the Kaliyuga, (v) Pāṇdava Kāla i. e. the time of the life and the wars of Bhārata."

Alberuni's India, Vo. II, p. 1.

रचना मानते हैं[1]। अतः ज्ञात होता है कि इन संवतों का अस्तित्व प्राचीन भारत में था यद्यपि राजकीय स्तर पर इनके प्रयोग हमें नहीं मिलते हैं। राजतंत्र में राजा ही प्रधान था अतः उसके राज्य वर्ष की महत्ता थी जिसके कारण शासन के सभी कार्य, उसके अधिकारियों द्वारा उसके राज्य वर्ष में ही प्रस्तुत किये जाते थे। इन संवतों के विषय में बहुत स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलने के कारण एवं सर्व प्रथम विदेशियों के अभिलेखों और मुद्राओं पर एक क्रमिक राज्य वर्ष का प्रयोग प्राप्त होने के कारण बहुत से विद्वान् सर्व प्रथम संवतों का विकास पह्लव (सीथोपार्थियन) एवं कुषाणवंशीय नरेशों से मानते हैं। ई० पू० ५७ और ई० सन् ७८ से आरम्भ होने वाले 'विक्रम' और 'शक' नामक दोनों संवतों का प्रवर्तन विदेशियों से मानते हैं[2]। यद्यपि अभिलेखीय साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संवतों के विकास में राजाओं के राज्यवर्ष की क्रमिक गणना ही प्रधान रूप से रही है, जो उस वंश के नरेशों द्वारा एक निश्चित क्रम से अपनाए जाने के कारण संवत् का रूप धारण कर लिया, किन्तु इसकी कल्पना विदेशी रही है यह सत्य नहीं प्रतीत होता। शक संवत् तो शक नृपतियों द्वारा चलाया ही गया था, किन्तु विक्रम संवत् की प्रकृति सीथोपार्थियन राजाओं से है, ऐसा संवत् के किसी उपकरण से ज्ञात नहीं होता। उसका प्रारम्भिक नामकरण कृत, मालवगण, विक्रम आदि नामों का परिवर्तन विभिन्न स्थितियों की सूचना देते हैं, किन्तु किसी विदेशी प्रभाव का नहीं। पुनश्च विदेशियों द्वारा प्रवर्तित संवतों को अपनाने का कोई औचित्य समझ में नहीं आता क्योंकि संवतों के प्रवर्तन की परम्परा भारत वर्ष में बहुत ही प्राचीन रही है। घटनाओं का आकलन किसी प्रसिद्ध घटना के काल, या किसी महापुरुष के जीवन या मृत्यु काल से किया जाता था; जैसा युधिष्ठिर, जैन एवं बौद्ध आदि के निर्वाणकालों में हम पाते हैं। किन्तु इसका प्रयोग सीमित होने के कारण राजाओं द्वारा प्रवर्तित काल ही अधिक प्रयोग में आने लगे।

---

१. युधिष्ठिरो विक्रमशालिवाहनौ नराधिनाथो विजयाभिनन्दिनः।
इमे तु नागार्जुनमेदिनी विभुर्बलिः क्रमात् षट् शककारकाः कलौ।
विशेष द्रष्टव्य, ज रा ए सु १९११, पृ० ६९४,
हि०धर्म०, जि० ५७ भाग १, पृ० ६४७।

२. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २४०-२४१।

विक्रम और शक संवतों के उपरान्त गुप्त संवत्, हर्षसंवत्, वलभी संवत्, चेदि वा कलचुरी संवत्, चालुक्य विक्रम संवत् आदि अनेक राजाओं द्वारा प्रवर्तित राजकीय संवत्सरों का उल्लेख हम शासन और लोक-व्यवहार दोनों में देखते हैं। इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर अब तक संवतों के प्रयोग की एक सुदीर्घ परम्परा हम पाते हैं जिनकी संख्या ४०-४५ तक पहुँच जाती है। विद्वानों ने इनका विभाजन इनकी चक्रात्मक गति, वा गणितीय आरम्भ काल, या चान्द्र-सौर गति आदि के सम्बन्ध के आधार पर कई रूपों में किया है जिन्हें निम्न ग्रन्थों में देखा जा सकता है[1]।

भारतीय परम्परा में प्रयुक्त संवत्सरों की सूची

भारतीय साहित्य एवं अभिलेखों में निम्नलिखित संवत्सरों का प्रयोग हुआ है–

१. ब्राह्म संवत्	११. मौर्यसंवत्
२. कल्पादि संवत्	१२. नन्दसंवत्
३. सृष्ट्याब्द या सृष्टि संवत्	१३. संप्रति-काल
४. कलिसंवत् (महाभारत युद्ध एवं युधिष्ठिर संवत्)	१४. पार्थिनयन-संवत्
	१५. सिल्यूकस-संवत्
५. सप्तर्षि संवत्	१६. विक्रम-संवत्
६. बार्हस्पत्यमान (षष्टिवर्ष संवत्सर एवं द्वादश वर्ष संवत्सर)	१७. शक-संवत् (शालिवाहन)
	१८. गुप्तवल्लभी काल
७. जैन निर्वाण संवत्	१९. कलचुरी-संवत् या चेदि-संवत्
८. बुद्ध निर्वाण संवत्	२०. गङ्ग या गाङ्गेय संवत्
९. ग्रहपरिवृत्ति एवं परशुराम चक्र	२१. हर्षकाल
१०. श्रीहर्ष संवत् (४५७ ई०पू०)	२२. भौमकार-संवत्

---

१. वैरेन–काल संकलित, एल० डी० बार्नेट-एण्टीक्यूटीज आफ इण्डिया, पृ० १२४-१२६; प्रिंसेप्स-यूजफुल टेबुल्स, पृ० १४८-२१४।
कनिंघम-इण्डियन एराज, म०म० गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा-प्राचीन लिपि-माला परिशिष्ट, पृ० १५९-१९५।
आर० बी० पाण्डेय, इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० १७६-२१७।
डा० डी०सी० सरकार-इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २१९-३२५।

२३. चालुक्य विक्रम संवत्
२४. सिंह-संवत्
२५. पडुवप्पु-संवत्
२६. कोलम्ब-संवत्
२७. नेवारी-संवत्
२८. खिष्ट्राब्द
२९. लक्ष्मण सेन काल
३०. कूचविहार संवत्
३१. शिवाजी राज्यारोहण काल
३२. हिज्रसंवत् और उससे प्रभावित काल
३३. हिज्रसंवत्
३४. फसली संवत्
३५ साहूर, सुहूर काल
३६. विलायती संवत्
३७. अमली संवत्
३८. बगाली संवत्
३९. त्रिपुर संवत्
४०. मागी संवत्
४१ मल्ल सवत्
४२. भाटिक संवत्
४३. मौलूड़ी काल
४४. मुद्रक काल

उक्त संवत्सरों की विस्तृत सूची में प्राचीन भारत के पारंपरिक केवल निम्न १–ब्राह्मकल्प, २–सप्तर्षि काल, ३–कलिकाल, ४–बार्हस्पत्यमान, ५–परशुराम चक्र, ६–जेन निर्वाण, ७– बुद्ध निर्वाण, ८–ग्रहपरिवृत्ति इन आठ संवत्सरों को अध्ययन के लिए चुना गया है, जिनके इतिहास की मौलिक उद्भावना भारतीय परंपरा एवं साहित्य में सुरक्षित है, किन्तु जिनकी ऐतिहासिकता अन्धकार में छिपा है। इनमें ब्राह्ममान, सप्तर्षि, कलियुग और बार्हस्पत्य मान अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। जैन और बुद्ध निर्वाण संवत् ऐतिहासिक काल के हैं पर इनकी भी ऐतिहासिकता अन्धकारमय और अनिश्चित है अतः इन्हें भी उक्त संवतों के साथ ग्रहण कर लिया गया है। परशुराम काल या कोलम्ब संवत् और ग्रह परिवृत्ति नामक चक्रात्मक संवत् दक्षिण भारत से संबन्धित हैं उनके भी प्रवर्तकों का इतिहास अज्ञात ही है, अतः परंपरया प्रवर्तित होने के कारण इन पर भी कुछ विचार किया गया है। इस प्रकार उन संवत्सरों को जिनको ऐतिहासिकता और अस्तित्व पर विद्वानों को संदेह था उन्हें यहाँ एक विकास क्रम से ऐतिहासिक परिवेश में निरूपित करने का प्रयास किया गया है।

———

अध्याय ४

पारंपरिक संवत्सर

ब्राह्म-कल्प संवत्सर

आर्य संस्कृति में ब्रह्मा सृष्टि के प्रथम उद्भावक पुरुष हैं, जिनके द्वारा इस सम्पूर्ण विश्व प्रपंच की रचना होती है[1]। इनको ही हिरण्यगर्भ कहा गया है[2]। अपनी आयुष्य के प्रमाण से वे एक सौ वर्ष की आयु वाले कहे गये हैं। उनका एक दिन कल्प कहा जाता है, जो एक सहस्र चतुर्युग[3] के तुल्य कहा कहा गया है। इसके वाद कल्प निःशेष हो जाता

---

१. स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥ वायु० ४।७७।

२. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
ऋ० १०।१२०।१, अथर्व, ४।२।७।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं, श्वेताश्वतर।
तु० हिरण्यगर्भः सोऽग्रेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुखः।
सर्गे च प्रतिसर्गे च क्षेत्रज्ञो ब्रह्म संज्ञितः ॥ वायु, ४।७८।
एवमेकार्णवे तस्मिन् नष्टे स्थावरजङ्गमे।
तदा स भवति ब्रह्मा सहस्राक्षः सहस्रपात्।
सहस्रशीर्षा सुमनाः सहस्रपात् सहस्रचक्षुर्वदनः सहस्रवाक्।
सहस्रबाहुः प्रथमः प्रजापतिस्त्रयीपथो यः पुरुषो निरुच्यते ॥
आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता अपूर्व एकः प्रथमस्तुराषाट्।
हिरण्यगर्भः पुरुषो महान् वै संपद्यते वै तमसः परस्तात् ॥
वायु, १००।१८५-७।

परमायुः शतं तस्य तयाहोरात्रसंख्यया। सूर्य सि०, १।२१।
एतत् संख्या विशिष्टस्य शतवर्षायुषो विधेः ॥ ब्रह्मवै० १।१७।३८।
पूर्णं वर्षशतं सर्वं ब्रह्मा भार्गव जीवति। विष्णुधम० १।७३।३८।

३. सहस्रयुगपर्यन्तं अहर्ब्राह्मं स राध्यते ॥
बृहद्देवता ८।१८, भगवद्गीता ८।१७, महा० शा० २३८।६४,
निरुक्त १४।४, मनुस्मृति १।७३।

है[1] एवं इतनी ही बड़ी प्रमाणवाली इनकी रात्रि कही गई है[2]। दिन भाग में सृष्टि वर्तमान रहती है एवं रात्रि के प्रारम्भ में उसका लय हो जाता है।[3] एक सहस्र युग प्रमाण वाली रात्रि के अन्त भाग में वह सृष्टि करता है[4]।

ब्रह्मा के सहस्रकल्पों का एक ब्राह्म वर्ष होता है एवं ऐसे आठ हजार ब्राह्म वर्षों का एक ब्राह्मयुग तथा ऐसे सहस्र युगों का एक ब्राह्म सवन एवं ऐसे तीन सवनों की ब्रह्मायु पठित है।[5] ब्रह्मायु दो परार्ध की कही गई है, पहला भाग परार्ध और दूसरा पर कहा जाता है।[6] पचास वर्ष

---

१. तस्मिन् युग सहस्रे तु पूर्णे भरतसत्तम।
ब्राह्मे दिवसपर्यन्त कल्पो निःशेष उच्यते॥ हरिवंश १।८।२२-३, २९।

२. इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्वरी तस्य तावती॥ सूर्य सि०, १।२०।
चतुर्युगसहस्रान्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रि युगसहस्रान्तामहोरात्रविदो जनाः॥ गीता ८।१७।
वायु १००।१३१ तु० ब्रह्माण्ड० २।३१।११४-५।
एवं युगसहस्रेण संप्राप्तेन ततः परम्।
ब्रह्मणो दिवसं भावि रात्रिश्चैव ततः परम्॥स्क०, ६।२७३।५३-५५।

३. यद् विसृष्टेस्तु संख्यातं मया कालान्तरं द्विजाः।
एतत्कालान्तरं ज्ञेयमहर्वै परमेश्वरम्॥
रात्रिस्त्वेतावती ज्ञेया परमेशस्य कृत्स्नशः।
अहस्तस्य तु या सृष्टिः प्रलयो रात्रिरुच्यते॥ वायु०, ५।१-२।

४. तुल्यं युगसहस्रस्य नैशं कालमुपास्य सः।
शर्वर्यन्ते प्रकुरुते ब्रह्मत्वं सर्ग कारणात्॥
वायु० ६।६।

५. कल्पानां वै सहस्रं तु वर्षमेकमजस्य तु।
वर्षाणामष्टसाहस्रं ब्राह्मं वै ब्रह्मणो युगम्॥
सवनं युगसाहस्रं संवदेवोद्भवस्य तु।
सवनानां सहस्रं तु त्रिविधं त्रिगुणं तथा।
ब्रह्मणस्तु तथा प्रोक्तः कालः कालानलप्रभो। ॥लिङ्ग,१।४।४२-४४।

६. परार्धद्विगुणं चापि परमायुः प्रकीर्तितम्। वायु० १००। २४१।
यस्मिन् पूर्वः परार्धे तु द्वितीये पर उच्यते। वायु० ७। १३।

को उनकी आयु व्यतीत हो चुकी है। इक्यानवें वर्ष के श्वेतवराह कल्प के छह मनु व्यतीत हो चुके हैं। सातवें वैवस्वत मनु के २७ चतुर्युग एवं अट्ठाइसवें चतुर्युग के तीन युग एवं चौथे युग कलि के आर्यभट के समय तक ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे, जिसके हिसाब से आज १९७५ में कलि के ५०७६ वर्ष गत हो चुके हैं।[1] किन्तु विष्णु धर्मोत्तर पुराण[2] में ब्रह्मायु के मान से ८ वर्ष, पांच मास चार दिन व्यतीत हो चुके हैं। वर्तमान दिन में परीक्षित के काल तक छह मनु, २७ चतुर्युग एवं अठाइसवें के तीन युग एवं चौथे कलियुग के दश वर्षगत हो गये थे।[3] यहाँ ध्यान देने की बात है कि ब्रह्मा के बीते वर्षों की परंपरा में विष्णुधर्मोत्तर एवं सूर्य सिद्धान्त में अन्तर है जो उनकी आयु के ५० वर्ष व्यतीत हुआ बताता है एवं विष्णुधर्मोत्तर आठ वर्ष। किन्तु ब्रह्मा के वर्तमान कल्प में व्यतीत युग व्यवस्था-क्रम एक ही है। गंगा के सिकताकणों एवं वर्षा की बूंदों को गिनना सम्भव है।[4] किन्तु ब्रह्मायु के व्यतीत वर्षों का ठीक-ठीक हिसाब बताना किसी के लिए सम्भव नहीं,[5] पर इस कल्प के दिन संख्या में

---

१. सूर्य सि०, १। २२-२४,
आर्यभट, कालक्रिया, श्लोक ३।

२. स्वेनाहोरात्रमानेन ब्रह्मणोऽस्य जगत्पते।
समाष्टकं गतं राजन् पञ्चमासास्तथैव च॥
अहोरात्रचतुष्कं च वर्तमानदिनाद्गतम्।
अतः परं प्रवक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥
मनवः षड् गतास्सप्त सन्धयश्च तथा गताः।
सप्तविंशद्व्यतीताश्च तथैव च चतुर्युगः॥
युगत्रयं तथातीतं वर्तमान चतुर्युगात्।
संवत्सराणां दशकं तथा कलियुगाद्गतम्॥
विष्णुधर्म० १।८०।१, ३-५।

३. विष्णुधर्म० १।८०।१, ३-५।

४. अनादिमत्वात् कालस्य संख्या वक्तुं न शक्यते।
गंगायाः सिकता धारा यथा वर्षति वासवः॥
शक्या गणयितुं राजन् न व्यतीता पितामहाः॥ विष्णुधर्म० १।८०।७-८।

५. स्वयंभुवो निवृत्तस्य कालो वर्षाग्रस्तु यः।
न शक्यः परिसंख्यातुं अपि वर्ष शतैरपि॥
कल्पसंख्या निवृत्तेस्तु पराख्यो ब्रह्मणः स्मृतः॥ वायु० ५।४६-४७।

साम्यता है। इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान कल्प से जो गणना आरम्भ हुई वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य मान से जो गणना पुराणों[१] एवं स्मृति ग्रन्थों में स्वीकृत की गई है उसके हिसाब से एक कल्प (चतुर्युग=४३२०००० × १०००) = ४३००००००० वर्षों का होता है। इस प्रकार ब्रह्मायुष्य के वर्तमान कल्प (दिन) का तेरहघटी, ४२ विघटी काल व्यतीत हो गया है।[२] मानव वर्ष के हिसाब से १९७५ ई० सन् तक यह काल १९७२९४९०७६ वर्ष के तुल्य होता है। वर्तमान सृष्टि को बनाने में ब्रह्मा को १७०६४००० वर्ष व्यतीत हुए। अतः वर्तमान सृष्टि के १९७२९४९०७६ – १७०६४००० = १९५५८८५०७६ वर्ष व्यतीत हुए।[३]

यह काल सृष्टिसंवत् एवं इसके पूर्व का काल ब्राह्म संवत् कहा जाता है। इसका विशेष उल्लेख ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[४]

मध्यकालीन (ईस० १६५८) ज्योतिष सिद्धान्तकार कमलाकर भट्ट ने "गार्ग्य श्लोकौ" लिखकर दो श्लोकों का उल्लेख किया है, जिनमें सृष्टि से सप्तम मनु के द्वापरान्त तक के सौराब्द १९५५८८००० वर्ष कहे गये हैं। ये ही श्लोक गार्ग्य कहकर रोमकसिद्धान्त में भी उल्लिखित हुए हैं।[५]

---

१. वायु० १०० । २१२-२३६ ।
   विष्णु ३।२।४८

२. कोटवेङ्कटाचलम्—"इण्डियन एराज," पृ० २-३ ।

३. कल्पारम्भ से यह काल आर्यभट के अनुसार है। "सूर्यसिद्धान्त" १।४७ के अनुसार सृष्टि से कृतान्त तक यह संख्या १९५३७२०००० सौर वर्ष के तुल्य आती है। भारतीय ज्योतिष, पृ० २५८ ।

४. वर्तमानकालीन शालिवाहन शकः १४२२ एभिरन्विता १९७२९४८६०१ एते वर्तमाने ब्रह्मणो दिने गताब्दा जाताः ।

   सि० शि०, की लक्ष्मीदास की टीका श्लोक २०, गणकतरंगिणी, पृ० ५६ कल्पगताब्दाः १९२९४८८९४ शेषाब्दाः २३४७०५११०६ ।

   विक्रम सं० १८५० का पंचांग (इ० एण्टी जि० २०, पृ० १५०)।

५. अथ माहेश्वरायुष्ये—ब्रह्मणोऽधुना ।
   (परार्धप्रथमाहेस्मिन्नायुषौ ब्रह्मणोऽधुना (रामकलि०) ।
   सप्तमस्य मनोर्याता द्वापरान्ते गजाश्विनः ॥

अल्बेरूनी ने अपने संवत्सरों के वर्णन प्रसङ्ग में इस संवत् का उल्लेख किया है और यह कहा है इसके बहुत अधिक मान के कारण लोगों ने इसका प्रयोग बन्द कर दिया था[1]। महायुगों के बृहत्मान को छोड़कर केवल १२००० वर्षों का चतुर्युग यदि माना जाय जिसका महाभारत, मनु आदि स्मृतियों एवं पुराणों में स्पष्ट उल्लख प्राप्त होता है तो भी ब्रह्मा का यह काल बहुत प्राचीन सिद्ध होता है। श्री भगवद्दत्त जी ने महाभारत का काल विक्रम से ३००० ई० पू० निर्धारित करते हुए जलप्लावन को कलि से ११००० वर्ष पहले माना है। यह ४८००० कृतयुग, ३६०० त्रेता, २४०० द्वापर)=१०८०० वर्षों का होता है, इसमें कलि के ५००० वर्ष जोड़ने पर यह लगभग १६००० वर्षों के बराबर होता है। यह न्यूनातिन्यून काल है। पूर्ण संभव है यह काल कहीं इससे अधिक हो। स्वयंभू ब्रह्मा का यह काल अति पुरातन हो सकता है[2]। सृष्टि के आरम्भ से काल गणना की प्रवृत्ति पश्चिमी जगत् के देशों में भी रही है। इस-प्रकार कान्स्तेण्टोनोपुल संवत् में सृष्टि को ५५०८ वर्ष ई० पू० पहले का बताया गया है। एलग्जेण्डरिया में प्रयुक्त संवत् के अनुसार सृष्ट्यारम्भ की उक्त तिथि ५५०२ ई० पू० कही गई है। एण्टीयोक संवत् में सृष्टि को ई० पू० ५४९२ में रखा गया है। एबिसीनिया के लोग भी अपनी गणना का प्रारम्भ ई० पू० ५४९३ में करते हैं। ज्यूज लोग भी सृष्टि की तिथि ३७६० ई० पू० मानते हैं[3]। किन्तु भारत वर्ष में यह संख्या लगभग दो करोड़ वर्षों के लगभग आती है। मेगस्थनीज के आधार पर एरियन आदि द्वारा उल्लिखित यह सूचना कि भारतीय अपने १५३ राजाओं के लिए ६४५१ या ६०४२ वर्ष गिनते थे[4] उक्त पश्चिमी संवतों के वर्षों से कुछ साम्य रखती है, किन्तु सृष्टि केवल ५-६ हजार वर्ष मात्र पुरानी है, यह कल्पना सत्य नहीं प्रमाणित होती। इतना अवश्य स्पष्ट है कि ऐतिहासिक काल की

सचतुष्केमनागार्थ शररन्ध्रनिशाकराः (१९५५८८०००)
सृष्टेरतीताः सूर्याब्दा वर्तमानात् कलेरथ ॥
भारतीय ज्योतिष, पृ० २५९।

१. अल्बेरूनीज इण्डिया, जि० २, पृष्ठ १-२।
२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २५३-५।
३. प्रिंसेप, इण्डियन क्रोनोलाजी, यूजफुलटेबुल्स, पृ० १३७-१३८।
४. पु० क्रो०, पृ० १-२।

पृष्ठ भूमि में सर्वत्र विश्व की संस्कृतियों में छह या सात हजार वर्ष ई० पू० से घटनाओं की काल गणना का प्रारम्भ हो गया था। वैसे भारतीय संस्कृति में दिव्य-युगों के समग्र मान १२०० वर्षों का ज्ञान पारसियों के साहित्य में भी मिलता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।९।२२) का यह उल्लेख कि 'एकं वा एतच्छेवानां अहः यत्संवत्सरः' जो (मानव) संवत्सर है वह देवताओं का एक दिन है पारसियों के यहाँ भी 'त ए च अयर मइन्य एत्ते यतयरे' अर्थात् 'ते च अहरं मन्यन्ते यद्वर्षम्' हमारा वर्ष उनका एक दिन है। देवताओं का १२००० दिव्यवर्ष =४३२०००० वर्षों के बराबर होता है इसीका १००० गुना ब्रह्म दिन होता है। वेबीलोनिया वालों के यहाँ भी यह गिनती चालू है। इनके अनुसार स्कन्देनेवियावालों के यहाँ कलियुग अर्थात् ४३२००० वर्ष की गिनती का ज्ञान था। स्वयं ऋग्वेद के अक्षरों की गिनती भी इतनी ही की गई है। अतः लगता है इन संख्याओं का प्राचीन काल में लोगों से भारी लगाव था जो गणना में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त की जाती थीं। भारत में इनका साङ्गोपाङ्ग रूप बचा रह गया और अन्यत्र इनके प्रयोग धूमिल पड़ गए। जो सबसे छोटा रूप रहा वह यत्र-तत्र बचा रह गया। इस प्रकार सृष्टि संवत् का लगाव विश्व की अनेक संस्कृतियों से रहा[१] जो कालक्रम से अधिक संख्या वाला होने के कारण लोगों द्वारा छोड़ दिया गया। भारतीय पंचाङ्गों में आज भी यह मान लिखा रहता है।

सप्तर्षि संवत्

भारतीय कालगणना की प्राचीन परम्परा में जिन मूलभूत संवत्सरों प्रयोग हुआ है, उनमें से सप्तर्षि सवत् भी एक है, जो कलि काल की अपेक्षा भी प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राचीन काल से अब तक इस संवत् के अनेक अभिधान भारतीय साहित्य एवं व्यावहारिक जगत् में प्रचलित रहे हैं जेसे लौकिक काल, शास्त्र संवत्, पहाड़ी संवत् एवं कच्चा संवत् आदि। सप्तर्षि गण नामक आकाशीय सप्ततारों की कल्पित गति के आधार पर प्रवर्तित होने के कारण इसे सप्तर्षि युग या सप्तर्षि संवत् या सतरिखो काल[२] सामान्य जनसमुदाय में प्रयुक्त होने के कारण

---

१. वैदिक संपत्ति, पृ० ११७-१९।

२. "सप्तर्षीणां युगं ह्योतद्" "तेभ्यो प्रवतते कालो", वायु० ९९।१९-२०। इसे लोक में सतरिसी काल कहते हैं।

लौकिक या लोक काल,[1] शास्त्रीय ग्रन्थों एवं पंचाङ्गों में उल्लिखित होने के कारण "शास्त्र-संवत्"[2] काश्मीर और पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण "पहाड़ी संवत्" एवं शताब्दियों को छोड़ कर ऊपर के ही वर्षो का प्रयोग करने के कारण "कच्चा संवत्"[3] भी कहते हैं। शब्दार्थ परम्परा के अनुसार उक्त अभियानों के ये अर्थ उचित ही प्रतीत होते हैं। एल० डी० वार्नेट के अनुसार जब तिथियों की पूर्ण गणना संवत् के आरम्भ से की जाती थी तब इसे "सप्तर्षि संवत्" एवं जब उन्हें छोटे रूप में एक सौ वर्षों के चक्र के भीतर अंकित किया जाता था तो उसे "लौकिक संवत्" या लोककाल कहते थे।[4]

सप्तर्षियों का ज्ञान आर्य जाति को बहुत प्राचीन काल से था। ऋग्वेद[5] के कई मन्त्रों में इनका उल्लेख आया है, जहाँ इन्हें अपना पूर्वज "नः पितरः" एवं "दिव्य" कहा गया है। बाद में यजुर्वेद[6] एवं अथर्ववेद[7] में भी इसका उल्लेख हुआ है। इन उद्धरणों से इनके अस्तित्व एवं देवत्व का परिचय मिलता है। अथर्व ७।४०।१ में ह्विटनी ने सप्त ऋषियों को सप्त द्रष्टा के रूप में ग्रहण किया है। किसी अन्य पारिभाषिक आशय में नहीं, किन्तु ऋ० १०।५।३९ आदि उद्धरणों एवं शतपथ ब्राह्मण २।१।२।४, १३।८।१।९, निरुक्त १०।२६ में सप्तर्षि तारकपुंज के द्योतक हैं। संभवतः आरम्भिक काल में सात ऋक्षों के रूप में इनका उल्लेख होता था जो बाद में सप्त ऋषियों के रूप में व्यवहृत होने लगा। ऋग्वेद १।२४।१० में

१. राजतरङ्गिणी १।५२, अल्बेरूनीज इण्डिया जि०, २ पृ० ८।

२. कनिंघम-इण्डियन एराज, पृ० ७।

३. म०म० जी० एच० ओझा-"प्राचीन लिपि-माला", पृ० १५९।

४. "एण्टीक्यूटीज आफ इण्डिया," पृ० १३५।

५. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे अध्यमाने। ऋ० ४।४२।८। यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहुः, ऋ० १०।८२।२, २।१०।३, काठसं०, १८।१, सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः, ऋ० १०।१०९।४,। सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः, ऋ० १०।१३।७।

६. सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, वा० सं०, ३३।५५।

७. अभयं नोऽस्त्वन्तरिक्षं सप्त ऋषीणां य हविषामयं नो अस्तु। अथर्व, ६।४०।१, सप्तऋषीनभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्, अथर्व, १०।५।३९, सप्त ऋषयोऽनयः, अथर्व० १९।९।१२।

ऋक्ष शब्द सप्त ऋक्षों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनका सम्बन्ध सप्त ऋषियों से जुड़ कर नक्षत्रों का बोधक हो गया[1]। शतपथ ब्राह्मण १४।५।२।६ में इनका नाम पूर्वक निर्देश हुआ है। एक स्थल पर इनके उत्तर दिशा में उदित होने का उल्लेख आया है[2]।

वैदिक काल के उक्त विवरण से स्पष्ट है कि उस समय तक आकशस्थ तारापुंज के रूप में उनको यह जानकारी थी, किन्तु इनमें किसी गति विशेष के होने की चर्चा या इसके आधार पर किसी काल विशेष के के प्रवर्तन का उल्लेख कम से कम संहिताओं से लेकर सूत्र काल या इससे भी पश्चात् वेदाङ्ग आदि ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। ज्योतिष के वृद्धगर्ग, पराशर एवं वराह आदि की ज्योतिष संहिताओं में सप्तर्षि चार पठित हैं, जो परम्परया बहुत से प्राचीन पुराणों जैसे वायु, मत्स्य, विष्णु, भागवत, ब्रह्माण्ड आदि में भी उल्लिखित सप्तर्षियों के प्रकल्पित गति विशेष का मूलाधार प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अलबेरूनी और राजतरङ्गिणी के लेखक कल्हण द्वारा उल्लिखित लोक में इस संवत् के व्यवहार का उद्धरण पूर्णतया सुरक्षित है। साथ ही भारतीय अभिलेखों में भी इसका अनेकशः उल्लेख हुआ है। अतः इसके क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए हम निम्न स्तरों के माध्यम से अपना विवेचन प्रस्तुत करेगें—

१—ज्योतिष संहिताओं में सप्तर्षि संवत् सम्बन्धी विवरण,

२—पौराणिक उल्लेख,

३—अलबेरूनी का उद्धरण,

४—राजतरङ्गिणी का उल्लेख,

५—भारतीय अभिलेखों का विवरण।

वराह की संहिता के टीकाकार भट्ट उत्पल ने गर्ग के वचनों को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार ऋषियों को मघा नक्षत्र में कलि और द्वपार की सन्धि में स्थित बताया गया है[3]। यहाँ न तो सप्तर्षियों का युधिष्टिर से

१. वैदिक इण्डेक्स हिन्दी, संस्करण, भाग १, पृष्ठ १२०।

२. अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षयं उद्यन्ति, श० ब्रा० २।१।२।४।

३. द्र० परिशिष्ट—१ महाभारत युद्ध की तिथि, वृद्धगर्गसिद्धान्त।

कोई संबन्ध है न शक काल से ही। यह सब वराह की स्वयं की प्रकल्पना अथवा किसी प्रचलित मान्यता के आधार पर कहा गया प्रतीत होता है। लगता है कलि के आरम्भ के समय में प्राचीन परम्परा और ज्योतिषियों की मान्यताओं में अन्तर आने के कारण ऐसा हुआ है। ज्योतिषियों के अनुसार युधिष्ठिर का संवत् ६०० या ६६६, वर्ष कलियुग के आरम्भ के अनन्तर पड़ता है, जो भारतीय ज्योतिर्विदों के गणितीय कौशल को द्योतित करता है। पराशर और आर्यभट के अनुसार कल्पारम्भ से ऋषियों का चक्र आरम्भ हुआ। ४,३२०,०००,००० वर्षों में ऋषियों का १५९९.९९८ चक्र पूरा हुआ। किन्तु कलि युगारम्भ से व्यतीत हुए समय की मान्यता में दोनों में अन्तर है, जो प्रथम के अनुसार १९७२.४४००० एवं दूसरे के अनुसार १९६९.९२०,००० है। पराशर की गणित पद्धति के अनुसार (४,३२०,०००,००० : १९७२. ९४००० : १५९९, ९९८ : ७३० ७१९, ००६६ १०००० : ४५६७) कलि के प्रारम्भ के पूर्व सप्तर्षि ७३०७१९ पूर्ण चक्र एवं अगले चक्र का ०८६६ भाग पूरा कर चुके थे।

ज्योतिष संहिताओं का विवरण

ज्योतिष संहिताओं में वराह मिहिर की संहिता पौरुषेय कृति मानी जाती है, जो इस स्तर की सर्व प्राचीन उपलब्ध संहिता है। इसमें उत्तर दिशा में प्रतिष्ठित सप्तर्षियों की चार व्यवस्था वृद्धगर्ग के मत के अनुसार कहने की प्रतिज्ञा की गई है[1]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तर्षियों का गतिसम्बन्धी विवरण वृद्धगर्ग या उनके पूर्ण काल से प्रचलित परम्परा के आधार पर प्रतिष्ठित रहा होगा। वृद्धगर्ग ज्योतिष की आर्ष परम्परा में आते हैं अर्थात् इनका काल वराह की अपेक्षा बहुत प्राचीन होना चाहिए जिसे डा० कैर्न ने प्रथम शताब्दी ई० पू० का माना

---

१. सैकावलीव राजती ससितोत्पलमालिनी सहासैव।
नाथवतीव च दिग्यैः कौबेरी सप्तभिर्मुनिभिः॥
ध्रुवनायकोपदेशान्नरितीवैतिराभ्रमद्भिश्च।
यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात्॥
आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥ बृहत्संहिता, १३।१-३।

है[1]। वराह द्वारा उल्लिखित उक्त विवरण में इस संवत् सम्बन्धी दो मुख्य बातें प्रकाश में आई हैं। प्रथम तो यह कि सप्तर्षियों में गति का सिद्धान्त वृद्धगर्ग के मत के अनुसार कहता हूँ इसका तात्पर्य यह है कि सम्भवतः सप्तर्षियों के चार सम्बन्धी विवरण का सिद्धान्त अन्य आचार्यों के मत के अनुसार भी प्रचलित था जिसका आज उल्लेख नहीं मिलता। वराह के उक्त कथन में गति होने का सिद्धान्त तो पुष्ट होता ही है, साथ ही उनका स्थान उत्तर दिशा में प्रतिष्ठित है यह सूचना भी मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि उस काल के ज्योतिर्विदों को सप्तर्षियों के स्थान, गति आदि का पूर्ण परिचय ज्ञात था। यही नहीं, अपितु वे एक नक्षत्र पर एक सौ वर्ष तक रहते हैं[2] यह सत्य भी ज्ञात था। ध्यान देने की बात है कि सप्तर्षियों के साथ नक्षत्रों का सम्बन्ध है राशियों का नहीं अर्थात् यह कथन वराह के पूर्व गर्ग का ही है स्पष्ट हो जाता है जब भारतीय परम्परा में राश्यादि गणना न होकर नक्षत्र गणना प्रचलित थी, जो इसके ई० पू० होने की सूचना देती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि युधिष्ठिर के शासन काल में मुनि (सप्तर्षि) मघा नक्षत्र में थे और २५२६ (षड्द्विक पंच द्वियुतः) वर्ष शक काल में जोड़ने से उस राजा (युधिष्ठिर) का राज्य काल आता है[3] अर्थात् २५२६-७८ = २४४८ ई० पू० या ३१०१-२४४८=६५३ वर्ष कलि संवत् के पश्चात् राजा युधिष्ठिर का राज्य काल आता है। चूंकि भारत युद्ध, युधिष्ठिर संवत् और कलि संवत् की एकरूपता बहुत से विद्वानों द्वारा मान्य है, जिसका निरूपण 'कलिसंवत्' प्रकरण में हुआ है। इसलिए कलि ६५३ ई० पू० पश्चात् युधिष्ठिर और महाभारत काल को २४४८ ई० पू० मानने की परम्परा बहुत से विद्वानों को मान्य नहीं है, अतः उन्होंने यहाँ उल्लिखित शक काल ५५२ ई० पू० प्रचलित शक काल का माना है और वृद्धगर्ग के इस उल्लेख को ई० पू० ६७५-७६ में लिखे जाने की बात कही है, क्योंकि यह शक काल वृद्ध गर्ग के काल का है वराह के काल का नहीं। वराह तक आते-आते ७८ ई० में प्रतिष्ठित शक परम्परा इसके स्थान पर स्वीकृत हो चुकी थी, जिसके कारण महाभारत

---

१. बृहत्संहिता अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, बृहत्संहिता १३।१-३।

२. एकैकस्मिनृक्षे शतं शतं ते (मुनयः) चरन्ति वर्षाणाम्। बृहत्संहिता १३।४।

३. वराह मिहिर के इस प्रसिद्ध श्लोक की विवधि एवं विस्तृत व्याख्या के लिए कलिसंवत् में वर्णित वृद्धगर्ग द्वारा उल्लिखित परम्परा का विवरण देखें।

की परम्परा से चली आरही तिथि वराह के अनुसार कलि के ६५३ वर्ष पश्चात् हो गई और इसी का अनुगमन बाद के पण्डितों द्वारा हुआ जो कल्हण द्वारा भी राजतरंगिणी (१।५५, २।५६ तथा १।५१) में उल्लिखित हुयी है[1]। वराह द्वारा उल्लिखित उक्त उद्धरण में सप्तर्षियों का मघा नक्षत्र से योग करना इस संवत् के विषय में महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। युधिष्ठिर के राज्य काल में इनका अपने गति चक्र को पूरा कर मघा से दूसरे चक्र के आरम्भ की सूचना इससे मिलती है। यद्यपि इस बात का पता लगाना कठिन है कि अपने गति सम्बन्धी चक्र के कितने भ्रमण वे पूरा कर चुके थे।

पौराणिक उल्लेख

सप्तर्षियों का गति सम्बन्धी विवरण मुख्यतया प्राचीन समस्त पुराणों में यत्किंचित पाठ भेद के साथ उल्लिखित हुआ है, जिनमें वायु और मत्स्य जिनके विवरण समान ही हैं महत्त्वपूर्ण हैं। लगभग ऐसा ही वर्णन भागवत, ब्रह्माण्ड, विष्णु आदि पुराणों में भी आया है, जहाँ इनके (मुनियों) एक-एक नक्षत्र पर एक-एक सौ वर्ष तक रहने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार २७०० वर्षों में इनका एक भ्रमण-चक्र पूरा होता है[2]। सप्तर्षियों का यह

---

१. पु० क्रो०, पृ० ३२४-३२५।

२. सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वै शतम् (पित्र्यै पारीक्षिते शतम्, ब्रह्मा०)
सप्तविंशः शतैर्भाव्या अन्ध्राणां ते त्वया पुनः ॥
सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् ॥
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद्दिव्यया संख्यया स्मृतम् ॥
(मासा दिव्याः स्मृता षट् च दिव्याब्दानि तु सप्त हि)
सा सा दिव्या स्मृता षष्टिर्दिव्याह्नाश्चैव सप्तभिः।
तेभ्यः प्रवर्तते कालो दिव्यः सप्तर्षिभिस्तु तैः ॥
सप्तर्षीणां तु ये पूर्वा दृश्यन्ते उत्तरा दिशि।
ततो मध्येन च क्षेत्रं दृश्यते यत्समं दिवि ॥
तेन सप्तर्षयो युक्ता ज्ञेया व्योम्नि शतं समाः।
नक्षत्राणामृषीणां च योगस्यैतन्निदर्शनम् ॥
सप्तर्षयो मघा युक्ताः काले पारिक्षिते शतम्।

युग सात दिव्य वर्षों एवं छह दिव्य मासों का होता है (अर्थात् एक दिव्य वर्ष = ३६० मानव वर्ष लेने से ७ × ३६० + $\frac{३६०}{२}$ = २५२० + १८० = २७०० मानव वर्ष होते हैं)। पौराणिक वर्णन में यह संवत्सर कुछ पहले से और विस्पष्ट रूप में आया है। ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत आदि पुराणों में परीक्षित के काल में इनका मघा में होना वर्णित है एवं ब्रह्माण्ड से यह भी पता चलता है कि परीक्षित के काल में मघा नक्षत्र में वे अपनी शताब्दी पूरी कर रहे थे तथा वायु की घोषणा के अनुसार प्रतीप राजा के समय आन्ध्रों के अन्त में वे सत्ताईस सौ वर्षों का अपना चक्र पूरा कर रहे थे। साथ ही यह भी संकेत मिलता है कि आन्ध्रों के अन्त में वे २४०० वें वर्ष में होंगे। यद्यपि पुराणों में परीक्षित और महापद्मनन्द के राज्यारोहण के बीच का अन्तर १०५०, ११५० और १५०० वर्षों का मिलता है और महापद्म के बाद और आन्ध्रों के बीच का काल ८३६ वर्ष कहा गया है। इस प्रकार १५०० + ८३६ = २३३६ करीब २४०० वर्षों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, किन्तु यदि प्रथम अन्तर १०५० वर्षों का ही माने तो यह काल १०५० + ८३६ = १८८६ वर्षों का ही होता है। अतः परीक्षित और महापद्म के बीच का अन्तर १५०० वर्षों का ही प्रतीत होता है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भागवत और विष्णु पुराण के अनुसार जब सप्तर्षि मघा में विचर रहे थे उसी समय से १२०० वर्षों मान वाले कलि का प्रारम्भ माना गया है एवं यह भी कहा है कि ऋषि जब मघा से पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में जायेंगे तब नन्द के काल से कलि वृद्धि को प्राप्त करेगा[1]। मघा नक्षत्र मण्डल का दसवाँ नक्षत्र है। मघा से पूर्वाषाढ़ा

आन्ध्रान्ते स चतुर्विशे भविष्यन्ति (शतं समाः) (ब्रह्मा०) मते मम।
वायु० ९९।४१८-४२३; ब्रह्माण्ड० ३।७४।२२५-२३६
मत्स्य० २७२।३८-४३; भाग० १२।२।२७-२८, ३१-३१
विष्णु० ४।२४।१०५-१६।

१. यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलि वृद्धि गमिष्यति॥
भा० १२।२।३१-३२; तु० विष्णु० ४।२४।११२।

नक्षत्र तक जाने में ऋषियों को १००० वर्ष लगेंगे। भागवत, वायु आदि पुराणों में नन्द और परीक्षित के बीच का अन्तर १०५० वर्ष दिया गया है उससे यह गणना ठीक आती है एवं १५०० वर्षों का अन्तर स्वीकार करने पर जैसा विष्णु पुराण (गीताप्रेस) ४।२४।१०४ में उल्लिखित है सप्तर्षियों की वक्रगति से १६०० वर्षों के लगभग का काल आता है। दूसरी बात यह है कि आन्ध्रों के अन्त तक सप्तर्षि चौबीसवें नक्षत्र में होंगे, वायु पुराण का यह उद्धरण बड़ा ही उलझा हुआ है। यदि इसका अर्थ चौबीसवाँ नक्षत्र माने तो परीक्षित और आन्ध्रों के बीच का अन्तर मात्र १४०० वर्ष रह जाता है किन्तु यदि मघा से २४ वाँ नक्षत्र ग्रहण करें तो यह अन्तर २४०० वर्षों का हो जाता है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यदि महापद्म और परीक्षित के काल का अन्तर १५०० वर्ष स्वीकार किया जाय और ८३६ वर्ष नन्द और आन्ध्रों के बीच का अन्तर है तो यह संपूर्ण काल १५००+८३६=२३३६ करीब २४०० वर्षों का हो जाता है पर अधिकांश पुराणों में यह अन्तर १०५० वर्ष का ही दिया गया है, जिसके आधार पर मघा से पूर्वाषाढ़ा तक १००० वर्ष एवं उत्तराषाढ़ा से शतभिषा (चौबीसवें नक्षत्र) तक यह काल ४००+१०००=१४०० वर्षों तक होता है, जब कि नन्द और आन्ध्रों के बीच ८३६ वर्ष का अन्तर मिला कर १८३६ वर्ष ही होता है, जो विसङ्गत है। अतः २४०० वर्षों के अन्तर वाला पक्ष ही उचित प्रतीत होता है[1]। लगता है सप्तर्षियों की वक्रगति को न समझने के कारण सीधे मघा से पूर्वाषाढ़ तक का १००० वर्ष का काल पुराणकारों ने गिन लिया है। इसलिए यह वैषम्य दिखाई पड़ता है।

पुराणों के उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पौराणिक युग में उल्लिखित ज्योतिष संहिताओं के समय से चला आ रहा सप्तर्षियों का गति संवन्धी

---

१. महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत् परीक्षितः।
एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥
प्रमाणं वै तथा चोक्तं महापद्मान्तरं च यत्।
अनन्तरं तच्छतानष्टौ षट्त्रिंशच्च समाः स्मृताः॥
सप्तर्षयस्तदा प्राहुः प्रतीपे राज्ञि वै शतम्।
सप्तविंशैः शतैर्भाव्या अन्ध्राणांते त्वया पुनः॥
वायु ९९।४१५-१६-१८।

विवरण समाज में प्रतिष्ठित हो चुका था[1] एवं उन लोगों ने इसके माध्यम से भारतीय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समय भी निर्धारित किया था। भले ही उस विवरण का सामंजस्य आज के ऐतिहासिक परिवेश में लगा पाना हमारे लिए कठिन हो रहा हो क्योंकि इसके पीछे हजारों वर्षों की प्राचीन परम्परा लगी हुई है।

इसके अतिरिक्त पुराणों मे एक सप्तर्षि-संवत्सर का उल्लेख भी मिलता है, जिसका मान मनुष्य वर्ष के प्रमाण से ३०३० वर्षों का माना गया है। यह कोई काल गणना के लिए प्रयुक्त सर्व मान्य विधि नहीं ज्ञात होती, अपितु देव, मनुष, पित्र्य, सप्तर्षि एवं ध्रुव आदि संबन्धित एक वर्ष परिमाण के प्रमाण रूप में उद्धृत है।

पौराणिक स्थलों एवं संहिताओं में प्रतिष्ठित सप्तर्षियों के गति सम्बन्धी उल्लेख का खण्डन सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रतिष्ठित होने पर सिद्धान्त कारों ने किया है। लगता है सूक्ष्म गणित के विकास के साथ प्राचीन काल से चली आ रही सैद्धान्तिक मान्यताओं को मध्यकालीन सिद्धान्त-ग्रन्थ-वेत्ताओं ने पुष्कल प्रमाणों के अभाव में निरस्त कर दिया है। इस प्रकार कमलाकर भट्ट ने सप्तर्षियों की इस चार व्यवस्था को पुराणविदों एवं संहिताकारों की प्रकल्पना ही माना है[2]। सप्तर्षियों में गति के सिद्धान्त का खण्डन स्व० बालकृष्ण दीक्षित आदि विद्वान् भी करते हैं एवं प्राचीन ज्योतिर्विदों की इसे प्रकल्पना मात्र मानते हैं। इनके अनुसार सप्तर्षियों में कोई गति नहीं, वे युधिष्ठिर के काल में भी मघा में थे और आज भी वहीं हैं। आधुनिक ज्योतिष विज्ञान भी इनमें कोई गति नहीं मानता[3]।

---

१. तत उत्तरस्मादृषय एकादशयोजनान्तर उपलभ्यन्ते य एव लोकानां शमनुभावयन्तो विष्णोर्यत्परमं पदं प्रदक्षिणं प्रक्रमन्ति।

भा० ५।२२।१७।

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशदन्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षि वत्सरः॥

मत्स्य० १४१।१३-१४; लिङ्ग० १।४।२०-२१।

२. अद्यापि कैरपिनरैर्गतिरार्यवर्यैःर्दृष्टा न चात्र कथिता किल संहितासु।
तत्काव्यमेव हि पुराणवदत्रतज्ज्ञास्तेनैव तत्त्वविषयं गदितुं प्रवृत्ताः॥

सिद्धान्ततत्त्वविवेक, भग्रहयुत्यधिकार, ३२।

३. पुराणिक क्रोनोलाजी, पृ० ३२८।

श्री दीक्षित के कथनानुसार "परन्तु हम समझते हैं कि सप्तर्षियों में गति नहीं हैं। वे युधिष्ठिर के समय मघा में थे और अब भी मघा में ही हैं। यदि यह कथन ठीक मान लिया जाय कि वे प्रत्येक नक्षत्र में १०० वर्ष रहते हैं तो उन्हें सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल की प्रदक्षिणा में २७०० वर्ष लगेंगे उससे यह निष्पन्न होगा कि युधिष्ठिर को हुए २७००, ५४०० अथवा किसी संख्या से गुणित २७०० वर्ष बीते हैं। पर यह सब व्यर्थ की कल्पना है– आकाश में सप्तर्षि जिस प्रदेश में है, वह बहुत बड़ा है। संप्रति सप्तर्षियों को मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा में से चाहे जिस नक्षत्र में कह सकते हैं। यही स्थिति गर्ग और वराह के समय भी थी हम समझते हैं। इसी से उन्हें मालूम हुआ होगा कि सप्तर्षि गतिमान हैं। पहले किसी ने उनकी स्थिति मघा में बतलाई है और इस समय पूर्वा-फाल्गुनी में दिखाई पड़ते हैं तो हम उन्हें गति मान अवश्य कहेंगे। वराह मिहिर गर्ग से लगभग दो-तीन सौ वर्ष बाद हुए हैं, उन्हें भी यह काल उचित मालूम हुआ, परन्तु है यह सब कल्पित ही"[1] ।

अल्बेरूनी का विवरण

भारतवर्ष में गणना प्रणाली एवं संवत्सरों का विवरण अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत करते हुए अल्बेरूनीने 'लोक काल' नाम से इस संवत्सर के भारत के सामान्य जन-समुदाय में व्यवहृत होने का उल्लेख किया है जिसमें शता-ब्दियों के रूप में गणना की जाती थी। शताब्दी पूरी होने पर उसे लोग छोड़ देते थे। किन्तु इसके विषय में प्राप्त हुए विवरण उस समय इतने भ्रामक थे कि सत्य का पता लगा पाना कठिन था। इसी प्रकार लोगों में इसके संवत्सरारम्भ के काल के विषय में मत वैभिन्नता थी। जहाँ ज्योतिषी एवं शक काल का प्रयोग करने वाले चैत्रारम्भ से इस संवत् का प्रारम्भ मानते थे वहीं काश्मीर के निकट स्थिति कनीर प्रदेश वाले अपने संवत् का प्रारम्भ भाद्रपद से मानते थे जिसका ८४ वां वर्ष=४०० यजदजिर्द का वर्ष था। बरदरी और मरिगल के बीच रहने वाले अपने संवत् का प्रारम्भ कार्त्तिक से मानते थे और वे ४०० यजदजिर्द को अपने संवत् का ११० वां वर्ष मानते थे। काश्मीर के पंचाङ्गकर्ता के अनुसार यह वर्ष नई शताब्दी (सप्तर्षि) के छठें वर्ष के तुल्य था। मारिगल के पृष्ठ भाग में स्थिति

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ० १६८-१६९, (हिन्दी अनुवाद)।

निराहर एवं ताकेशर और लोहावर की सीमा तक स्थिति लोग अपने संवत् का प्रारम्भ मार्ग-शीर्ष से मानते थे, जिससे १०८ वर्ष गाज के तुल्य था। लंबग या लमगान के लोग इसी का प्रयोग करते थे। मुल्तान के लोगों की सूचना के अनुसार यह प्रक्रिया सिन्ध और कन्नौज के लोगों के लिए विचित्र थी जो मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपद से वर्ष का प्रारम्भ मानते हैं, किन्तु मुल्तान के लोगों ने इस प्रक्रिया को कुछ वर्ष पहले छोड़ दिया है और काश्मीर की परम्परा का अनुगमन कर अपने संवत् का प्रारम्भ चैत्र से करते हैं। उपरोक्त विभिन्न प्रकार की परम्पराओं में किसी एक प्रकार का सामान्य हल निकाल पाना किसी के लिए असम्भव है और वह अलबेरूनी के लिए भी था। अतः उसने एक उदाहरण देकर सोमनाथ के मन्दिर के विनष्ट होने के काल (हिज्र ४१६ या ९४७ शक) को उन लोगों द्वारा लिखने की प्रक्रिया का उल्लेख कर स्पष्ट करता है—प्रथमतः वे २४२ लिखते हैं उसके बाद ६०६ एवं उसके नीचे ९९ जिसका योग ९४७ शक काल होता है। यहाँ २४२ वर्ष उनके द्वारा शताब्दी प्रक्रिया शुरू किये जाने के पहले व्यतीत वर्ष के रूप में लिखा जाता है जिसको वे गुप्तकाल से प्रारम्भ करते हैं, ६०६ वर्ष उनके बीते हुए शताब्दियों के वर्ष हैं, जिन्हें १०१ वर्ष के बराबर मानते हैं और ९९ वर्तमान में चल रहे शताब्दी के व्यतीत वर्ष हैं। यह प्रक्रिया मुल्तान के निवासी दुर्लभ द्वारा बतायी गई प्रक्रिया से भी पुष्ट होती है, जो पत्राङ्कित रूप में उसे प्राप्त हुई थी। इसके अनुसार पहले ८४८ लिखो एवं उसमें लोक-काल जोड़ो इस प्रकार योग शक काल (८४८+९९=९४७) के बराबर होगा[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलबेरूनी की सूचना के अनुसार इस संवत् का प्रयोग सिन्ध, मुल्तान और काश्मीर आदि प्रदेशों में प्रचलित था और इसके विज्ञान के विषय में कोई निश्चित मत समाज में स्वीकृत नहीं था।

सप्तर्षियों की स्थिति पर विचार

वराहोक्त सप्तर्षि चार पर अलबेरूनी ने भी विचार किया है। अलबेरूनी के अनुसार उसके समय अर्थात् शक काल के ९५२वें वर्ष में सप्तर्षिगण सिंह के १$\frac{१}{३}$° और कन्या के १३$\frac{१}{३}$° के बीच के स्थान पर स्थिर थे।

---

१. अल्बेरूनीज इण्डिया, जि० २, पृ० ८-९।

तारों की गति के अनुसार जैसा उसे ज्ञात था इन तारों को युधिष्ठिर के समय मिथुन के ८$\frac{१}{२}$° और सिंह के २०$\frac{२}{३}$° के बीच रहना चाहिए। टालमी और प्रचीन ज्योतिषियों ने जैसा कि स्थिर तारों की गति माना है उसके अनुसार ये तारे उस समय मिथुन २६$\frac{१}{३}$° एवं सिंह के ८$\frac{१}{३}$° के बीच के स्थान में थे और उपरोक्त नक्षत्र मघा का स्थान सिंह से ०-८०० मिण्टों के मध्य था। इसलिए युधिष्ठिर की अपेक्षा वर्तमान समय में सप्तर्षियों को मघा में स्थिर बताया जाय तो अधिक योग्य होगा। और यदि हिन्दू मघा को सिंह के हृदय से अभिन्न मानते हैं तो केवल हम इतना ही कह सकते हैं कि यह तारा मण्डल उस समय कर्क के पहले अंश में खड़ा था। इससे गर्ग के ज्ञान की अल्पज्ञता सूचित होती है। उसने काश्मीर के ९५१ शक वर्ष के पचाङ्ग में पढ़ा था कि सप्तर्षि ७० वर्ष से अनुराधा नक्षत्र में खड़े थे। इस नक्षत्र का स्थान वृश्चिक के १६$\frac{१}{३}$° के अन्त और ३$\frac{१}{३}$° के बीच है, परन्तु सप्तर्षि इस स्थान से करीब १$\frac{२}{३}$ राशि आगे हैं दूसरी बात वह यह कहता है कि आओ पहले हम यह मान लें कि गर्ग का कथन ठीक है कि उसने मघा में सप्त'ऋषियों का निश्चित स्थान नहीं बताया जिसे हम मघा का शून्य अंश मान लें जो हमारे समय के लिए सिंह का शून्य अंश होगा। इस समय सिकन्दर के १३४० वें वर्ष और युधिष्ठिर के समय के बीच ३४७९ वर्ष का अन्तर है और यदि वराह के अनुसार सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६०० वर्ष रहते हैं (यद्यपि आज की बृहत्संहिता में उनके १०० वर्ष तक ही एक नक्षत्र पर रहने का उल्लेख है) तदनुसार वर्तमान वर्ष (९५२ शक) में सप्तर्षियों को तुला राशि के १७.१८ में होना चाहिए जो स्वाती के १०.३८ से अभिन्न है। किन्तु यदि हम यह माने कि वे मघा के अन्त में थे तो उन्हें इस समय विशाखा के १०.३८ में होना चाहिए। इस प्रकार उसके अनुसार काश्मीरी पंचाङ्ग के विवरण और संहिता के वर्णन में मेल नहीं दिखाई पड़ता। अयन-चलन के हिसाब से भी युधिष्ठिर के समय में ऋषियों का मघा में होना निश्चित नहीं होता। साथ ही पहले की अपेक्षा आज कल (९५२ शक) स्थिर तारों की गति बहुत शीघ्रगामी है, जो ६६ वर्षों में १ अंश पार करते हैं, किन्तु इस हिसाब से वराह के अनुसार यह गति ४५ सौर वर्षों में एक अंश होगी, जो वर्तमान गति से भी शीघ्रतर है जब कि वराह और उसके बीच ५२५ वर्षों का अन्तर है। कर्णसार नामक ग्रन्थ में ऋषियों की गति गिनने और किसी निश्चित समय में उनकी स्थिति ज्ञात करने

की प्रक्रिया लिखा है। उसके हिसाब से सप्तर्षि राशिचक्र की एक राशि का भोग २१२ सौर वर्ष ९ महीने ६ दिन में, एक अंश का भोग ७ वर्ष एक महीना, ३ दिनों में एवं एक नक्षत्र का भोग ९४ वर्ष ६ माह २० दिनों में पूरा करते हैं। इस प्रकार वित्तेश्वर एवं वराह के मूल्यों में अन्तर है या परम्परा में कहीं स्खलन है। उक्त हिसाब से (१०३० ई०) में ऋषियों को अनुराधा में ९०.१० रहना चाहिए। काश्मीर के लोगों के अनुसार एक नक्षत्र में सप्तर्षि १०० वर्ष रहते हैं अतः उक्त पंचाङ्ग के अनुसार उनके वर्तमान शतक के तेईस वर्ष और बाकी हैं[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अरब यात्री ने अपने काल की सप्तर्षियों की गति सम्बन्धी विभिन्न स्थितियों की उपस्थापना विशद रूप में किया है। परंपराओं एवं वैज्ञानिक मूल्यों में जो अन्तर दिखाई पड़ा है उसका मूल कारण अत्यन्त प्राचीन काल से आती हुई शास्त्रपरम्परा एवं गणित की स्थूलता ही प्रतीत होता है। गणित की जिस सूक्ष्मता का परिचय सिद्धान्त काल के ज्योतिषियों को हो गया था वह संहिता काल के लेखकों को नहीं था। फिर भी हजारों वर्ष पहले के निश्चित किये गये मूल्य वास्तविकता से बिल्कुल परे नहीं हैं। थोड़ा बहुत उसका इधर-उधर हो जाना कोई असम्भाव्य वस्तु नहीं। उसने स्वयं लिखा है 'जिस प्रकार की अशुद्धियों और भ्रमों को मैंने यहाँ प्रगट किया है वे एक तो ज्योतिष सम्बन्धी अन्वेषणों में आवश्यक कौशल के अभाव से और दूसरे बैज्ञानिक प्रश्नों और हिन्दुओं के धर्म सम्बन्धी मतों को आपस में मिला देने की रीति से पैदा होते हैं[2]।

काल के सूक्ष्म या बृहद् इकाइयों का मूल कारण भगवान् सूर्य कहे गये हैं। क्षण से लेकर परार्ध या ब्रह्मायुष्य पर्यन्त वा इससे भी यदि कोई उच्च मान है उन सबका मान दण्ड भगवान् सूर्य ही हैं। सप्तर्षि भी ग्रह हैं अतः इनमें गति संभव है।

राजतरङ्गिणी का विवरण

बारहवीं शताब्दी के काश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने अपने

---

१. वस्तुतः ऋषियों का एक नक्षत्र पर सौ वर्ष ही रहने का वराह की संहिता में उल्लेख है। अलबेरूनी को यह संख्या ६०० वर्ष लिखी मिली थी अतः उसे बहुत अन्तर दिखाई दिया। पुराणों में भी सौ वर्ष ही रहने का उल्लेख है एवं ९४ वर्ष ६ माह २० दिन सौ वर्ष के निकट ही है।

अलबेरूनीज इण्डिया, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३९०-३९३।

२. वही, पृ० २८१।

ऐतिहासिक ग्रन्थ 'राजतरङ्गिणी' का संपूर्ण विवरण काल की दृष्टि से इसी सप्तर्षि संवत् (लोक काल) में प्रस्तुत किया है। इस काल की उद्भावना एवं वैज्ञानिकता आदि की सम्पूर्ण प्रक्रिया वराह की वाराही संहिता के आधार पर है, जिसमें वृद्धगर्ग भी सम्मिलित हैं। कल्हण पण्डित ने अपने इतिहास का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के काल से किया है, जिसे उन्होंने कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर (२४४८ ई० पू०) घटित हुआ स्वीकार किया है[1]। इसकी पुष्टि में उन्होंने संहिताकारों (वृद्धगर्ग, वराह आदि) के निर्णय को स्वीकार करते हुए एक-एक ऋक्ष पर मुनियों के एक सौ वर्ष रहने के हिसाब से उन्हें (सप्तर्षियों) युधिष्ठिर के राज्य काल में जो शक से २५२६ वर्ष पूर्व था मघा में स्थित बताया है[2]। इसके अनुसार लौकिक काल का २४ वां वर्ष शक काल १०७० (गत) के तुल्य था[3], अर्थात् दोनों संवतों के बीच का अन्तर १०७०-२४ = १०४६ वर्ष होता है। इसमें शताब्दी का अङ्क छोड़ दिया जाय तो सप्तर्षि संवत् में ४६ जोड़ने से शताब्दी रहित शक संवत् आता है।

अभिलेखों का उल्लेख

सप्तर्षि संवत् का प्रयोग अभिलेखों में सीमित हुआ है, जहाँ इसके शताब्दी के वर्षों को छोड़ कर लिखने की प्रथा है[4]। पर कभी-कभी प्रारम्भ से भी वर्ष लिखे मिलते हैं। अभिलेखों में इसका प्रयोग अधि-

---

१. शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन् कुरुपाण्डवाः॥ राज० १।५१।

२. ऋक्षादृक्षं शतेनाब्दैर्यात्सु चित्रशिखण्डिषु।
तच्चारे संहिताकारैरेवं दत्तोऽत्र निर्णयः॥
आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च॥ वही १।५५, २।५६।

३. लौकिकेऽब्दे चतुर्विंशे शककालस्य साम्प्रतम्।
सप्तत्याभ्यधिकं यातं सहस्रपरिवत्सराः॥ वही १।५२।

४. सप्तर्षिचारानुमतेन संवत् ४८६९ तथा च संवत् ६९ चैत्र शुदि १ श्री शाकाः १७१५ करणगताब्दा (ब्दा): १०२८ दिन गणः ४१२०१०, श्रीविक्रमादित्यसंवत् १८५०, कल्पगताब्द (ब्दा): १९७२९४८८९४ शेषाब्दा (ब्द): २३४७०५११०६ कलेर्गत वर्षाणि ४८९४ शेषवर्षाणि ४२७१०६।

कांशतः राजस्थान और पंजाब के क्षेत्रों से प्राप्त हुआ है। फोगल की सूचना पर आधारित इस संवत् के १५ अभिलेखों का उल्लेख कीलहार्न के उत्तरी भारत के अभिलेखसंग्रह में एकत्र किया गया है[1]।

जैसा कि प्राचीन ग्रन्थकारों एवं परंपरा की मान्यता है सब ने इसके सामान्य स्वरूप को २७०० वर्षों का चक्र माना है, जिसके अनुसार सप्तर्षि एक-एक नक्षत्र में एक सौ वर्ष रहते हैं। किन्तु इस संवत् के प्रारम्भ के विषय में विद्वानों में मतभेद है, क्योंकि सामान्यतया इसके शताब्दियों के वर्ष छोड़ दिये जाते हैं। कनिंघम की सूचना के अनुसार वृद्धगर्ग और पुराण इसे ३१७७ ई० पू० में प्रतिष्ठित हुआ स्वीकार करते हैं तथा वाराहमिहिर आदि ज्योतिषियों के अनुसार इसका आरम्भ काल २४७७ ई० पू० आता है।[2] अलबेरूनी के अनुसार जिसने काश्मीरी पंचाङ्ग (शक ९५१) के बयान में पढ़ा था कि ७७ वर्षों से सप्तर्षि अनुराधा नक्षत्र में खड़े आरहे थे यदि यह सूचना सत्य है तो यह संवत् के प्रारम्भ का तीसरा स्थान ज्ञात होता है, जिसके अनुसार सप्तर्षियों के अनुराधा नक्षत्र में प्रवेश का काल ९५१+७८ = १०२९ – ७७ = ९५२ ई० आता है। इस प्रकार पीछे का गणित करने पर मघा में प्रवेश का काल २४४८ ई० पू० आता है अतः यह भी एक प्रारम्भ होने की तिथि ज्ञात होती है। स्टाइन ने बूलर की सूचना के अनुसार इसका प्रारम्भ काल ३०७६-७५ ई० पू० या ३०७७ ई० पू० में उल्लिखित किया है[3]। इस प्रकार इस संवत् के प्रारम्भ की चार तिथियाँ हमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती हैं—२४४८ ई०पू०, २४७७ ई०पू०, ३०७७ और ३१७७ ई०पू०। सप्तर्षि संवत् का सम्बन्ध कलि संवत् से है जैसा श्रीकनिंघम ने काङ्गड़ा के ब्राह्मणों एवं माड़ी से प्राप्त सूचना के आधार पर लिखा है कि सप्तर्षि कलियुग के प्रारम्भ में ७५ वर्ष से एक नक्षत्र (मघा) पर स्थित थे और वे २५ वर्ष और अधिक उस

विक्रम संवत् १८५० का पंचाङ्ग (इ० एण्टी०, जि० २०, पृ० १५०)
सप्तर्षिः संवत् ४९५१ अ (ा) श्व (यु) ज कृष्ण सप्तमी मगलं (ल)
(हस्तलिखित ध्वन्यालोक, इ० एण्टी०, जि० २०, पृ० १५१।

१. अभिलेख सं० १४४३-१४५८—कीलहार्न की उत्तर भारत की अभिलेख-सूची, एपी० इ०, जि० ५।
२. इण्डियन एराज, पृ० १२।
३. राजतरङ्गिणी, अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृ० ५८-५९।

पर रहे। यह २५ वर्षों का अन्तर कलियुग के व्यतीत वर्षों एवं वर्तमान पहाड़ी संवत् के शताब्दीवर्षों का है, जो आज तक स्थिर है। इसप्रकार वर्तमान् १८८५ ई०=४९६० कलियुग का वर्ष है, जो पचासवें पर्वतीय संवत् के ३५ वें वर्ष से ठीक २५ वर्ष कम है[1]। कलि आरम्भ की सामान्य तिथि ३१०१ ई० पू० है इसलिए सप्तर्षियों के मघा में प्रवेश करने की तिथि ३१०१+७५=३१७६ ई०पू० है। २४४८ ई०पू० एवं २४७७ ई०पू० वाली तिथियों की संगति वराह के 'आसन् मघासु' वाले कथन के ऊपर आधारित है। इसके अनुसार कलि के ६५३ वर्ष बाद महाभारत युद्ध होने के कारण जो युधिष्ठिर और मुनियों के मघा में रहने की तिथि है यह काल ३१०१ ई० पू०-६५३=२४४८ ई० पू० में होता है। लगता है २४७७ से २३७७ ई० पू० के मध्य पहले लोग सप्तर्षियों के मघा में होने का काल मानते थे अतः मघा में ऋषियों के प्रवेश की तिथि २४७७ ई० पू० स्वीकार की गई जो बाद में २४४८ हो गई। ऋषियों की वक्रगति के कारण मघा में २०० वर्ष रहने के कारण सप्तर्षियों को युधिष्ठिर और परीक्षित दोनों के काल में मघा में बताया गया है अतः वे ३१७६-३०७६ तक मघा में रहे। अतः ३०७६ को भी सप्तर्षियों के मघा में रहने की एक तिथि स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त श्री मानकद ने ३२७६ ई० पू० की पाँचवी तिथि माना है। उनकी तिथि के अनुसार यदि २७०० वर्ष इसमें जोड़ दे तो चक्र का प्रारम्भ ३२७६+२७००=५९७६ ई० पू० आता है, जो वैवस्वत मनु की तिथि है, किन्तु वैदिक काल में कृत्तिका में नक्षत्रों का प्रारम्भ होता था अश्विनी से नहीं, अतः कृत्तिका में ऋषियों के होने का काल ६६७६ ई० पू० होगा जिस समय पहले पहल सप्तर्षि संवत् के प्रवर्तन हुआ ऐसा ज्ञात होता है, जिसे मनु वैवस्वत के काल ५९७६ ई० पू० में मघा नक्षत्र से प्रवर्तित माना गया एवं परीक्षित के काल तक इनकी मघा में प्रवेश की तिथि ३२७६ से बदल कर ३१७६ या ३०७६ ई० पू० माने जाने लगी। यह उनकी वक्र गति का परिणाम था एवं इस चक्र की परिसमाप्ति ५७६ ई० पू०, ४७६ ई०पू० या ३७६ ई० पू० हो गई जो आन्ध्रों के अन्त का काल है,[2] किन्तु यह सब अनुमान की ही बात है, पर इतना सत्य है कि सप्तर्षियों की

---

१. इण्डियन एराज, पृ० १२।
२. पु० क्रो०, पृ० ३३१-३२।

गति के आधार पर एक संवत् का प्रवर्तन हुआ था जिसका बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रयोग होता रहा। यद्यपि सप्तर्षियों की गति के विज्ञान के विषय में मध्यकाल में ज्योतिषियों को भी संदेह था, किन्तु वे इस संवत् का प्रयोग करते रहे।

चूँकि सिकन्दर के समय तक १५४ राजाओं के लिए भारतीय ६४५१३/४ वर्ष गिने थे और सिकन्दर ३२६ ई० पू० में भारत आया था इसलिए भारतीय इतिहास की तिथिक्रम व्यवस्था ६४५१+३२६=६७७७ ई० पू० से प्रारम्भ हुई ज्ञात होती है। यह एक बड़ी ही विलक्षण बात है कि यदि २७०० वर्षों के एक चक्र को ४०७७ ई० पू० में जोड़ दें, जो कलियुग के पहले अश्विनी नक्षत्र से ऋषियों के चक्रप्रवर्तन का काल है, तो हम इस संवत्सर की प्रारम्भिक तिथि ४०७७+२७०० = ६७७७ ई० पू० पाते हैं, जिससे उक्त तिथि का मेल खा जाता है। इस प्रकार ६७७७ ई० पू० से लेकर सिकन्दर के काल या बाद तक की भारतीय घटनाओं को गिनने का प्रमुख साधन यह सप्तर्षि काल रहा है ऐसा ज्ञात होता है। इसप्रकार की बात श्री कनिंघम ने भी स्वीकार किया है[1]। श्री डफ ने इस संवत् का प्रारम्भ कलियुग के २६ वें वर्ष में माना है[2]।

इस संवत् के प्रारम्भ की कहानी भले ही कितना भी गूढ़ क्यों न हो किन्तु इतना निश्चित है कि यह सर्व प्राचीन संवत् है जिसका गणना के लिए प्रयोग हुआ है। इसका उल्लेख वृद्धगर्ग और वराह मिहिर भी करते हैं एवं पुराणों के काल तक तो यह एक संवत्सर रहा ही है। आन्ध्र वंश के अन्ततक इस काल में गणना की गई हैं, इसके अनन्तर इसका वर्णन प्रायः कम प्राप्त होता है। इसका प्रयोग धीरे-धीरे पहाड़ी प्रदेशों में ही बचा रहा और सम्भवतः आज भी काश्मीर आदि पहाड़ी-क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है। मैदानी भाग में अन्य संवतों के प्रचलन से इसका प्रयोग कम हो गया पर दूर के पहाड़ी प्रदेशों की परंपरा में आज भी यह बचा रह गया है।

---

१. इण्डियन एराज, पृ० १४-१५।

2- 3076 B. C. K. Y. 26, Chaitra Sudi 1, the initial date assigned to the Laukika or Saptarshi era, traditionally used in Kashmir.

Duff, The Chronology of India, p. 4.

'लौकिक काल' या 'सप्तर्षि संवत्' आज भी न केवल काश्मीर के ब्राह्मण परिवारों में प्रचलित है, अपितु उसका प्रचार दक्षिण पूर्व के पहाड़ी क्षेत्रों जैसे चम्बा, काङ्गड़ा एवं माड़ी आदि में भी प्रचलित है। सर्व प्रथम प्रो० बूलर ने काश्मीरी ब्राह्मणों की परम्परा के आधार पर लौकिक काल का प्रारम्भ चैत्र शुदी १ गत कलि २५ या ३०७६-७५ ई० पू० माना है।[1] इस प्रकार यदि शताब्दी के वर्ष छोड़ दिए जांय तो सप्तर्षि संवत् में ४६ जोड़ने से शक गत, ८१ जोड़ने से चैत्रादि विक्रम गत, २५ जोड़ने से कलि युग गत और २४ या २५ जोड़ने से ई० सन् वर्तमान आता है।[2] कभी-कभी गत वर्ष भी लिखे मिलते हैं।[3]

श्री कोटवेङ्कटाचलम् ने बूलर के द्वारा उल्लिखित इस श्लोक में "सप्तर्षिवर्या:" पाठ मौलिक नहीं माना है क्योंकि सप्तर्षि तो स्वर्ग में रहते ही हैं उनके स्वर्ग में जाने की बात को बताना कोई वैशिष्ट नहीं रखता। वस्तुतः युधिष्ठिर कलि के २६ वर्ष व्यतीत होने पर स्वर्गारोहण किये और तभी से सप्तर्षि संवत् का भी प्रारम्भ हुआ। इसी घटना का यहाँ उल्लेख है। "युधिष्ठिराद्यास्त्रिदिवं प्रयाताः" ऐसा पाठ कर लेने पर उक्त उक्ति का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। श्री वेङ्कटाचलम् का उक्त सुझाव सत्य के निकट प्रतीत होता है किन्तु उन्होंने इसे जिस आधार पर ऐसा परिवर्तन

---

२. प्रो० स्टाइन, राजतरंगिणी अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृ० ५८-९।
कलेर्गतैः सायकनेत्र (२५) वर्षैः सप्तर्षिवर्यास्त्रिदिवं प्रयाताः।
लोके हि संवत्सर पत्रिकायां सप्तर्षिमानं प्रवदन्ति सन्तः॥
डा० बूलर की काश्मीर की रिपोर्ट, पृ० ६०।

३. श्रीमन्नृपति विक्रमादित्य संवत्सरे १७१७ श्री शालिवाहन शके १५८२ श्री शास्त्र संवत्सरे ३६ वैशाष (ख) वदि त्रयोदश्यां बु (बु धवासरे मेषेः कंसंक्रान्तो (इ० एण्टी० जि० २०, पृ० १५२), चम्बा से प्राप्त अभिलेख।
श्रीनृपविक्रमादित्य राज्यस्य गताब्दाः १७१७ श्रीसप्तर्षिमते संवत् ३६ पौ (व) ति ३ रवौ तिष्यनक्षत्रे (इ० एण्टी०, जि० २०, पृ० १५२)।

३. वसुमुनिगगणोदधि (४०७८) समकाले याते कलेस्तथालोके।
द्वापञ्चाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्त नृपे॥ कैयट रचित देवीशतक की टीका, (इ० एण्टी०, जि० २०, पृ० १५४)।

किया है वह भी उक्त श्लोक का पाठान्तर मात्र है। उसके लिए उन्होंने कोई मूल प्रमाण उद्धृत नहीं किया है।

इस प्रकार सप्तर्षि संवत् भारत का सर्व प्राचीन व्यवहार में प्रयुक्त होने वाला संवत्सर सिद्ध होता है, जिसके प्राचीनता की सिद्धि ३०००-७००० ई० पू० तक जाती है।

बार्हस्पत्य संवत्सर

(षष्टि वर्षात्मक चक्र)

बृहस्पति की गति से सम्बन्धित होने के कारण इसे बार्हस्पत्य संवत्सर या बार्हस्पत्यमान कहते हैं। बृहस्पति को नक्षत्रमण्डल (१२ राशिचक्र) की एक प्रदक्षिणा करने में लगभग १२ वर्ष लगते हैं यह बात ज्ञात हो जाने पर बार्हस्पत्य संवत्सर की उत्पत्ति हुई होगी। जैसे सूर्य को नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा करने में जितना समय लगता है उसे एक वर्ष और उसके १२वें भाग को एक मास कहते हैं उसी प्रकार पहले गुरु द्वारा नक्षत्रमण्डल की एक प्रदक्षिणा सम्वन्धि काल को गुरुवर्ष और उसके लगभग १३वें भाग को गुरु मास कहते है। बृहस्पति एक महायुग में ३६४२२०००० भगण पूरा करता है। अतः उसके एक राशि पर रहने का काल ३६१ दिन २ घटो और लगभग पाँच पल है (३६१।२।४। ४५) जो सावन वर्ष से १।२।४।४५ सावन दिन अधिक और सौर वर्ष से ४।१३।२५।३७ सावन दिन लघु होता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि बृहस्पति को मध्यम गति से १२ राशियों का भोग करने में लगभग १२ वर्ष लगते हैं। इसी आधार पर प्राचीन सहिताकारों ने बृहस्पति के एक राशि पर चलने के काल को एक बार्हस्पत्य संवत्सर माना है।[2]

ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में सर्वं प्रथम यह संवत्सर सूर्यसिद्धान्त

---

१. एतद्धि गौरवं वर्षं (कल्पकुदिनैः गुरुकल्पभगणास्तदेकेन कुदिनेन किमिति फलमेकस्मिन्दिने गुरोर्गतिमानमतो यद्ययना गत्या गत्येकं दिनं तदा मध्यम गुरुराशिकलाभिः किमित्यनुपातेन) ३६१।२।४।४५ सावन दिनाद्यात्मकं भवति। एतत् संवत्सरमानात् सावनं वर्षं १।२।४।४५ सावनदिनादिना लघु तथा सौरं वर्षं ४।१३।२५।३७ सावनदिनादिना महद्भवति।

सूर्यसि० १।५५ की टिप्पणी, द्र० प्रिंसेप—यूजफुल टेबुल्स, पृ० १५८-९।

२. बृहस्पतेर्मध्यमराशिभोगात् संवत्सरं सांहितिका वदन्ति। सिद्धा० शि०, १।३०।

मध्यमगत्या भभोगेने गुरोर्गौरववत्सराः—वसिष्ठ सि०, सूर्यसि० १।५५ की टिप्पणी, पृ० ३६।

(१।५५) में उल्लिखित है, जिसके प्रथम वर्ष का नाम विजय है। यहाँ गुरुवत्सरों के आनयन की प्रणाली काउल्लेख करते हुए यह नाम आया है। संवत्सर चक्र के साठ नामों का अभिधानपूर्वक उल्लेख यहाँ नहीं है। इससे पता चलता है कि सूर्यसिद्धान्त के काल तक इन संवत्सरों के नामों की समाज में अत्यधिक प्रसिद्धि हो चुकी थी। वराहमिहिर की संहिता में इन साठ संवत्सरों के नाम और उनके फल का वर्णन है जहाँ पाँच-पाँच नामों का का एक युग बताकर सम्पूर्ण संवत्सर-चक्र में १२ युगों की उत्पत्ति कही गई है, जिनके अधिपति विष्णु, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, त्वष्टा, उत्तर प्रोष्ठपद, पितृगण, विश्व, सोम, शक्रानल, अश्विन्, एवं भग कहे गए हैं; इनके पाँच-पाँच वर्षों के नाम संवत्सर, परिवत्सर, इन्द्वत्सर, अनुवत्सर और इदावत्सर हैं, जिनके अधिपति क्रमशः अग्नि, सूर्य, चन्द्र, प्रजापति और महादेव कहे गये हैं[१]। इसी प्रकार के युगेश्वरों के नाम विष्णुधर्मोत्तर में भी पठित हैं[२]। माघ शुक्ल से चन्द्रमा और सूर्य के साथ जब गुरु का उदय होता है तब प्रभव नामक वर्ष की प्रवृत्ति होती है[३]।

वराह ने संवत्सर चक्र का पहला नाम प्रभव बताया है। श्रीओझा और उसके आधार पर डा० सरकार ने भी संवत्सर का पहला वर्ष वराह द्वारा विजय बताए जाने का उल्लेख किया है, जो ठीक नहीं[४]। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार इस संवत्सर चक्र का पहला वर्ष 'विजय' है[५]।

लगता है वराह मिहिर से पूर्व सिद्धान्त ग्रन्थों में विजय से संवत्सरों की गणना-प्रणाली थी, जो बाद में चल कर उनके समय से प्रभावादि

---

१. विष्णुः सुरेज्यो बलभिद्धुताशस्त्वष्टोत्तरः प्रोष्ठपदाधिपश्च ।
क्रमात्रगेशाः पितृविश्वसोमाः शक्रानलाख्याश्विभवाः प्रतिष्ठाः ॥
प्रजापतिश्चाप्यनुवत्सरः इद्वत्सर शैलसुतापतिश्च ॥ बृहत्संहिता ८।२३-२४।

२. विष्णुधम० १।८२।२-५।

३. आद्यं घनिष्ठां शमभिप्रपन्नौ माघे यदायात्युदयं सुरेज्यः ।
षष्ट्यब्दपूर्वः प्रभवः स नाम्ना प्रवर्तते भूतहितस्तदब्दः । बृहत्संहिता ८।२७।
माघ शुक्लं समारम्य चन्द्रार्कौ वासवर्क्षगौ ।
जीवयुक्तौ यदा स्यातां षष्ट्यब्दादिस्तदा स्मृतः ॥ विष्णुधर्म० १।८२।८।

४. प्राचीन लिपि माला, पृ० १८८ इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २६८।

५. ········विजयादयः। सूर्य सि० १।५५।

में परिणत हो गई, क्योंकि शकारम्भ के समय पहला वर्ष प्रभव था[1]। यह प्रभवादि गणना ही बाद के ज्योतिषतत्त्व आदि ग्रन्थों में पठित है जहाँ शकारम्भ को ही मूल मान कर गुरुवर्षों के आनयन की प्रक्रिया बताई गई है। अलबेरूनी ने भी षष्ठि संवत्सरों का उल्लेख करते हुए प्रभव से क्षय पर्यन्त ६० संवत्सरों का उल्लेख किया है[2]। अपराजित-पृच्छा में इन ६० संवत्सरों का उल्लेख कर इन्हें २०-२० के तीन समूह में बाँटा गया है। प्रथम वर्ग में प्रभव से व्यय तक २० संवत्सर ब्रह्मा से दूसरे में सर्वजित् से परावसु तक २० संवत्सर विष्णु से एवं तीसरे में प्लवङ्ग से क्षय पर्यन्त २० संवत्सर रुद्र से सम्बन्धित कहे गये हैं। जैसा इनका अभिधान है उसी प्रकार के ये गुणवाले भी कहे गये हैं। अतः उनके गुण एवं नामों के आधार पर ही विद्वानों को उन्हें प्रशस्त अथवा अप्रशस्त जानना चाहिये[3]। वराह ने जिस क्रम में इन संवत्सरों का उल्लेख किया है, उससे यह झलक मिलती है कि वेदाङ्गकाल से जो पंच-संवत्सरात्मक युग प्रणाली चली आ रही थी उसे सुरक्षित रखते हुए पाँच-पाँच वर्षों के १२ युगों की कल्पना कर उन वर्षों की संख्या (१२ × ५) = ६० कर दी गई और एक-एक वर्ष का संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर आदि के समान अलग-अलग साठ नाम परिकल्पित कर लिए गये किन्तु पंचवर्षात्मक युगपद्धति की स्वतंत्र सत्ता बनी रही, क्योंकि वराह ने इन नामों का एवं उनके आनयन की प्रक्रिया का उल्लेख अन्यत्र इसी प्रसंग में किया है[4]।

---

१. अधुना शकगताब्दतो बार्हस्पत्य वर्षानयने प्रभावादयो वत्सरा गण्यन्ते शकादौ प्रभवनाम संवत्सरत्वात्। सूर्य सिद्धान्त १।५५ की टिप्पणी।

२. अल्बेरूनीज़ इण्डिया, जि० २, पृ० १२३-१२९।

३. इत्थं संवत्सराणां च षष्टिभेदाः प्रकीर्तिताः।
ब्रह्मसृष्टिर्विंशतिश्च प्रभवादि व्ययान्तगा॥
विष्णोः सर्वजिदाद्याश्च विंशतिश्चापराभवम्।
प्लवङ्गादि क्षयान्तं च तथा स्याद्रुद्रविंशतिः॥
गुणा यथाभिधानं च शस्ताशस्ते विदुर्बुधाः॥
अपराजितपृच्छा, १९।२९-३१।

४. बृहत्संहिता ८।२४।५२।

अग्निपुराण[1], विष्णुधर्मोत्तर[2] पुराण एवं अपराजित् पृच्छा[3] आदि ग्रन्थों में भी 'प्रभवादि' नामों से प्रारम्भ कर इन साठ सवत्सरों के नाम गिनाए गये हैं एवं इनके शुभाशुभ फलों का विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है—१–प्रभव, २–विभव, ३–शुक्ल, ४– प्रमोद, ५–प्रजापति, ६–अङ्गिरस ७–श्रीमुख, ८–भव, ९–युवन, १०–वृति, ११–ईश्वर, १२–बहुधान्य, १३–प्रमाथिन्, १४–विक्रम, १५–वृष, १६–चित्रभानु, १७–सुभानु, १८–पार्थिव, १९–तारण, २०–व्यय, २१–सर्वजित, २२–सर्वकारिन् २३–विरोधिन, २४–विकृत, २५–खर, २६–नन्दन, २७–विजय, २८–जय, २९–मन्मथ, ३०–दुर्मुख, ३१–क्षेम, ३२–विलम्बिन् ३३–विकारिन्, ३४–सर्वरी, ३५–प्लव, ३६–शोधकृत, ३७–शुभकृत, ३८–क्रोधिन्, ३९–विश्वावसु, ४०–परावसु, ४१–प्लवङ्ग, ४२–कीलक, ४३–सौम्य, ४४–साधारण, ४५– रोधकृत, ५६–परिधाविन्. ४७–प्रमाथिन्, ४८–विक्रम, ४९–राक्षस, ५०–अनल, ५१–पिङ्गल, ५२–कालयुक्त, ५३–सिद्धार्थ, ५४–रुद्र, ५५–दुर्मति, ५६–दुन्दुभि, ५७–अङ्गार, ५८–रक्ताक्ष, ५९–क्रोध, ६०–क्षय ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि आरम्भिक काल में 'विजय' से ही चक्र का आरम्भ होता था जो बाद में ज्योतिषतत्त्व के लेखक आदि ज्योतिषियों द्वारा 'प्रभव' (३५) में परिवर्तित कर दिया गया है। वर्तमान पद्धति के अनुसार विजय संवत्सर चक्र का सत्ताईसवाँ नाम है। ये दोनों पद्धतियाँ उत्तर भारत में प्रचलित हैं, जिनमें संवत्सर चक्र का ८६वां वर्ष छोड़ दिया जाता है, जो आजतक उत्तर भारत में प्रयुक्त होता है। इसका रहस्य यह है कि गुरु वर्ष सौर वर्ष से ४ दिन १३ घटी छोटा होता है और इस प्रकार यह अन्तर ८६ वर्ष में एक पूरे वर्ष के बराबर हो जाता है। अतः सौर वर्ष से इसका समीकरण करने के लिए ऐसा किया जाता है।

तीसरी पद्धति दक्षिण भारत में प्रचलित है जहाँ बृहस्पति का वर्ष सौर वर्ष के समान ही गिना जाता है। यहाँ स्वीकृत पद्धति के अनुसार कलि संवत् का प्रथम वर्ष प्रमाथिन् नाम का वर्ष कहा गया है।

---

१. अग्नि० १३९।१।१३।
२. विष्णुधर्म० १।८२।१-१३।
३. अपराजित्पृच्छा १९।२२-३१।

इसमें वर्ष का प्रारम्भ चैत्र सुदि प्रतिपदा से होता है। इसके प्रचलन से 'बृहस्पति की गति पर आधारित जो गणित संमित संवत्सरानयन की स्थिति समाप्त हो गई और संवत्सर के साठ नाम मात्र सौर वर्षों के रूप में गिने जाने लगे जिससे इस संवत्सर का प्राचीन स्वरूप विलुप्त हो गया।

वर्षानयन

इस चक्र के संवत्सरों को जानने के लिए (वराह मिहिर के अनुसार) गत शक काल को पहले ग्यारह से गुणाकर फिर गुणन फल को ४ से गुणा कीजिए। इसमें ८५८९ जोड़िए एवं योगफल को ३७५० से भाग देकर भाग फल में शक काल जोड़िए। ६० से इस योग में भाग देने पर वर्तमान वर्ष आता है।[1] शक काल को दो जगह लिखकर एक स्थान में २२ से गुणा कर उसमें ४२९१ जोड़ना एवं १८७५ से भाग देना। लब्धि को दूसरे शाक में जोड़कर ६० का भाग देने से प्रभवादि संवत्सर होते हैं। यह उक्त पद्धति का ही दूसरा रूपान्तर है।

गत शक १८९६ ११ = २०८५६
८५८९ + २०८५६ × ४ = ९२०१३

३७५०) ९२०१३ (२४
७५००
———
१७०१३
१५०००
———— = २४ $\frac{२०१३}{३७५०}$
२०१३

---

१. गतानि वर्षाणि शकेन्द्रकालाद्धतानि रुद्रैर्गुणयेच्चतुर्भिः।
नवाष्टपञ्चाष्टयुतानि कृत्वा विभाजयेच्छून्यशरागरामैः॥
फलेन युक्तं शकभूपकालं संशोध्य षष्ट्या विषयैर्विभज्य।
युगानि नारायणपूर्वकाणि लब्धानि शेषाः क्रमशः समाः स्युः॥
बृहत्संहिता ८।२०-२१।

शाककालः पृथक् संस्थो द्वाविंशत्या हतस्त्वथ।
भूनन्दाश्व्यब्धि ४२९१ युगभक्तो बाणशैलगजेन्दुभिः (१८७५)
लब्धियुग्विहृतष्षष्ट्या ६० शेषेस्युर्गतवत्सराः।
बार्हस्पत्येन मानेन प्रभवाद्याः क्रमादमी॥ बृहज्जोतिसार, श्लोक १-२।

१८९७+२४=१९२१=६०) १९२१ (३२
१८०
———
१२१
१२०
———
१

अर्थात् प्रभव बीत गया दूसरा वर्ष विभव चालू है।

सूर्यसिद्धान्त—

वर्तमान गुरु भगण को १२ से गुणा कर वर्तमान राशि से युक्त कर ६० का भाग देने से जो लब्धि आवे वह व्यतीत पूर्णचक और शेष वर्तमान चक्र का भुक्त अंश होता है[1]।

गतकलि=५०७६=१९७५ ई०=विभव नामक सं०

$$\text{वर्तमान गुरूभगण}=\frac{३६४२२\times १२६९}{१०८०००}=\frac{४६२१९५१८}{१०८०००}$$

=४२७ भगण ११ राशि १५ अंश
४२७×१२
५१२४
११.१५
———
६०) ५१३५.१५ (८५
४८०
———
३३५
३००
———
३५.१५

विजय से ३६ वां वर्ष विभव चालू है।

---

१. द्वादशघ्ना गुरोर्याता भगणा वर्तमानकैः।
राशिभिः सहिताः शुद्धाः षष्ट्यास्युर्विजयादयः॥

सूर्यसिद्धान्त, मध्यमा, ५५।

दक्षिण भारत की पद्धति के अनुसार—

दक्षिण भारत (नर्मदा के दक्षिण भाग) में इस संवत् के गणना की भिन्न प्रणाली प्रचलित है। वहाँ इस संवत्सर-चक्र का प्रारम्भ कलियुगारम्भ से १२ वर्ष पूर्व मानते हैं। अतः इस पद्धति के अनुसार गत कलि या गत शक में १२ जोड़ कर ६० से भाग देने पर शेष जो फल होता है वह पूर्णचक्र एवं शेष प्रभव आदि से आरम्भ संवत्सरों का द्योतक होता या केवल गत कलि के वर्षों को ६० से विभक्त करने पर जो शेष बचे उसे प्रमाथी नामक संवत्सर से गिन कर वर्तमान वर्ष जानना चाहिए[1]।

(१) गत कलि $= ५०७६ + १२ = \frac{५०८८}{६०} = ८४\frac{४८}{६०} =$

वर्तमान ४९ वां संवत्सर राक्षस नामका है।

(२) गतकलि $= ५०७६ = \frac{५०७६}{६०} = ४८\frac{३६}{६०} =$ वर्तमान राक्षस संवत् है।

विजयादि गणना की सूची

मेष	१—विजय	१३—विश्वावसु	२५—पिङ्गल	३७—शुक्ल	४९—वृष
वृष	२—जय	१४—पराभव	२६—कालयुक्त	३८—प्रमोद	५०—चित्रभानु
मिथुन	३—मन्मथ	१५—प्लवङ्ग	२७—सिद्धार्थी	३९—प्रजापति	५१—सुभानु
कर्क	४—दुर्मुख	१६—कीलक	२८—रौद्र	४०—अंगिरा	५२—तारण
सिंह	५—हेलम्ब	१७—सौम्य	२९—दुर्मति	४१—श्रीमुख	५३—पार्थिव
कन्या	६—विलम्ब	१८—साधारण	३०—दुन्दुभि	४२—भाव	५४—व्यय
तुला	७—विकारी	१९—विरोधकृत	३१—रुधिरोद्गारी	४३—युवा	५५—सर्वजित
वृश्चिक	८—शर्वरी	२०—परिधावी	३२—रक्ताक्ष	४४—धाता	५६—सर्वधारी
धन	९—प्लव	२१—प्रमादी	३३—क्रोधन्	४५—ईश्वर	५७—विरोधी
मकर	१०—शुभकृत	२[illegible]—आनन्द	३४—क्षय	४६—बहुधान्य	५८—विकृत
कुम्भ	११—शोभन	२३—राक्षस	३५—प्रभव	४७—प्रमाथी	५९—खर
मीन	१२—क्रोधी	२४—नल	३६—विभव	४८—विक्रम	६०—नन्द

---

१. प्रमाथी प्रथमं वर्षं कल्पादौ ब्रह्मणा स्मृतम्।
तदादि षष्टिहृच्छाके शेषं चान्द्रोऽत्र वत्सरः॥

वार्हस्पत्य संवत्सर अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित रहा है। वैरन आदि विद्वानों[1] ने इसे अत्यन्त प्राचीन माना है, किन्तु कास्मा और वेण्टली के उल्लेखों से भ्रमित होकर जेम्स प्रिंसेप ने इसे अर्वाचीन (९६५ ई०) माना है। कासमा को यह सूचना तिब्बती अधिकारियों से मिली थी कि इस कालचक्र (बार्हस्पत्य) का भारत वर्ष में प्रयोग ९६५ ई० स० के लगभग शुरु हुआ जिसके आधार पर उन्होंने वेण्टली द्वारा स्वीकृत की गयी तिथि ९६५ ई० स० को उचित माना है जो संवत्सरचक्र के उल्लेख कर्ता माने जाते हैं। उन्होंने आगे यह भी लिखा है कि ऐसा निष्कर्ष निकालना अकारण नहीं है कि बृहस्पति चक्र का प्रार्दुभाव भारत में १० वीं शताब्दी में हुआ जैसा तिब्बती अधिकारियों की सूचना से पुष्ट होता है[2]।

जहाँ तक वराह की तिथि का प्रश्न है वह ६ठों शताब्दी के बाद नहीं जा सकती, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ पंचसिद्धान्तिका में ४२७ शक के ग्रह लिए हैं, इससे १५ वर्ष पहले ही (कम से कम) जन्म हुआ होगा। इनकी मृत्यु का काल ५०९ शक उल्लिखित है[3]। दूसरी बात यह है कि जहाँ तक षष्ठिसंवत्सरों के प्रयोग का उल्लेख है वह ९वीं १०वीं शताब्दी के बहुत पहले शिलालेखों और प्राचीन आचार्यों के उद्धृत वचनों में मिलता है। यद्यपि उत्तर भारत के शिलालेखों में इस संवत् का कम उल्लेख मिलता है, किन्तु दक्षिण भारत के शिलालेखों में इसका पयोग बहुधा हुआ है। पहले ऐसा विश्वास किया जाता था कि इस संवत् का सर्वप्रथम उल्लेख बादामी के चालुक्य राजा मंगलेश[4] (५९७-६१० ई०) के शिलालेख में सिद्धार्थी नाम से हुआ है. किन्तु अभी हाल में नागार्जुनी कुण्ड से विजय नामक संवत्सर का उल्लेख इक्ष्वाकुराजा वीर पुरुषदत्त

व्यावहारिकसंज्ञोऽयं कालः स्मृत्यादि कर्मसु।
योज्यः सर्वत्र तत्रापि जैवो वा नर्मदोत्तरे॥

पैतामह सिद्धान्त, प्राचीन लि०, पृ० १०८।

१. कनिंघम, इण्डियन एराज, पृ० १८।

२. प्रिंसेप, यूजफुल टेबुल्स, पृ० १६१।

३. नवाधिक पञ्चशतसंख्य शाके वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।
द्रष्टव्य—भारतीय ज्योतिष, पृ० २९२।

४. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० १९, पृ० १८।

(३ री शताब्दी का उत्तरार्ध) एवं उसके पुत्र शान्तमूल के शिलालेख में (तृतीय शती के अन्त) उल्लिखित हुआ है[1] ।

इस प्रकार प्रिंसेप, बेण्टली और कासमा आदि विद्वानों के भ्रमणपूर्ण मत स्वयं निरस्त हो जाते हैं। षष्ठि संवत्सरों से भी प्राचीन द्वादश संवत्सरचक्र के गुरुवर्ष हैं, जिनका प्रयोग इनके बहुत पहले से हो रहा था। कनिंघम की सूचना अनुसार ८० शिलालेखों में जिनमें षष्ठि संवत्सरों का उल्लेख हुआ है केवल पाँच उत्तर भारत से सम्बन्धित हैं[2] । इस प्रकार ज्ञात होता है कि इनका प्रयोग दक्षिण भारत में अधिक होता रहा है। उत्तर के पंचागों में इसके संवत्सरों के नामों का उल्लेख रहता है।

उल्लेखनीय बात यह है कि इन संवत्सरों का प्रयोग तिब्बत में भी हुआ है जहाँ इनके प्रचार का काल १०२५ ई० कहा गया है। वहाँ इनके नाम चीनी भाषा से लिए गए हैं जो १२ जनवरों के नाम के पाँच सनूहों से बनकर साठ होते हैं। इन संवत्सरों के संस्कृत, तिब्बती एवं चीनी नामों की एक तालिका प्रिंसेप[3] एवं कनिंघम[4] के ग्रन्थों में पायी जाती है। चीन में इन संवत्सरों के बहुत प्राचीन काल से प्रयुक्त होने का उल्लेख मिलता है। कुछ नाम तो २७०० ई० पू० से मिलते हैं[5] । यद्यपि यह बात ठीक हो सकती है किन्तु उनके प्रयोग और इनकी सार्थकता तथा वैज्ञानिकता आदि की विशेष बात नहीं ज्ञात होने कारण उसकी तुलना भारत में प्रयुक्त चक्र के प्रयोग से नहीं की जा सकती। सबसे प्रमुख बात यह है कि भारतवर्ष में आज भी इन संवत्सरों का प्रयोग होता है। और इनके फल भी आजतक प्रयोग में लाये जाते हैं। अतः भारतवर्ष के प्रयोग की पद्धति स्वतंत्र और वैज्ञानिक है, जो अत्यन्त प्राचीन दिखाई पड़ती है। इस प्रकार इन संवत्सरों के इतिहास पर विचार किया जाय तो ये संवत्सर न केवल भारतवर्ष के अपितु दक्षिणपूर्व एशिया के प्राचीन संवत्सर सिद्ध होते हैं।

---

१. ए० इ० जि० ३५ पृ० १ और आगे।
२. इण्डियन एराज, पृ० २३ ।
३. यूजफुल टेबुल्स, पृ० १६३ ।
४. इण्डियन एराज, पृ० २५ ।
५. इनसा० ब्रिटे० भाग, ४, पृ० ६१९ ।

बार्हस्पत्यमान

द्वादश संवत्सरचक्र

बृहस्पति के गति के ऊपर आधारित १२ वर्षों का यह छोटा चक्र है जो बड़े चक्र का पाँचवा अंश है। इसके वर्षों का नामकरण वराह मिहिर ने निम्न प्रकार से करने को कहा है—

देवपति मंत्री (बृहस्पति) जिस नक्षत्र के साथ उदित हों, उसी नक्षत्र के मान पर मास के क्रम से वर्ष का नामकरण करना चाहिए। कृत्तिका (आग्नेय) नक्षत्र से दो-दो नक्षत्रों के योग से कार्त्तिक आदि मास होते हैं, किन्तु पाँचवें, ग्यारहवें और बारहवें वर्ष में तीन-तीन नक्षत्रों का योग होता है[1]। यहाँ उदय शब्द गुरु के सामान्य उदय के लिए प्रयुक्त नहीं है अपितु उसका सूर्य के साथ उदय (हेलिकलराइजिंग) अभीष्ट है। सूर्य की दैनिक गति बृहस्पति की गति से शीघ्रगामी है अतः सूर्य के निकट आने पर बृहस्पति पश्चिम में अस्त हो जाता है, जो २५ से ३१ दिनों के भीतर पुनः सूर्य के दूर हटने पर पूर्व क्षितिज पर दिखाई पड़ता है। यही उसका उदय है। प्रायः भारतवर्ष में जब सूर्य और गुरु की दैनिक गति का अन्तर ४० मिनट हो जाता है तब उक्त गुरु का अस्त या उदय घटित होता है। इस उदय प्रणाली का समर्थन एकदश अन्य आचार्यों द्वारा भी किया गया है[2]।

---

१. नक्षत्रेण सहोदयमुपगच्छति देवपति मन्त्री।
तत्संज्ञं वक्तव्यं वर्षं मासक्रमेणैव॥
वर्षाणि कार्त्तिकादीन्याग्नेयाद्भद्वयानुयोगिनी।
क्रमशस्त्रिभं तु पञ्चममुपान्त्यमन्त्यं च यद्वर्षम्॥ बृहत्संहिता ८।१-२।

प्रथम श्लोक में नक्षत्रेण आदि के स्थान पर उत्पल ने "नक्षत्रेण सहोदयमस्तं वा येन याति सुरमन्त्री" ऐसा पाठ उल्लिखित कर उसकी व्याख्या इस प्रकार किया है "जिस भी नक्षत्र के साथ सुर मन्त्री बृहस्पति उदय या अस्त हों उसके क्रम से वर्ष जानना चाहिए। स्वयं उन्होंने लिखा है— "ऋषिपुत्रादिभिः उदय नक्षत्र मास संज्ञाक्रमेण वर्षज्ञातव्यम् इत्युक्तम्। किन्तु सभी अधिकारियों के उल्लेख में उदय से ही वर्षों के ज्ञान की बात मिलती है अस्त से नहीं। का० इ० इ०, जि० ३, पृ० १६१ टि०।

२. १—पराशर—कार्त्तिकारोहिणीसूदिते क्षुच्छास्त्राग्नि वृष्टि व्याधि प्राबल्यम्...
चित्रास्वात्योरुदिते नृपसस्यवर्षक्षेमारोग्यकरः।

इसके अलावा द्वादश चक्र के वर्षों का निर्णय बृहस्पति की मध्यमगति से भी होता है, जिसे मध्यमगति प्रणाली कहते हैं, जो उसकी वास्तविक स्थिति नहीं है। उदय प्रणाली का आनयन गुरु का वास्तविक गति के ऊपर आधारित है। वस्तुतः गुरु अपनी मध्यम गति से लगभग १२ वर्षों में राशिचक्र की एक परिक्रमा करता है एवं इन १२ वर्षों में सूर्य के १२ भूभ्रमण होते हैं। इसलिए इन बारह वर्षों में सूर्य के साथ गुरु का ग्यारह बार संयोग होता है। गुरु के दो उदयों में प्रायः ३९९ दिन का अन्तर पड़ता है।

इस प्रकार १२ वर्षों में उदय प्रणाली से गुरु के ११ संवत्सर होंगे जिनका परिमाण करीब ४०० दिनों के आस-पास होता है एवं एक संवत्सर का लोप हो जाता है। द्वादशचक्र संवत्सर में संवत्सरों के नाम चान्द्रमासों के होते हैं। इन मासों के नाम जो संवत्सरों के लिए प्रयुक्त

२–गर्ग—प्रवासान्ते सहर्क्षेण ह्युदितो युगपच्चरेत्।
तस्मात् कालाद् ऋक्षपूर्वो गुरोरब्दः प्रवर्तते ॥

३–कश्यप—संवत्सरयुगे चैव षष्ट्यब्देऽङ्गिरसस्सुतः।
यन्नक्षत्रोदयं कुर्यात् तत् संज्ञं वत्सरं विदुः ॥

४–ऋषिपुत्र—यस्मिन् तिष्ठति नक्षत्रे सह येन प्रवर्धते।
संवत्सरस्स विज्ञेयस्तन्नक्षत्राभिधानकः ॥

५–वसिष्ठ, अत्रि और पराशर को उद्धृत करते हुए ऋषि-पुत्र कहते हैं—
तिष्याधिकयुगं प्राहुर्वसिष्ठात्रि पराशराः।
बृहस्पतेस्तु सौम्यान्तं सदा द्वादश वार्षिकम् ॥
उदेति यस्मिन् मासे प्रवासोपगतोऽङ्गिरः।
तस्मात् संवत्सरः

६–वराहमिहिर, समास संहिता—
गुरुरुदयति नक्षत्रे यस्मिन् तत् संज्ञितानि वर्षाणि।

७–बृहस्पति—किरणावली में उल्लिखित—दादा भाई द्वारा लिखित सूर्य सिद्धान्त की एक टीका—(बृहत्संहिता की उत्पल रचित टी०) यदा गरुदयो मानोर्गुरोरब्दस्तदादितः।

८—नारद संहिता—गुरुचाराध्याय
यद्धिष्णाभ्युदितो जीवस्तन्नक्षत्राह्ववत्सरः।

होते हैं वे उस नक्षत्र के नाम से होते हैं, जिसमें गुरु का उदय होता है। वराह की उक्त व्यवस्था के अनुसार १२ वर्षों के नाम इस प्रकार होते है–

१—कृत्तिका, रोहिणी	कार्त्तिक या महाकार्त्तिक
२—मृगशीर्ष, आर्द्रा	मार्गशीर्ष या महामार्गशीर्ष
३—पुनर्वसु, पुष्य	पौष या महापौष
४—आश्लेषा, मघा	माघ या महामाघ
५—पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त	फाल्गुन या महाफाल्गुन
६—चित्रा, स्वाती	चैत्र या महाचैत्र
७—विशाखा, अनुराधा	वैशाख या महावैशाख
८—ज्येष्ठा, मूल	ज्येष्ठ या महाज्येष्ठ
९—पूर्वाषाढा उत्तराषाढा (अभिजित)	आषाढ़ या महाआषाढ़
१०—(अभिजित), श्रवण, धनिष्ठा	श्रावण या महाश्रावण
११—शतभिषक, पूर्वभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद	भाद्रपद या महाभाद्रपद
१२—रेवती, अश्विनी, भरणी	आश्विन (आश्वयुज) या महाआश्विन या आश्वयुज्

९–मुहूर्तंतत्त्व—गुरुचार

द्वक्ष्योंज्ञेः कार्त्तिकात् त्र्यक्षेषु रविशिवोऽब्दः ।
स येनोदिते ज्ञः ।

१०–ज्योतिषदर्पण

यस्मिन्नभ्युदितो जीवस्तन्नक्षत्रस्य वत्सरः ।

इन दसों उद्धरणों का निष्कर्ष एक ही है कि जिस नक्षत्र में गुरु का उदय हो उसके अनुसार संवत्सर का नामकरण होना चाहिए ।

११–सूर्य सिद्धान्त चूंकि एक प्राचीन ग्रन्थ है उसके सिद्धान्त कुछ भिन्न प्रकार के हैं यद्यपि सामान्यतया ढांचा वही है—

वैशाखादिषु कृष्णे च योगात् पञ्चदशे तिथौ ।
कार्त्तिकादीनि वर्षाणि गुरोरस्तोदयात् तथा ।।

सू० सि० १४।१७ ।

कभी-कभी चान्द्रमासों के नाम के साथ महा उपसर्ग जोड़ कर इन वर्षों के नाम लिखे जाते हैं। इस विषय पर श्री कनिंघम ने लल्ल को उद्धृत करते हुए लिखा है कि जब चन्द्रमा और गुरु दोनों ही माघ की पूर्णिमा के दिन मघा नक्षत्र पर होते हैं तब वह वर्ष महामाघ कहा जाता है[१]। ज्योतिष ग्रन्थों में नक्षत्रों की दूरी दो प्रकार से पठित है। सामान्यतया एक नक्षत्र सूर्यवृत्त (इक्लिप्टिक) या क्रान्तिवृत्त का २७वां भाग होता है जिसका मान ३६०/२७=१३ अंश २० कला होता है। इस प्रकार सभी नक्षत्रों के बराबर भाग होते हैं, किन्तु दूसरी पद्धति जिसका गर्गादिकों के ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है वह नक्षत्रों के असमान दूरी की है, जिसे उत्पल ने अपनी बृहत्संहिता की टीका में उद्धृत किया है। ब्रह्म गुप्त ने भी इनके असमान दूरी को लिखा है जिनके मान शंकर वाल कृष्ण दीक्षित द्वारा संग्रहीत किया गया है[२]। इन दोनों प्रकार के नक्षत्रों के मान गुरु उदय में प्रयुक्त होते हैं। असमानदूरी के मान जो ब्रह्मगुप्त द्वारा उल्लिखित है उनका बहुत बाद तक प्रयोग मिलता है। जिसके आधार पर श्री दीक्षित ने उदय प्राणली और गुरु के मध्यमगति प्रणाली (the healical rising system) दोनों का स्पष्टीकरण करते हुए दोनों के गुरु आनयन प्रक्रिया में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है और यह बताया है कि मध्यमगति प्रणाली निश्चित ही प्राचीन है, जिसका आर्यभट प्रथम और ब्रह्मगुप्त दोनों उल्लेख करते हैं, किन्तु इससे भी उदय प्रणाली (the mean sign system) अधिक प्राचीन है[३]। गुरु आनयन प्रणाली में यदि इस प्रणाली का प्रयोग अभीष्ट है, जैसा कि पूर्व के अनेक मान्य आचार्यों के मत से सिद्ध है तो निश्चित ही १२ सौर वर्षों में गुरु के ११ उदय होंगें एवं तब गुरु के दो उदयों के मध्य ४०० दिनों का आन्तर होगा, जो

अर्थात् वैशाख आदि मासों में अमावास्या में कृत्तिकादि नक्षत्रों का योग होने पर गुरु के कार्त्तिकादि वर्ष जानना चाहिए। इस प्रकार की प्रणाली रही हो सम्भव है पर प्राचीन गुप्तादिकों के लेखों में नहीं मिलती। भटोत्पल ने भी इसे अमान्य कर दिया है।

विशेष द्रष्टव्य—का० इ० इ० ३, पृ० १७६।

१. मघा च मघायां युक्ते ······ महामाघ, इण्डियन एराज, पृ० २६।

२. का इ० इ० ३, पृ० १६५।

३. का० इ० इ०, जि० ३, अपे० ३, पृ० १७२।

गुरु के एक वर्ष का काल होगा। इस प्रकार १२ वर्षों के चक्र में एक वर्ष छोड़ देना पड़ेगा। उदय प्रणाली न केवल प्राचलित है, अपितु गुरु वर्षों के आनयन की मौलिक प्रक्रिया है जो आज तक के भी पंचांगों में प्रयुक्त हुई दिखाई पड़ती है[1]।

यद्यपि यह सत्य है कि द्वादश गुरु वत्सरों के प्रयोग बहुत कम मिलते हैं। किन्तु इनके कुछ उदाहरण पाँचवीं शताब्दी के शिलालेखों में पाये जाते हैं। इस संवत्सर का सर्वप्रथम उल्लेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् के खोह ताम्रपत्र में मिलता है, जिसमें गुप्त वर्ष १६३ (४८२-८३ ई० स०) महाश्वयुज संवत्सर कहा गया है[2]। दूसरा उदाहरण, कदम्बराजा मृगेशवर्मन् (५वीं शती उत्तरार्ध) के तृतीय राज्य वर्ष में स्वीकृत दान पत्र का है, जिसमें पौष संवत्सर का उल्लेख है[3]। अन्य उदाहरणों में राजा हस्तिन् का मझगाँव[4] ताम्रपत्र (गुप्त संवत् १९१=६५१०-११) जिसमें महाचैत्र संवत्सर एवं भूमरा[5] शिलालेख जिसमें महामाघ संवत्सर का उल्लेख मिलता है। महाराज संक्षोभ के ताम्रपत्र लेख में (गुप्त वर्ष २०९=५२८ – २९ ई०) महाश्वयुज संवत्सर का उल्लेख मिलता है[6]।

---

१. वही, पृ० १७५।

२. त्रिषष्ट्युत्तरेऽब्द-शते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महाश्वयुजसंवत्सरे चैत्रमा-सशुक्लपक्ष-द्वितीय् (ा) याम्। का० इ० इ०, जि० ३, पृ० १०२ से आगे।

३. इ० एण्टी० जि० ७, पृ० ३५।

४. एकनवत्युत्तरेऽब्दशते गुप्तनृपराज्यमुक्तो श्रीमती पवर्द्धमान महाचैत्रसब्द (म्ब)त्सरे। का० इ० इ०, जि० ३, पृ० १०६-७।

५. वही, पृ० ११०; एपी० इ०, जि० ३, पृ० १६७।

६. नवोत्तरेऽब्द (द्व) शतद्वये गुप्त नृप र (ा) ज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्द्धमान विजयराज्ये महाश्वयुज स (ं)वत्सरे चैत्रमास शुक्लपक्ष ......।
का० इ० इ०, जि० ३, पृ० ११२।

कलिसंवत्

प्राचीन भारत में मुख्यतया धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में गणना के लिए जिस संवत् का प्रायः प्रयोग होता रहा है वह है कलिसंवत्। यह युगों के क्रम में चौथा युग है। कलि के आरम्भ के समय ग्रहों की स्थिति के आधार पर जिस कालगणना का आरम्भ हुआ उसे कलि-संवत् कहते हैं। पुराणों एवं ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में वर्णित ४३२०००० वर्षों वाली चतुर्युगव्यवस्था के अनुसार सर्वत्र इसका मूल मान एक सहस्र दिव्य[1] वर्ष एवं संध्या और संध्यांश सहित १२०० दिव्य वर्ष अथवा १२०० × ३६०=४३२००० मानव वर्ष पठित है। इस प्रकार यह चतुर्युग के परिमाण का दशमांश के तुल्य होता है[2]।

भारत-युद्ध में विजय पाने से युधिष्ठिर को राज्य प्राप्त हुआ था उसी समय से इस गणना के प्रचलित होने के कारण इसे युधिष्ठिर संवत् भी कहते हैं[3]। ६३४ ई० के पुलकेशिन् द्वितीय के शिलालेख में इसे भारत युद्ध काल भी कहा गया है। उस समय शक ५५६ तक भारत युद्ध के ३७३५ वर्ष गत हो चुके थे[4]। आज जो कलियुगारम्भ के विषय में जो मान्य

---

१. क्षीणे कलियुगे तस्मिन् दिव्ये वर्षसहस्रके।
   ससंध्यांशे सुनिःशेषे कृतं तु प्रतिपत्स्यते ॥
   मत्स्य० २७२, ३३; भा० १२।२।३१।

२. चत्वारिंशत्तथात्रीणि नियुतानीह संख्यया।
   विंशतिश्च सहस्राणि संध्यांशश्चतुर्युगः ॥
   लिङ्ग ४।३१-३२; वायु० ५७।३२।

   द्र०—इस शोध प्रबन्ध का अध्याय २, कालगणना उद्भव एवं विकास, स्मृति महाकाव्य एवं पुराण काल।

३. कीलहार्न द्वारा संग्रहीत दक्षिण के लेखों की सूची सं० १०१७, दी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया-स्मिथ, पृ० २८।

४. त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः।
   सप्ताब्द शतयुक्तेषु श (ग) तेष्वब्देषु पंचसु।
   पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पंचशतासु च।
   समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥ ए० इ०, जि० ६, पृ० ७।

परम्परा है, उसके अनुसार इसका प्रारम्भ ई० पू० ३१०२, की १८ फरवरी के प्रातः काल से माना जाता है। चैत्रादि गत विक्रम संवत् में ३०४४, गत शक संवत् में ३१७९ और ई० स० में ३१०१ जोड़ने से गत कलियुग संवत् आता है[1]।

भारतीय आर्ष परम्परा के कलियुग संवत्सर से भारतीय प्राचीन इतिहास की चार मुख्य घटनाएँ जुड़ी हुई हैं—

१. महाभारत का युद्ध।
२. युधिष्ठिर का राज्यारोहण।
३. श्रीकृष्ण का स्वर्ग प्रयाण।
४. परीक्षित का राज्यारोहण (कलि के ३६ वर्ष पश्चात्)

कलियुगारम्भ की स्थिति जानने के लिए क्रम से इन चारों घटनाओं पर विचार करना आवश्यक है, तभी वास्तविक प्राचीन परम्परा का ज्ञान हो सकेगा।

महाभारत युद्ध एवं कलि

प्राचीन भारतीय परम्परा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि महाभारत का युद्ध स्यमन्त पंचक नामक स्थान में कलि और द्वापर युगों की संधि-काल में हुआ[2]। भविष्य पुराण के अनुसार वह घटना वैवस्वत मन्वन्तर के २८वें द्वापर के अन्त में घटित हुई थी[3]। महाभारत युद्ध के मुख्य पात्र कौरव और पाण्डव थे तथा इस युग के मुख्य व्यक्ति भगवान्

---

१. प्राचीन लिपिमाला—ओझा, पृ० १६१,
हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कृष्णमाचारी, भूमिका, पृ० ४३।
इन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, चतुर्दश ख०, पृ० ६'५८।

२. अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
स्यमन्तपंचके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥ महा० आदि० २।१३।

३. भविष्याख्ये महाकाले प्राप्ते वैवस्वतेऽन्तरे।
अष्टाविंशद्वापरान्ते कुरुक्षेत्रे रणोऽभवत्॥ भविष्य, प्रतिसर्ग ३।३।४।

वेदव्यास कृष्णद्वैपायन,[1] भगवान् श्रीकृष्ण[2] और भीष्म[3] थे जो भारत

---

१. द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युगपर्यये ।
जातः पराशरात्योगी वासव्यां कलया हरेः ॥ भा० १।४।१४ ।
अष्टाविंशे पुनः प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते ।
पराशरसुतः श्रीमान् विष्णुलोकपितामहः ।
यदा भविष्यति व्यासो नाम्ना द्वैपायनः प्रभुः ॥
तदा षष्ठेन चांशेन् कृष्णः पुरुष सत्तमः ।
वसुदेवापदुश्रेष्ठो वासुदेवो भविष्यतिः ॥ वायु० २३।२१८-१९; लिङ्ग १।२४।१२४-२६ ।
लैङ्गे व्यासावतारा हि द्वापरान्तेषु सुव्रताः । शिव वायवीय, सं० ८।४९ ।
कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः । विष्णु ३।३।१९ ।
ततोऽत्र मत्सुतो व्यासो अष्टाविंशतिमेऽन्तरे ।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः ॥ विष्णु ३।४।२ ।
पराशरसुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽभवत् । कूर्म १।५२।२० ।
अष्टमो द्वापरे विष्णुरष्टाविंशे पराशरात् ।
वेदव्यासस्ततो जज्ञे जातूकर्ण-पुरस्सरः ॥ वायु० ९८।९८ ।
मन्वन्तरे सप्तमे च शुभे वैवस्वताभिधे ।
अष्टाविंशतिमे प्राप्ते द्वापरे मुनिसतमाः । देवी भा० १।३।२२-२३ ।
व्यासः सत्यवती सूनुर्गुरुर्मे धर्मवित्तमः ॥ वही,

२. अष्टाविंशतिमे तद्वद् द्वापरस्यांशसंक्षये ।
नष्टे धर्मे तदा जज्ञे विष्णुर्वृष्णिकुले प्रभुः । वायु० ९८।९७ ।
साम्प्रतं महीतलेऽष्टाविंशतितममनोश्चतुर्युगमतीत प्रायं वर्तते ।
(ब्रह्मा का रेवत को बलदेव के विषय में बताते हुए इस काल का निर्देश) विष्णु ४।१।७० ।
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च ।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन च ॥ महा०, भीष्म ६६।४० ।
द्वापरस्य कलेश्चैव संधौ पर्यावसानिके ।
प्रादुर्भावः कंसहेतोर्मथुरायां भविष्यति ॥ महा० शान्ति० ३३९।८९ ।

३. ततो विनशनं प्रागाद् यत्र देवव्रतोऽपतत् । भा० १।९।१ (युद्ध के बाद, युधिष्ठिर आदि का भीष्म के पास जाना) ।

युद्ध में वर्तमान थे। इन सब का द्वापर (२८वें) के अन्त में होने का उल्लेख किया गया है।

द्वापर की संधिकाल में युद्ध के कुछ काल पश्चात् ही कलि का प्रारम्भ होने वाला था[१]। कृष्ण की प्रेरणा से मुचकुन्द द्वारा कालयवन को जलाया जाना एवं कलियुग आ गया है ऐसा जान कर उनका नारायण स्थान को तपस्या करने चला जाना[२], कृष्ण[३] के स्वधाम जाने के पूर्व, कलि का प्रारम्भ एवं अर्जुन से व्यास[४] का कलियुग के विषय में इसके अशुभ होने का कथन एवं द्वापर की संध्या में कलि के प्रवर्तित होने का उल्लेख मिलता है[५]। यह काल वही था जब बलराम और श्रीकृष्ण इस पृथिवी पर अवतरित हुए थे एवं ब्रह्मा ने रैवत से कहा था कि वर्तमान मन्वन्तर का २८ चतुर्युगी काल व्यतीत हो चुका है, कलि असन्न है, तुम अपनी कन्या बलराम को दे दो[६]।

युधिष्ठिर और कलि

महाभारत के उल्लेख से ऐसा ज्ञात होता है कि भारत-युद्ध के ३६ वर्ष बाद राजा युधिष्ठिर को विपरीत अपशकुश दिखाई पड़ने लगे[७]।

---

१. एतत् कलियुगं नाम अचिरात्यः प्रवर्तते। महा० वन० १४९।३८।
प्राप्तं कलियुगं विद्धि, महा० शल्य० ६१।२३।

२. ततः कलियुगं मत्वा प्राप्तं तप्तुं नृपस्तपः।
नर नारायणस्थानं प्रययौ गन्धमादनम्॥ विष्णु ५।२४।५।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम्। भाग० १०।५२।२।

३. इदं कलियुगं घोरं संप्राप्तमधुनाऽशुभम्। कूर्म० १।२७।८।

४. इदं कलियुगं घोरं संप्राप्तं पाण्डुनन्दन।
अस्मिन् कलियुगे घोरे लोकाः पापानुवर्तिनः॥ कूर्म० १।२९।१-२।

५. ततो द्वापरसंध्यायां प्रवर्तति कलौ युगे। स्कन्द १।४०।२११।

६. सांप्रतं महीतलेऽष्टाविंशतितममनोश्चतुर्युगमतीतप्रायं वर्तते।
आसन्नो हि कलिः। विष्णु ४।१।७६-७७।

७. षट्त्रिंशेऽत्वथ संप्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः॥ महा० मौसलपर्व १।१।
षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान्।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः॥ वही, १।१३।

यह वही काल था जब वृष्णिकुल में यादवों का परस्पर युद्ध में संहार[1] हुआ। तदनन्तर अर्जुन से भगवान् श्रीकृष्ण का महाप्रयाण सुनकर युधिष्ठिर आदि अपने वंशधर परीक्षित को राजा बनाकर स्वयं तपस्या के लिए वन में हिमालय की ओर उत्तर दिशा में चले गए[2]।

श्रीकृष्ण और कलि

पौराणिक साक्ष्यों से पता चलता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के दिवंगत होने पर उसी दिन कलियुग का प्रारम्भ हुआ। जब तक वे इस पृथिवी पर वर्तमान थे तब तक कलि पृथिवी का स्पर्श भी नहीं कर सका था[3]।

---

१. त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि ॥ महा०, स्त्रीपर्व २५।४४-४५।
चतुर्दशी पंचदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चापक्षयाय च ॥
विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी हतबान्धवा।
यदनुव्याजहाराती यदिदं समुपागतम् ॥ वही, २।१९-२१।
षट्त्रिंशेऽथ गते वर्षे कौरवाणां क्षयात् पुनः।
प्रभासे यादवाः सर्वे विप्रशापात्क्षयं गताः ॥ देवी भा० १।८।३।

२. अभिसिच्य स्वराज्ये च राजानं च परीक्षितम्।
महा०, महाप्रस्थानिक पर्व १।७ ; विष्णु, ४।२४।११३।

३. यदेव भगवान् विष्णुरंशो यातो दिवं द्विज।
वसुदेवकुलोद्भूतस्तदेवात्रागतः कलिः ॥
यावत्स पादपद्माभ्यां पस्पर्शेमां वसुन्धराम्।
तावत् पृथ्वीपरिस्वङ्गे समर्थो नाभवत् कलिः ॥
गते सनातनस्यांशे विष्णोस्तत्र भुवो दिवम्।
तत्याज सानुजो राज्यं धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
× × ×
यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि।
प्रतिपन्नं कलियुगं तस्यसंख्या निबोध मे ॥
विष्णु ४।२४।१०८-११०; ११३, भा० १२।२।३३;

श्रीमद्भागवत में कलि को अधर्म का हेतु बताते हुए कृष्ण के इस लोक को छोड़ने के दिन से इस पृथिवी का इसका आविर्भाव हुआ ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है[1]। महाभारत युद्ध के ३६ वर्ष बाद श्रीकृष्ण का महाप्रयाण हुआ ऐसा महाभारत से प्रमाणित होता है[2]। उनकी संपूर्ण आयु १२५ वर्ष थी ऐसा भागवत में लिखा है[3]।

परीक्षित और कलि

भगवान् श्रीकृष्ण के महाप्रयाण के बाद युधिष्ठिर का परीक्षित को राजगद्दी पर बैठाने का उल्लेख प्राप्त होता है[4]। परीक्षित के राज्य-काल में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में विचर रहे थे और उसी समय १२०० वर्षों वाले

विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत् कलिर्लोके पापे यद्रमते जनः ॥ तु० भा० १२।२।२९-३०;
यावत्स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत्कलिर्वै पृथ्वीं पराक्रान्तुं न चाशकत् ॥ वायु० ९९।४२८ ।

१. यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीय सत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत ॥ भा० १।२५।३६;
यस्मिन्नहनि यर्ह्येव भगवानुत्ससर्ज गाम् ।
तदेवेहानुवृत्तोऽसावधर्मप्रभवः कलिः ॥ भा० १।१८।६;
यस्मिन् दिने हरिर्यातो दिवं संत्यज्य मेदिनीम् ।
तस्मिन्नेवावतीर्णोऽयं कालकायो बली कलिः ॥ विष्णु ५।३८।८ ।

२. षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् ।
अन्योन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥
विमृशन्नेव कालं तं परिचिन्त्य जनार्दनः ।
मेने प्राप्तं स षट्त्रिंशं वर्षं वै केशिसूदनः ॥
महा०, मुसलपर्व १।१३। २।२० ।

३. यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥ भाग० ११।६।२५ ।

४. विपरीतानि दृष्ट्वा च निमित्तानि हि पाण्डवः ।
याते कृष्णे चकाराथ सोऽभिषेकं परीक्षितः ॥ विष्णु ४।२४।११ ।
श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥ भा० ११।३१।२६ ।

कलियुग की प्रवृत्ति हुई[1]। परीक्षित के काल में सप्तर्षि मघा में विचरण कर रहे थे[2]। इन्हीं के काल में कलियुग प्रविष्ट हुआ, ऐसा भगवत में उल्लेख प्राप्त होता है[3]। यद्यपि कलियुग का आगमन पहले ही हो चुका था, पर उसका प्रभाव परीक्षित के वाद से ही वढ़ा[4]। परीक्षित के राज्या-भिषेक की यह घटना भारत युद्ध के ३६ वर्ष वाद घटित हुई। यही वह काल था जव महाभारत युद्ध अथवा परीक्षित के राज्यकाल पर्यन्त तक का इतिवृत्त लिखा गया था। लगता है परीक्षित के वाद भारत युद्ध के पश्चात् की वंशावलियाँ भविष्य कथन के रूप में पुराणों में प्रक्षिप्त हुई, क्योंकि परीक्षित को तत्कालीन सार्वभौम राजा[5] कहा गया है। किन्हीं-किन्हीं पुराणों में परीक्षित के स्थान पर अधिसीम कृष्ण[6] का वर्णन मिलता है।

उक्त प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कलि का प्रारम्भ महाभारत युद्ध के पश्चात् कृष्ण के महाप्रयाण, अथवा युधिष्ठिर के राज्य परित्याग अथवा मोटेतौर पर परीक्षित के राज्याभिषेक से हुआ। ये सभी घटनाएँ द्वापर के अन्त में या कलियुग और द्वापर की संधिकाल में हुई, ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। महाभारत युद्ध की तिथि से उक्त घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः भारत युद्ध की तिथि के आधार पर कलियुगारम्भ की काल सीमा निर्धारित की जासकती है। संप्रति महाभारत के युद्ध की तिथि भारतीय इतिहास की घोर ऊलझी हुई

---

१. यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्द शतात्मकः ॥ भा० १२।२।३१।

२. ते त्वदीये द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः। भा० १२। २।२८।

३. यदा परीक्षित कुरुजाङ्गलेऽशृणोत् कलिं प्रविष्टं निज चक्रवर्तिते।
भा० ११६।१०।

४. तावत् कलिर्न प्रभवेत् प्रविष्टोपीह सर्वतः।
यावदीशो महानुर्व्यां आभिमन्यव एकराट् ॥ भा० ११८।६।

५. परीक्षिज्जज्ञे। योऽयं साम्प्रतमेतद्भूमण्डलमखण्डितायति धर्मेण पालयति। योऽयं साम्प्रतमेवनीपतिः परीक्षितस्यापि जनमेजय श्रुत सेनोग्रसेनाश्चत्वारः पुत्रा भविष्यन्ति। विष्णु ४।२०।५३।

६. अधिसामकृष्णो धर्मात्मा साम्प्रतोऽयं महायशाः।
यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम् ॥ वायु ९९।२५८।

घटनाओं में से है, जिसका कोई सर्वमान्य निराकरण अभी तक प्रस्तुत नहीं हो सका है। प्राचीन भारतीय परम्परा में इसके तिथि संबंधी तीन मतों का उल्लेख प्राप्त होता है। आर्य भट प्रथम के अनुसार इसका प्रारम्भ उनके जन्म के तेईसवें वर्ष के ३६०० वर्ष पूर्व हुआ था। वृद्धगर्ग, वराह एवं कल्हण की परम्परा के अनुसार कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने एवं पुराणों के अनुसार परीक्षितकालीन होंने से इसका प्रारम्भ ई० पू० १४०० अथवा ई० पू० २००० के लगभग हुआ था[२]। इस प्रकार महाभारत की तिथि के आरम्भ की तीन विभिन्न तिथियाँ आती हैं, जिनमें परस्पर मेल नहीं। यद्यपि तीनों परम्पराओं का अपना महत्त्व है और किसी भी पक्ष को काटना सम्भव नहीं है, फिर कलियुगारम्भ की सर्वमान्य तिथि भारतवर्ष भर में एक ही है और वह ३१०२ ई० पू० ही है। अल्बेरूनी ने पाण्डव-काल, भारतयुद्ध काल और कलिकाल इन तीनों का उल्लेख किया है[३] जहाँ पाण्डव-काल कलि के ६५३ वर्ष बाद उल्लिखित है। किन्तु कलिकाल का प्रारम्भ वहाँ भी ३१०२ ई० पू० ही माना गया है। अबुल फ़जल ने भी कलि-काल का प्रारम्भ ३१०१-२ ई०पू० ही माना है। ब्रह्मगुप्त और पुलिश के आधार पर उसके अनुसार सं० १०८८ (९५३ शक) तक कलियुग के ४१३२ और भारत युद्ध के ३४७९ वर्ष व्यतीय हो चुके थे[४]। ज्योतिष की परिवर्ती सिद्धान्त परम्परा में ब्रह्मगुप्त से लेकर अन्त तक शक काल और कलि के बीच का अन्त ३१७९ वर्ष दिया गया है[५]।

'आइने अकबरी' में लिखा है कि चौथे युग के प्रारम्भ में युधिष्ठिर इस पृथिवी के राजा थे। उनके काल से अकबर के चालीसवें राज्य वर्ष तक ४६९६ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। अकबर का चालीसवाँ राज्य काल, १५९५ ई० के तुल्य था। इस प्रकार युधिष्ठिर का काल ४६९६ – १५९५= ३१०१ वर्ष आता है और यही कलि के प्रारम्भ होने की तिथि है[६]।

---

१. दी वैदिक एज, पृ० ३२३।
२. भारतयुद्ध की तिथि के लिए देखिये, परिशिष्ट–१।
३. अल्बेरूनीज इण्डिया, जिल्द २, पृ० १।
४. वही, जिल्द २, पृ० ४-५।
५. नन्दाद्रीन्दुगुण (३१७९) स्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः।
सि० शि०, १।२८।
६. इण्डियन एराज, कनिंघम, पृ० ७।

कलियुगारम्भ की इसी तिथि को मान कर भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक घटनाओं का उल्लेख किया गया है।

कलिसंवत् के अभिलेखीय प्रयोग

कलिसंवत् का सर्वप्रथम प्रयोग पुलकेशिन् द्वितीय के ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख में मिलता है, जहाँ इसके ३७३५ वर्ष व्यतीत होने पर शक राजाओं के संवत् के ५५६ वर्ष व्यतीत होने का उल्लेख है[1]। इसके अनन्तर विक्रम और शक संवतों के अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाने के कारण बीच में इन्हीं संवतों का विशेषकर उत्तर भारत के अभिलेखों में प्रयोग मिलता है। दक्षिण भारत में इसका प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। पाण्ड्यराजाओं के कुछ अभिलेखों में इसका प्रयोग मिलता है[2]। कोडवर्मन् के कन्दयुर अभिलेख में कलियुग के १५११५६४ दिन बाद का उल्लेख है[3]। डा० कीलहार्न ने अपने दक्षिण भारत के अभिलेख सूची में कलि-संवत् की ४२६१, ४२६४, ४२७३[4], ४२७०, ४२७२[5], ४२८८[6], ४३०२[7], ४३४८[8], एवं ४८८१[9], इन तिथियों का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि विशेषतः इस संवत् का प्रयोग दक्षिण भारत में अधिक हुआ है। आज भी वहाँ धार्मिक कृत्यों एवं अन्य सामाजिक कृत्यों में कलिसंवत् का प्रयोग होता है।

कलि संवत् के विभिन्न प्रयोग

यद्यपि कलि संवत् का विशेष प्रयोग परिवर्ती ज्योतिष सिद्धान्तों एवं

---

१. एपी० इ० जि० ६, पृ० ४।
२. वही, जि० ७, पृ० ११-१२; जि० ३, पृ० ३२०, जि० ३२, पृ० ३३५।
३. ट्रावनकोर, आर्किलाजिकल सर्वे, जि० १, पृ० २९४, विशेष द्र० इण्डियन-एपीग्राफी, पृ० २४१।
४. दक्षिण भारत की अभिलेख सूची, एपी० इ० जि० ७, अपेण्डिक्स, अभिलेख संख्या ३४१, २४२, २४३, पृ० ४३।
५. वही, अभिलेख संख्या, २४९, पृ० ४४।
६. वही, पृ० ४६।
७. वही, पृ० ४७।
८. वही, अभिलेख संख्या २६९, पृ० २८९।
९. वही, अभिलेख संख्या १००८।

पंचाङ्गों में विशेष रूप से हुआ है फिर भी इसका उल्लेख पुराणों एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी मिलता है। जैसा हम जानते हैं कि वराह और कल्हण की सूचना के अनुसार प्राचीन भारतीय इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'भारत युद्ध' कलि के ६५३ वर्ष व्यतीत होने पर घटित हुई थी[1]। बौद्ध ग्रन्थ ललित-विस्तर के अनुसार कलि के २४८६ वर्ष व्यतीत होने पर महात्मा गौतम बुद्ध के उत्पन्न होने की बात कही गई है[2]।

स्कन्द पुराण में अठाईसवें कलियुग में होने वाली प्रमुख घटनाओं के निरूपण करने की प्रार्थना की गई है[3]। इस प्रसंग में इस युग के कुछ महनीय व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, जिनमें वीर राजा शूद्रक का नाम पहला है। इसके उपरान्त नन्दराज्य, विक्रमादित्य राज्य, शक, बुध और प्रमिति का नाम आया है, इन सब की तिथियाँ कलिवर्ष में दी गई हैं। यद्यपि यहाँ उल्लिखित स्कन्द पुराण का पाठ कुछ उलझा हुआ एवं अशुद्ध प्रतीत होता है फिर भी कुछ सुधार के साथ इससे महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं—

शूद्रक विक्रम पश्चिमी भारत के प्रभावशाली राजा थे। कलि के ३२९० वर्ष व्यतीत होने पर इनके होने का उल्लेख है[4]। इस प्रकार

---

१. शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभवन् कुरु पाण्डवाः॥ राजतरङ्गिणी, १।५१।

२. कपिलवस्तु नगरे कलेश्चतुः शतषडशीत्यधिक द्विसहस्रमितेषु शुक्रवासरे सुरद्विषां संमोहनाय विवेकमूर्तिः स्वेच्छाविग्रहेण प्रादुर्बभूव।
ललित विस्तर, अध्याय १४।

३. त्रिषु वर्ष सहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्थिवः।
त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्यां भुवि भविष्यति॥
शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धिमत्र सः।
चर्चितायां समाराध्य लप्स्यते भूभरापह॥
स्कन्द १।२।४०।२४९-५०।

४. बाणाब्धि गुणदस्रोना (२३४५) शूद्रकाब्दा कलेर्गता।
गुणाब्धिव्योमरामोना (३०४३) विक्रमाब्दाऽकलेर्गता॥
पंजाब यूनिवर्सिटी मे० के० नं० ३४६५।
द्र० स्ट० स्क० पु० भाग १, पृ० १७८।

इनका काल ३२९०–३१०२ = १८८ ई० आता है। इस राजा द्वारा प्रवर्तित संवत्सर का अन्यत्र उल्लेख मिलता है, जो विक्रम संवत् से भिन्न था।[1] नन्द राजा शूद्रक से पहले था। चाणक्य के हाथों नन्दों का विनाश कलि के ३३१० (या ३११३ कलि) वर्ष व्यतीत होने पर हुआ, ऐसा उल्लेख मिलता है।[2] यहाँ दोनों प्रकार से नन्दों के लिए २०८ ई० या ११ ई० का काल आता है जो नितान्त अशुद्ध है। इसे कुछ सुधार के साथ डा० अवस्थी ने प्रस्तुत किया है 'त्रिपु (वर्ष) सहस्रेपु न्यूना दश शतत्रये' अर्थात् तीन सहस्रवर्षों में ३१० वर्ष न्यून होने पर (३०००–३१०=२६९० कलि = ३१०२ – २६९०=४१२ ई० पू०) नन्द हुए ऐसा मानने पर ४१२ ई० पू० नन्दों का काल आता है। नन्दों ने १०० वर्ष तक राज्य किया, अतः ४१२ – १००=३१२ ई० पू० का काल चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन पड़ता है[3]। कलि के ३०२० वर्ष व्यतीत होने पर विक्रमादित्य के राजा होने की बात कही गई है[4]। इससे यह काल ३१०२–३०२०=८२ ई० पू० आता है। इससे यह तिथि विक्रम के जन्म की प्रतीत होती है। यदि वह २५ वर्ष की उम्र में राजा हुआ तो यह काल ८२ – २५=५७ ई० पू० में आता है। शक राजा कलि के ३१०० वर्ष बाद उत्पन्न हुआ, ऐसा डा० अवस्थी ने सुझाया है। यहाँ पुराण का पाठ अशुद्ध है। शतसहस्रेषु के स्थान पर 'त्रिषु सहस्रेपु' ही पूर्व उल्लेख की भाँति शुद्ध प्रतीत होता है। ऐसा करने पर कलि के ३१०० वर्ष व्यतीत होने के बाद ३१०२ – ३१००=२ ई० शक राजा की तिथि आती है[5]। इसके अनन्तर कलि के ३६०० वर्ष व्यतीत होने पर हेमसदन और अंजनी

---

१. ततस्त्रिषु सहस्रेषु दशाधिक शत त्रये।
   भविष्यं नन्द राज्यं च चाणक्यो यान् हनिष्यति ॥ स्कन्द १।२।४०।२५१।

२. स्ट० स्क० पु० भा० १ पृ० १७८ से आगे।

३. स्ट० स्क० पु० भाग १, पृ० १८०।

४. ततस्त्रिषु सहस्रेषु विंशत्या चाधिकेषु च ॥
   भविष्यं विक्रमादित्य राज्यं सोऽथ प्रलप्स्यते।
   सिद्धिप्रासादाद् दुर्गाणां दीनान् यो ह्युद्धरिष्यति ॥
   स्कन्द १।२।४०।२५२-५३।

५. ततः शत (त्रिषु) सहस्रेषु शतेनाप्यधिकेषु च।
   शको नाम भविष्यश्च सोऽति दारिद्र्यहारकः ॥ वही, १।२।४०।५४।

से वुध नामक राजा के मगध देश में उत्पन्न होने का उल्लेख है[१]। यह काल ३६०० – ३१०२=४९८ ई० गुप्त राजा बुधगुप्त का है ऐसा डा० अवस्थी ने माना है[२]।

प्रमति नामक चान्द्रमस गोत्र का राजा मध्य देश में कलि के ४४०० वर्ष व्यतीत होने पर म्लेच्छों का संहार करने वाला होगा[३]। इस प्रकार इसका काल ४४०० – ३१०२=१२९८ ई० आता है। इसे डा० अवस्थी ने चन्देलों से संवद्ध कोई राजा माना है[४]।

ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ का कर्ता अपने ग्रन्थ के प्रणयन का काल ३०६८ गत कलि बताता है।[५] कुतूहल मंजरी से पता चलता है कि वराहमिहिर का जन्म युधिष्ठिर संवत् ३०४२ अर्थात् विक्रम संवत् से तीन वर्ष पूर्व हुआ था।[६]

नेपाल की राजवंशावलियों में पर्वतीय वंशावली के अनुसार सूर्यवंश के सताईसवें राजा शिवदेव वर्मा का शासन काल २७६४ कल्यब्द के समय का पड़ता। कल्यब्द का प्रारम्भ ३१०२ ई० पू० में मानने पर इस राजा का समय ३३८ ई० पू० में होता है[७]।

---

१. ततस्त्रिषुसहस्रेषु षट्शतैरधिकेषु च।
मागधे हेमसदनादंजन्यां प्रभविष्यति ॥
विष्णोरंशो धर्मपाता बुधः साक्षात् स्वयं प्रभुः ॥ वही १।२।४०।२५५:५६।

२. स्ट० स्क० पु०, भाग १, पृ० १८३।

३. चतुर्षु च सहस्रेषु शतेष्वपि चतुर्षु च।
साधिकेषु महान् राजा प्रमितिः प्रभविष्यति ॥ स्कन्द १।२।४०। २५९-६०।

४. स्ट० स्क० पु० भाग १, पृ० १८५-१८७।

५. वर्षैसिन्धुरदर्शनाम्बर गुणे (३०६८) याते कलेः सम्मिते।
मासे माधव संज्ञके च विहितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः ॥ ज्योतिर्विदाभरण, २२।२१
गणकतरंगिणी, पृ० ३४।

६. स्वस्ति श्रीनृपसूर्यसूनुज शके याते द्विवेदाम्बरत्रै (३०४२)
मानाब्दमिते त्वनेहसि जये वर्षे वसन्तादिके।
चैत्रे श्वेतदले शुभे वसुतिथावादित्यदासादभूद्।
वेदाङ्गे निपुणो वराहमिहिरो विप्रो रवेराशिभिः ॥
भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—भगवद्दत्त, भा० १, पृ० २१५।

७. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, सत्यकेतु विद्यालङ्कार, पृ० ७५।

इसके अतिरिक्त पं० भगवदत्त जी ने कलि संवत् से संवद्ध निम्न तिथियों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं[1]—

कलिसंवत्—३४१८—कोचीन के राजा चेर का पत्र[2]।

,, ३४२६—तेलगु प्रदेश स्थित नन्दि दुर्ग नामक ग्राम के शिव मन्दिर का दान पत्र जिसकी एक प्रति मद्रासराज के राजकीय संस्कृत भण्डार में सुरक्षित[3]।

,, ३७३७—पुलकेशिन द्वितीय का शिलालेख[4]।

,, ३७४०—ऋग्वेद भाष्यकार स्कन्दस्वामी के शिष्य शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी द्वारा उल्लिखित[5]।

,, ३८७१—पाण्ड्य देश का एक उत्कीर्ण लेख[6]।

---

१. वही भाग १—पृ० १६२-६४।

२. इण्डियन कल्चर, भाग १२, खण्ड १, पृ० १९।
रावर्ट स्वेल—लिस्ट आफ एण्टीक्वेरियन रिमेन्स इन दी प्रेसिडेन्सी आफ मद्रास, भाग १, पृ० २५८ ई० १८८२।

३. नन्दिदुर्गाह्वये ग्रामे सोमशंकररूपिणः।
कल्यूति आगम गुणेष्वब्देषु जगतीपतेः॥
टीका—जगतीपतेः परमेश्वरस्य कलिसम्बन्धिषु षड्विंशत्युत्तरचतुःशतोत्तर त्रिसहस्रात्मसंवत्सरे। संख्या १५९४७, सूची पत्र, भाग २८! परिशिष्ट रूप, सन् १९३९ पृ० १०४७२, १०४७३।

४. एपी० इ० भाग ६ पृ० ११-१२।

५. यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्याः तदा भाष्यमिदं कृतम्॥
वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पृ० २।

६. कलेः सहस्र त्रितयेऽब्दगोचरे गतेष्टशत्यामपि सैकसप्ततौ।
कृत प्रतिष्ठो भगवानभूत्क्रमाद् इहैष पौष्णेऽहनि मासि कार्त्तिके॥
एपी० इ० भाग ८, पृ० ३२०।

कलि ३९७९—भविष्योत्तर पुराण का ग्रंथाक्षरों में लिखित एक श्लोक[१]।

" ४०४४—चोल देश का एक लेख[२]।

" ४०६८—मंगलोर के समीप कदरी के मंजीरनाथ मन्दिर के लोकेश्वर की मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख[३]।

" ४०७८—देवीशतक की वृत्ति में कैयट द्वारा अपना कालनिर्देश[४]।

कलि ४०८०—शक ९०१ = [५]

" ४०८३[६]—

" ४१५१—माटेर (सिलहट) आसाम का लेख[७]।

" ४१३२—ब्रह्मगुप्त और पुलिश के अनुसार संवत् १०८८ तक कलियुग के ४१३२ एवं भारतयुद्ध के ३४७९ वर्ष बीत गये हैं[८]।

---

१. कल्यावौ (ब्दे) च चतुःसहस्रसहिते यत्रैकविंशोनके
पुष्ये मासि विलम्बिनाम्निखम् अगादष्टप्रजौ मौद्गलः।
पञ्चम्यां सितपक्षके भृगुदिने सह्यात्मजोवक्तटे
कंसग्राम निवासिभिः सुदर्शनः सार्धं विमानोज्ज्वलः॥
धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ पृ० ३५२।

२. कलियुगवर्षनालायिरत्तु, एपी० इ०, भाग ८, पृ० २६१।

३. कलौ वर्ष सहस्राणामतिक्रान्ते चतुष (ष्ट) ये।
पुनरब्दे गते चैव अष्टषष्ट्यासमन्विते।
गतेषु नवमासेषु कन्यायां संस्थिते गुरौ।
पश्चिमेऽहनि रोहिण्यां मुहूर्त्ते शुभलक्षणे॥
दक्षिणभारत के लेख, संख्या १९९, ऐन्शियेण्ट कर्नाटक, पृ० १२१, अल्तेकर।

४. वसुमुनिगगनोदधिसमकाले याते कलेस्तथा लोके।
द्वापञ्चाशे वर्षे रचितेयं भीमगुप्त नृपे॥
भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृ० १६१।

५. एस० आई० आई० जि० ३ भाग ३, नं० १३५।

६. एपी० इ० भाग २२, २१९—एनुअल रिपोर्ट आन साउथ इण्डियन एपीग्राफी, १९०७ नं० २६५ एस०आई० आई० जि० ८ भाग ३, नं० १३८।

७. इन्स० आफ नार्थ इण्डिया—भण्डारकर लिस्ट नं० १७६७।

८. अलबेरूनीज़ इण्डिया—भाग २, पृ० ४-५।

कलि ४२६०—सर्वानन्द की अमर टीका सर्वस्व,[१]।

„ ४२७०[२]-

„ ४२९४—एतेरेय ब्राह्मण का टीकाकार षड्गुणशिष्य की वृत्ति[३],

„ ४३१५—दक्षिण भारत का लेख[४]।

„ ४३४८—उड़ीसा के अर्केश्वर मनि का लेख[५]।

„ ४४८४—दक्षिण भारत का लेख[६]।

„ कल्यब्द ३५२९[७]-।

„ ४७८१[८]—।

---

१. इदानीं चैकाशीतिवर्षाधिकसहस्रेकपर्यन्तेन शकाब्दकालेन (१०८१) षष्टिवर्षाधिक हि चत्वारिंशच्छतानि कलिसन्ध्याया भूतानि (४२६०)। तथा च गणिचूडामणो श्रीनिवासः कलिसन्ध्याया स्वसमयकृत वर्षाणि।

२. शास्त्रीये संवत् ४ (५) चैत्रवति दशम्यां कलेर्गतवर्षाणि ४२७० खसितम् ४२७७३० उबहो कलिप्रमाणं ४३२००० परम भट्टारकमहाराजाधिराज परमेश्वर श्रीमद् अजयपालदेव प्रवर्धमानकल्याणविजयराज्ये संवत् ……।

३. गर्वगाथा च मुख्येति कलिशुद्धदिने सति।
वृत्तिः षाड्गुणती जाता ब्राह्मणस्य सुखप्रदा॥ ऐ०ब्रा०, अध्याय १० का अन्त। कलिदिन संख्या १५६७३४३ में सुखप्रदावृत्ति लिखी गई—३६५ दिन के हिसाब से ४२९४ वर्ष बनता है।

४. कलियुग वरिस—सा०इ० इ०, भाग ७, नं० २२२, पृ० १११-११२, अल्तेकर, ऐन्शिएण्ट कर्नाकटक, पृ० १२१।

५. जर्नल आफ ओरियण्टल रिसर्च—वर्ष १८, भाग ४।

६. शकवरूष १३०६, कलियुग ४४८४। सा०इ० इ० भाग ७, नं० २२५, पृ० ११३, ऐ० कर्नाटक, पृ० १४४।

७. नारायण कृत तन्त्र समुच्चय १२।२१५, त्रिवेन्दम संस्कृत सिरीज।

८. महाभारत भीष्म पर्व की हस्तलिखित प्रति—
संख्याते द्विजराजसिद्धऋषिवरापायैः (४७८१) कलेर्हायने लोके ससगुर्णाप रूपकमिते (१७३७) काले शकघ्ने सति …… भूयाच्छिव प्रीतये।
महा० भीष्मपर्व, पूना संस्करण, भूमिका, पृ० ५८।

कलि संवत् और उसका प्रारम्भ

शब्द कल्पद्रुम[1] में गत कलि में निम्न घटनाओं का उल्लेख है—
३०४४ में विक्रम वत्सरारम्भ,
३१७९ में शकवत्सरारम्भ,
३१०१ में यीशु ख्रिष्टीयाब्द :,
३६९५ (५१७ शक) में विलायती सन् का प्रारम्भ,
३७२३ (५४५ शक) में मुहम्मद का मक्का प्रस्थान-हिज्रवत्सरारम्भ,
४५८५ (१४०७ गत शक) में चैतन्यदेव का आदुर्भाव वर्णित है।

मध्यकालीन ज्योतिषी शतानन्द ने अपना काल १०२१ शक वर्ष बताते हुए कलिसंवत्[2] ४२०० एवं गंगाधर ने ४५३५ कलिवर्ष का उल्लेख किया है[3]।

इस प्रकार कलि संवत् का प्रयोग भारतीय समाज के हर क्षेत्र में अन्य प्राचीन संवत्सरों की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप में हुआ है। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक प्राचीन काल से ही इसके प्रयोग मिलने लगते हैं। दक्षिण भारत के पंचाङ्गों में तो यह आज भी प्रयुक्त होता है। उत्तर भारत के पंचाङ्गों में इस संवत् के गत वर्ष लिखे रहते हैं। वर्तमान १९७६ ई०, २०३३ विक्रम संवत् के पंचाङ्ग में गत कलिवर्ष ५०७७ लिखा है[4]।

कलि संवत् के इतने प्राचीन उल्लेख होने पर भी विद्वानों ने इसे ज्योतिषियों द्वारा गणना के लिए आविष्कृत माना है। डा० फ्लीट ने ८वीं

---

१. शब्दकल्पद्रुम, पृ० ६०-६१।

२. शको नवाद्रीन्दुकृशानु ३१७९ युक्तः कलेर्भवत्यब्दगणस्तु वृत्तः।
वियन्नभोलोचनवेद ४२०० हीनः शास्त्राब्दपिण्डः कथितः स एव॥
सखाश्विवेदेश्च गते युगाब्दे दिव्योक्तितः श्रीपुरुषोत्तमस्य।
श्रीमान् शतानन्द इति प्रसिद्धः सरस्वती शङ्करयोस्तनूजः॥
शतानन्द, शक संवत् १०२१—"भास्वती"
तत्रादौ। गणकतरङ्गिणी, पृ० ३४।

३. वर्तमाने कलौ पञ्च त्रिपञ्चाब्धि (४५३५) समा : समा।
गङ्गाधर, चान्द्रभान, गणक तरङ्गिणी, पृ० ५१।

४. वि०सं० २०३३ का "विश्वपञ्चाङ्ग", का० हि० वि०।

शताब्दी में इसके मात्र २ बार उल्लेख (ई० ६३४, और ७७० ई०) एवं दशवीं शताब्दी में मात्र ३ बार उल्लेख के कारण इसे ई० सं० ४०० के लगभग पंचाङ्गों के लिए आविष्कृत माना है, जब हिन्दुओं ने ग्रीकों से ज्योतिष का कुछ ज्ञान प्राप्त किया[1]। इसके समर्थन में प्रो० सेनगुप्त ने भी लिखा है कि ज्योतिषोक्त कलियुग महाभारत कलि से भिन्न था, जिसका आविष्कार आर्यभट प्रथम द्वारा किया गया था एवं इसी कारण इससे पूर्व का इसकी प्राचीनता संबन्धी कोई उल्लेख नहीं प्राप्त हो सकता[2]।

डा० फ्लीट का ही समर्थन करते हुए डा० डो० सी० सरकार ने भी इसे ज्योतिषियों द्वारा आविष्कृत माना है और इसकी प्राचीनता द्योतित करने के लिए इसे उनके द्वारा ३५०० वर्ष प्राचीन घोषित किये जाने की बात कही है[3]। यद्यपि उक्त आक्षेप इतने अंश तक सही नहीं है, जितना, इन विद्वानों ने बताया है, किन्तु पुराणों की गणना प्रणाली और उनके पूर्व के महाभारतादि एवं वैदिक कालीन गणना की विभिन्नता के कारण कलि की प्रामाणिकता में अन्य विद्वानों को भी कुछ संदेह है[4]। इन आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास 'भारत युद्ध की तिथि' प्रसंग में किया गया है[5]। यह सब भ्रम भारत युद्ध संबन्धी प्राचीन परंपराओं के घोल-मेल के कारण है। दीर्घ काल के व्यवधान के कारण इनमें अन्तर का पड़ना स्वाभाविक है। अतः भारत युद्ध के आधार पर कलि की परंपरा को भी

---

1. But any such attempt ignores the fact that the reckoning is an invented one, devised by the Hindu astronomers for the purposes of their calculations some thiry five centuries after that date. J. R. A. S. 1911, p. 479; 675.

   Literary instances are not at all common even in astronomical writings. The earliest available one seems to be one of A. D. 976 or 977 from Kashmir it is the year in which Kayyata, son of Chandraditya wrote his commentary on the Devī-śataka of Ānandavardhana when Bhīma-gupta was reigning. Ibid, p. 485-6.
२. ऐ० इ० क्रो०, पृ० ४५।
३. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २३६।
४. वैदिक इण्डिया, रङ्गाचार्य, पृ० १००।
५. इस शोध प्रवन्ध का परिशिष्ट--१ आर्यभट्ट सिद्धान्त।

लोगों ने दूषित कर दिया है। भारत युद्ध की परंपराप्राप्त तिथि अठाइसवें द्वापर का अन्त है। उसके बाद कलि के प्रारम्भ की बात कही गई है। इसके साहित्यिक और अभिलेखीय उद्धरण भी हम देख चुके हैं। ये संख्या में भले ही स्वल्प हों, पर प्राचीन काल से चली आरही परंपरा को द्योतित करते हैं। मध्य कालीन ज्योतिष के ग्रन्थों में भी ज्योतिषियों द्वारा इसका भरपूर प्रयोग हुआ है और सर्वत्र कलि और शक के बीच का अन्तर ३१७९ वर्ष ही बताया गया है। डा० फ्लीट और वर्गेस द्वारा इसे ज्योतिषियों द्वारा आविष्कृत बताया जाना और ३५०० वर्ष पीछे ठेल लेजाने की बात कहना तर्क की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता। प्राचीनता सिद्ध करने के लिए वे इसकी संख्या को और बढ़ाकर लिख सकते थे। इस तिथि को किस कारण से उनलोगों ने केवल ३५०० वर्ष ही पीछे खसकाया—यह बात किसी ने स्पष्ट नहीं किया है। यह किसी निजी व्यक्ति का आविष्कार नहीं था, अपितु प्राचीन काल से लोक-व्यवहार में चला आरहा एक धार्मिक एवं ज्योतिष गणना के लिए उपयोगी काल था। चूँकि पुराणों में घटनाओं को युगों में अभिव्यक्त करने की प्रथा का उल्लेख है, अतः इसके व्यतीत वर्षों का बहुत से प्राचीन पुराणों में उल्लेख नहीं, किन्तु कुछ स्कन्द आदि पुराणों में ऐसा है भी। प्राचीन अभिलेखों में राजा के राज्य-वर्ष में ही घटनाओं की तिथियाँ अङ्कित की जाती थीं अतः संवतों के प्रयोग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा अशोक से पूर्व का अभी कोई भी अभिलेख क्रम से प्राप्त नहीं है, जिसमें तिथियों का उल्लेख हो। पहले तिथियों के निरूपण की क्या प्रक्रिया थी, आज हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं। अतः उक्त तर्कों के आधार पर इस संवत् को कल्पित बताना ठीक नहीं। शाम शास्त्री ने इसे ३१०१ ई० पू० में शुरु होने वाला वैदिक कालीन संवत् माना है[1]। इसकी सत्ता में वे भी विश्वास करते हैं। यह बात भले ही संभव है कि इस गणना का क्रम बाद में ठीक किया गया हो पर इसका अस्तित्व अवश्य ही बहुत प्राचीन है।

यदि भारतीय परंपरा और साहित्य पर यत्किंचित् भी विश्वास किया जाय तो आज की परिस्थितियों से कलि संवत् का कितनाहूँ विरोध क्यों न प्रतीत होता हो पर कालगणना की दृष्टि से इसकी प्राचीनता को कोई भी व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार कलि संवत् का काल-

---

१. गवां अयन, पृ० १३८-९।

गणना के लिए संवत् के रूप में ई० सन् चौथी-पाँचवीं शती से तो स्पष्ट उल्लेख मिलता ही है, इससे और अधिक कितना प्राचीन है इसे इदमित्थं रूप में नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही हम इसके प्राचीन संदर्भ बहुत नहीं पाते हैं, किन्तु जो भी हैं, वे इसकी प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं।

वस्तुतः महाभारतयुद्ध, कलिकाल और युधिष्ठिर के राज्यारोहण से चलने वाले ये सब संवत् कुछ काल के अन्तर से लगभग समान ही थे जो कालान्तर में परस्पर निकट होने से मिला दिए गए। इसलिए इनका इतिहास उलझ गया किन्तु इसे अर्वाचीन कथमपि नहीं माना जा सकता। ३१०२ ई० पू० में इसके प्रवंतन की तिथि सुलझी हुई ही मानी जानी चाहिए।

———

परशुराम या कोलम्ब संवत्

यह दक्षिण भारत में प्रयुक्त होने वाला एक संवत् है, जिसको संस्कृत के लेखों में "कोलम्ब संवत"[1] और तामिल में "कोल्लम आंडु" (कोल्लम=पश्चिमी, आंडु=वर्ष), अर्थात् पश्चिमी (भारत) का संवत् लिखा गया है। इस संवत् का उद्भव किसके द्वारा और किस घटना के उपलक्ष में किया गया इसके विषय में कुछ भी लिखा हुआ नहीं मिलता है। इसके वर्षों को कभी कोल्लम वर्ष और कभी "कोल्लम के उद्भव से वर्ष" लिखते हैं, जिससे अनुमान होता है कि भारत के पश्चिमी तट पर मलबार प्रदेश के कोल्लम (क्विलोन, ट्रावनकोर) नामक नगर[2] से, जिसको संस्कृत के लेखक कोलम्ब पत्तन[3] कहते हैं, सम्बन्ध रखने वाली किसी घटना से इस संवत् का प्रवर्तन हुआ हो। म० म० पं० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ने इसकी उत्पत्ति के विषय में विशद् विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि बर्नेल के अनुसार ई० स० ८२४ के सेप्टम्बर मास से इसका प्रारम्भ होता है। ऐसा माना जाता है कि यह संवत् कोल्लम (क्विलोन) की स्थापना की यादगार में चला है (बर्नेल, साउथ इण्डियन पैलियोग्राफी, पृ० ७३) परन्तु कोल्लम शहर ८२४ से बहुत पुराना है और ई० सं० की ७वीं शताब्दी का लेखक उसका उल्लेख करता है इसलिए उक्त धारणा ठीक नहीं। ट्रावनकोर राज्य के आर्किलाजिकल सर्वे के सुपरिण्टेण्डेण्ट टी० ए० गोपी नाथ राव का अनुमान है कि यह संवत् मरुवान् सपीर ईशो नामक व्यापारी के कोल्लम

---

१. श्रीमत्कोलम्बवर्षे भवति गुणमणिश्रेणिरादित्यवर्मा। एपी० इ०, जि० २, पृ० ३६०।

२. कोल्लम (क्विलोन) एक प्राचीन नगर और बन्दगाह है। सातवी शती के नेस्टोरियन पादरी जेसुजवस ने इसका उल्लेख किया है। ८५१ ई० के अरब यात्रियों ने कोल्लम मल्ल नाम से इसका उल्लेख किया है (इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, जि० २१, पृ० २२)। प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७९, टि० १।

३. बम्बई गजेटियर, जि० १, भाग १, पृ० १८३, टिप्पणी १।

नगर में आगमन से चलाया गया, किन्तु यह अनुमान इसलिए ठीक नहीं है कि इसका आधार कोट्टयं के ईसाइयों का एक ताम्रपत्र है, जिसमें वहाँ के राजा द्वारा उनको भूमि देने का उल्लेख है पर किसी संवत् चलाने का नहीं। ताम्रपत्र की लिपि ८६०-८७० ई० का अनुमान कर राव ने ८२५ में स्थाणुरवि के समय उस ईसाई व्यापारी के आगमन पर मालवार के राजा द्वारा इस संवत् के चलाये जाने की वात लिखी है, परन्तु श्री ओझा ने लिखा है कि ८२५ में न तो मरुवान् सीपर इशो के कोल्लंब आने का प्रमाण है और न स्थाणुरवि के ८६९-७० में वर्तमान होने का। कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जब मरुवार के राजा चेरुमान ने अपना देश छोड़ कर मक्का को प्रस्थान किया तब से यह संवत् चला। पर मालवार में चेरुमान के बौद्ध हो जाने की प्रसिद्धि है। एवं यदि ऐसा हो भी कि चेरुमान मुसलमान हो गया था तो उसके उपलक्ष में संवत् चलाने की बात ठीक नहीं, क्योंकि मुसलमान होने पर प्रजा उसे घृणा से देखेगी संवत् नहीं चलाएगी।

कोई-कोई ऐसा भी मानते हैं कि शंकराचार्य के स्वर्गवास से यह संवत् चला है। यदि शंकराचार्य का जन्म ई० स० ७८८ (विक्रम ८४५ = कलियुग ३८८९, यज्ञेश्वर शास्त्री का आर्य विद्या सुधाकर, पृ० २२६-२२७) में हो तो इनका देहान्त ७८८+३८ = ८२६ ई० में होना स्थिर होता है। इस प्रकार यह समय कोलम्ब संवत् के प्रारम्भ के निकट आ जाता है पर ऐसा मानने के लिए मलवार वालों की जनश्रुति के सिवाय अन्य कोई प्रमाण नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में यह संवत किसने किस घटना के उपलक्ष में चलाया इसके विषय में कुछ कहना अनिश्चित सा ही है[1]। यह सौर वर्ष से सम्बन्धित संवत्सर चक्र है, जिसका प्रारम्भ उत्तरी मलवार में कन्या संक्रान्ति (आश्विन) से और दक्षिणी मलबार तथा तिनेवली जिले में सिंह संक्रान्ति (सौर भाद्रपद) से होता है। मलवार में महीनों के नाम संक्रान्तियों के ही नाम हैं, किन्तु तिन्नेवली जिले में उनके नाम चैत्रादि महीनों के लौकिक रूप में है। वहाँ चैत्र को "शित्तिरैथा चित्तरै" कहते हैं। तिन्नेवली वालों का सौर चैत्र मलवार-वालों का मेष है। इस संवत् के वर्ष प्रायः वर्तमान में ही लिखे जाते हैं।

---

१. म० म० गौ० ही० ओझा—प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७९।

इस संवत् का सबसे पुराना लेख कोलम्ब सं० १४९ का मिला है (एपी० इ०, जि० ९ पृ० २३४)। वीर रविवर्मन् के त्रिवेन्द्रम से मिले हुए शिलालेख में कलियुग सं० ४७०२ वर्तमान ४७०१ गत और कोलम्ब ७७६ दोनों लिखे है,[1] जिससे दोनों का अन्तर ४७०१–७७६=३९३५ वर्ष आता है।

डा० बर्जेस ने अन्तिम चक्र जो बीता है (चौथा चक्र) उसका प्रारम्भ २५ अगस्त, ८२५ ई० स० से माना है। काउजी पाटिल ने इसे इसी महीने की २९ तारीख को माना है[2]। मलबार के लोग इसको परशुराम संवत् कहते हैं तथा इसे १००० वर्षों का चक्र मानते हैं एवं वर्तमान चक्र को वे चौथा चक्र बताते हैं, किन्तु १८२५ ई० में इस संवत् के चौथे चक्र पूरे होने के बाद उन्होंने वर्षों को एक से लिखना प्रारम्भ नहीं किया, अपितु १००० से आगे लिखते जा रहे हैं, जिससे उक्त धारणा खण्डित हो जाती है,[3] किन्तु यदि इसे एक सहस्रवर्षों का चक्र माने तो उक्त हिसाब से प्रथम चक्र का प्रारम्भ ११७६ ई० पू०, दूसरे चक्र का १७६ ई० पू० तीसरे का ८२५ इ० स० और चौथे चक्र की समाप्ति १८२५ ई० स० में होती है[4]। तीसरे चक्र का ९७७वां वर्ष शक १७२३ आश्विन (एक) १ या १४ सितम्बर १८०० ई० के तुल्य था ऐसा वैरेन और प्रिंसेप ने लिखा है जिसे सुधार कर १८०१ ई० कनिंघम ने लिखा है[5]।

प्रो० कीलहार्न ने कोलम्ब संवत् वाले कई शिलालेखों में दिए हुए संवत्, संक्रान्ति, वार इत्यादि को जांच कर कोलम्ब संवत् में ८२४-२५ मिलाने से ईस्वी सन् का होना माना है[6] एवं एल० डी० स्वामी कन्नु पिल्ले ने ई० सन् में ८२५ घटाने से कोल्लम संवत् का बनना माना है[7]।

इस प्रकार हम पाते हैं कि इस संवत् का सम्बन्ध दक्षिण भारत से

---

१. ट्रावनकोर आर्किलाजिकल सिरीज, जि० २, पृ० २८।
२. इण्डियन एराज, पृ० ३३।
३. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १७९-८०।
४. इण्डियन एराज, पृ० ३३।
५. वही, पृ० ३३।
६. इ० ए०, जि० २५, पृ० ५४।
७. इण्डियन क्रोनालाजी, पृ० ४३।

रहा है, जहाँ इसका प्रचार मलयालम प्रान्त में था जिसके अन्दर मलवार, ट्रावनकोर, तिन्नेवली जिला एवं कन्या कुमारी तक का प्रदेश सम्मिलित था[३]। यह वहाँ आज भी प्रयोग में है, पर इसका क्षेत्र परिसीमित एवं इसका उद्भव ज्योतिषियों द्वारा परिकल्पित ज्ञात होता है। उत्तर भारत से इसका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहा है[४]।

महावीर या वीर-निर्वाण संवत्

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा के विकास में जैन-सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अपनी विशिष्ट धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त इसमें आरम्भ से ही ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति आस्था का भाव दृष्टिगोचर होता है जिससे प्रेरित होकर उसने अपने आश्रयदाताओं एवं प्रधान शिष्यों का इतिवृत्त सुरक्षित रखा है। प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथिक्रम की जो मूलभूत समस्या ऐतिहासिकों के समक्ष रही है, उसे सुलझाने में जैन धर्म की ग्रन्थ-पाण्डुलिपियों ने बहुत कुछ सहायता प्रदान किया है, क्योंकि इस सम्प्रदाय में जैनों की अपनी स्वतन्त्र गणना प्रणाली रही है, जिसमें चौबीसवें और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर और उनके बाद के शिष्यों का कालक्रमयुक्त वर्णन सुरक्षित है। यद्यपि जैन-धर्म का अस्तित्व तो महावीर के बहुत पहले से सिद्ध होता है, किन्तु काल गणना का प्रारम्भ महावीर की निर्वाण तिथि से किया गया है[1]। सामान्य मान्यता के अनुसार वे ई० पू० ५२७ में ७२ वर्ष

---

१. (१) एवं च श्री महावीरमुक्तेर्वर्षशते गते।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ परि० प० ८।३३९।

(२) वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रां मास पञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥ हरिवंश ६०।५५१।

(३) पणछस्सयवस्सं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणव तियमहिय सगमासम् ॥
त्रि० सा० ८५०।

(४) श्री वीरनिवृतेर्वर्षैषड्भिः पञ्चोतरै शतैः।
शाकसंवत्सरस्येषा प्रवृत्तिर्भारतेऽभवत् ॥ विचारश्रेणी।

(५) वीरनिर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते।
लोकेऽवन्तिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥ हरिवंश ६०।४८७।

(६) जक्काले वीर जिणो णिस्सेय ससम्पयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥ ति०प० ४।१५०५।

(७) जं रयणि सिद्धि गओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तीये अभिसित्तो पालओ राया ॥ तित्थोगाली, ६२०।

की अवस्था में पावा (पटना जिला) नामक स्थान में निर्वाण प्राप्त किये। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कार्तिककृष्ण अमावास्या एवं दिगम्बरीय परंपरा के अनुसार चतुर्दशी के दिन यह घटना घटित हुई[1]। इस समय निर्वाण की तिथि को लेकर इतिहास के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। यह मतभेद न केवल आधुनिक है, अपितु जैन-साहित्य में भी वर्तमान है, उदाहरणार्थ प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थ 'तिलोयपणत्ति' में इस विषय के चार मतों का निर्देश किया गया है, जहाँ निर्वाण की तिथि से ४६१ वर्ष, या ९७८५ वर्ष या १४७९३ वर्ष या ६०५ वर्ष ५ मास बाद किसी शक राजा के होने का उल्लेख है[2]। धवलाकार वीरसेन ने भी अपनी धवला में उक्त दोनों मतों, ६०५ वर्ष ५ मास, एवं १९७९ वर्ष के बाद शक राजा की उत्पत्ति बतलाई है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में वर्णित चतुर्थ मत एवं धवला के

(८) अनन्तरं वर्धमानस्वामिनिर्वाणवासरात्।
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः॥
श्री वीरमोक्षात् वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना॥ हेमचन्द्र, प०प०।

१. जै० सा० इ० पू० पी०, पृ० २८२।

२. वीर जिणे सिद्धिगदे चउसद इगिसट्ठिवास परिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते अप्पण्णो एत्थ सगराओ॥
अहवा वीरे सिद्धे सहस्सणवकम्मि सगसयव्यहिए।
पणसीदम्मि अतीदे पणमासे सगणिओ जादो॥
चोद्दससहस्स सगसय तेणउदीवासकालविच्छेदे।
वीरसरसिद्धीदो अप्पणओ सगणिओ अहवा॥
णिव्वासे वीरजिणे छव्वाससदेसु पञ्चवरिसेसु।
सणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा॥ ति० प०, ४।१४९६-१४९९।

३. पञ्चयमासा पञ्च य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी॥
गुत्तिपयत्थ-भयाहं चौद्दस रणणाइ समइकंताई।
परिणिव्बुदे जिणिदे तो रज्जं सगणरिदस्स॥
सत्त सहस्सा णवसद पञ्चाणउदो स पञ्चमासा य।
अइकंता वासाणं जइया तइया सगुप्पती॥
षट् खं०, ९।४१-४३, पृ० १३२-१३३।

प्रथम मत के अनुसार वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पाँच मास पश्चात् शक राजा हुआ। श्री जिनसेन ने अपने 'हरिवंश पुराण'[१] (७८३ ई०) में तथा श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने (१००३ ई०) अपने 'त्रिलोकसार'[२] में इसी मत का प्रतिपादन किया है। शक राजा का यह समय ही शक संवत् के प्रवर्तन का काल है, ऐसा श्वेताम्बरावलम्बी मेरुतुङ्गाचार्य की विचारश्रेणी में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक से ज्ञात होता है,[३] जिसके अनुसार भारतवर्ष में शक संवत् की प्रवृत्ति महवीर निर्वाण से ६०५ वर्ष बाद हुई। शक संवत् और विक्रम संवत् का अन्तर १३५ वर्षों का है। ६०५—१३५=४७० विक्रम पूर्व या ५२८ ई० पू० या ६०५ शक पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ, ऐसा श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। श्वेताम्बर लेखक श्री मेरुतुङ्ग सूरि ने महावीर निर्वाण का काल विक्रम संवत् में उल्लिखित किया है[४]। यही कालपरम्परा नन्दी संघ की दिगम्बर पट्टावली, श्वेताम्बर तथा गच्छ-पट्टावली, हरिभद्र के आवश्यक वृत्ति (७७५ ई०) एवं तर्थोद्धार आदि प्रकरणों में भी उल्लिखित हुआ है[५]। उक्त सभी स्रोतों में महावीर के

---

१. वर्षाणां षट्शती त्यक्त्वा पञ्चाग्रां मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्॥ हरिवंश ६०।५५१।

२. पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्बुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणव तियमहिय सगमासम्॥
तहिं वाषाण स एंहिं पञ्चहिं वासेंहिं पञ्चमासेंहिं। त्रि० सा० ८५०।
मम निव्वाण गयस्स उ उपजिस्सइ सगोराया॥ वही, महावीरचर्यम्····
नेमिचन्द (ई० १०८४)।

३. श्रीवीरनिवृतेर्वषैंःषड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भारतेऽभवत्॥
जै० सा० इ० पू० पीठिका, पृ० २८४।

४. विक्कभरज्जारंभा पुरउ सिरिवीरणिव्बुइ भणिया।
सुन्न मुणि वेयजुत्तो विक्कम कालउ जिण कालो। विचारश्रेणी
जिनकालः शून्यमुनिवेदयुक्तः चत्वारि शतानि सप्तत्यधिकवर्षाणि। श्रीमहावीर विक्रमादित्ययोरन्तरमित्यर्थः। श्रीमहावीर

५. महमुक्ख गमणाओ पालयनन्दचन्द गुत्ताइराईसु बोलीणेसु।
चउसय सत्तरेंहि वासेंहि विक्कमाइच्चो राया होही॥
विविधतीर्थकल्प का पावापुरीकल्प प्रकरण।

४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य के राज्याभिषिक्त होने का वर्णन है।

जैन पाण्डुलिपियों में तिथियों का अङ्कन या तो महावीर निवार्ण संवत् में अथवा विक्रम या शक संवत्सरों में हुआ है। सामान्यतया शक संवत् का विशेष कर दिगम्बर ग्रन्थों एवं विक्रम का विशेषोल्लेख श्वेताम्बर परंपरा में हुआ है। पर दोनों निर्धारित केन्द्रों से महानिर्वाण की एक ही परंपरागत तिथि ५२७ ई० पू० की पुष्टी होती है।

परन्तु प्रसिद्ध जैन इतिहासज्ञ डा० हर्मन याकोबी और जार्ल चारपेण्टियर ने हेमचन्द्राचार्य के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महावीर का निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व नहीं अपितु ४१० वर्ष पूर्व हुआ था एवं यह सुझाव दिया है कि परम्परया चली आरही महावीर की तिथि में ६० वर्ष कम कर देना चाहिए[1]। संक्षेप में चारपेण्टियर के मुख्य तर्क इस प्रकार थे।

मेरुतुङ्गाचार्य विरचित विचारश्रेणी आदि ग्रन्थों में उल्लिखित

सत्तरि च दुसदजुत्तोजिणकाला विक्कमो हवइजभ्भो।

नन्दीसंघ की प्राकृत पट्टावली विक्रम प्रवन्ध में उल्लिखित।

तद्राज्यं तु श्री वीरात् सप्ततिवर्षशतचतुष्टये संजातम्।

तपागच्छपट्टावली, षट्खण्डागम १।१।१, पृ० ३३ की भूमिका में उल्लिखित।

इतः श्री विक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः।
अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥ प्रभावकचरित

वरिसाण समच्चउक्के सत्तरिजुतो जिणेंद वीरस्स।
गिव्वाण उववण्णा विक्कमकालस्स उप्पत्ती॥
विक्कमणिव कालाओ छाहत्तर दसस एषु वरिसाणम्।
माहम्मि सुद्ध पक्खे दशमी दिवसम्मि संतम्मि॥

कवि वीर के जम्बूचरित की पुष्पिका (१०१९ ई०स०)

1. इण्डियन एण्टीक्वेरी भाग ४३ पृ० ११८-९ लेखक ने अपने पूर्व विचारकों के लेखों (राइस इ० ए० जि० ३ पृ० १७५), इ थामस (जि० ८, पृ० ३०), एवं पाठक (जिल्द १२ पृ० २१) का उल्लेख करते हुए याकोबी के लेख लिखने के उपरान्त सबको निरस्त कर दिया है।

द्र० जै० सा० पू० पी०, पृ० २८५-२९०।

प्राचीन गाथाओं में वर्णित राजाओं में कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। साथ ही महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् होने वाले विक्रम नामक राजा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अतः उन गाथाओं में वर्णित राजाओं का राज्यकाल एवं कालगणना सब निर्मूल है।

(२) बौद्ध साहित्य से यह स्पष्ट है कि महावीर और बुद्ध दोनों समकालीन थे तथा बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण ई० सन् से ४७७ वर्ष पूर्व हुआ था। जनरल कनिंघम और मैक्समूलर ने भी इस समय को माना है। बुद्ध की अवस्था मृत्यु के समय ८० वर्ष की थी। यदि जैन ग्रन्थों के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में हुआ तो उस समय बुद्ध की आयु केवल ३० वर्ष होनी चाहिए, परन्तु यह सर्वमान्य धारणा है कि ३६ वर्ष की आयु के पहले बुद्ध को बोधि लाभ नहीं प्राप्त हुआ तब उस स्थिति में उनके अनुयायी कहाँ से हो सकते हैं। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि जैनों की मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण हुआ तो बुद्ध के साथ उनकी समकालीनता नहीं बन सकती।

(३) यह भी विचारणीय है कि महावीर और बुद्ध दोनों श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु के काल में वर्तमान थे, जो बुद्ध के निर्वाण से आठ वर्ष पूर्व राजगद्दी पर बैठा था और ३२ वर्ष तक शासन किया। यह घटना जैन-परम्परा में स्वीकृत महावीर की निर्वाण तिथि से मेल नहीं खाती। दोनों के सामञ्जस्य के लिए या तो महावीर के निर्वाण की तिथि को और इधर लाना पड़ेगा या महात्मा बुद्ध के निर्वाण की तिथि को और पीछे ले जाना होगा। परन्तु बुद्ध का निर्वाण काल तो ठीक गणना के आधार पर है किन्तु महावीर का निर्वाण काल अनुमान के ऊपर कल्पित है। अतः उसमें ६० वर्ष कम कर देना चाहिए। क्योंकि हेमचन्द्र के अनुसार महानिर्वाण के १५५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य राजा हुआ था। इस प्रकार महावीर के निर्माण की तिथि ४६७ ई० पू० ठहती है[1]।

चारपेण्टियर के उक्त मतों का खण्डन एवं महावीर और बुद्ध के निर्वाण समय का विद्वतापूर्ण विवेचन श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने

---

१. इ० ए०, जि० ४३, १९१४, पृ० ११८ एवं केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० १५६।

अपने लेख 'शैशुनाक और मौर्य काल गणना' में किया है[1]। किन्तु इनका भी यह मत है कि परम्परागत तिथि में १८ वर्ष की भूल है अतः वास्तविक तिथि के लिए उसमें १८ वर्ष की वृद्धि कर देनी चाहिए और इस प्रार ५२७+१८=५४५ ई० पू० महानिर्वाण की तिथि पहुँच जाती है। श्री जायसवाल के मुख्य तर्क इस प्रकार हैं—

अङ्गुत्तर निकाय में वर्णित यह घटना कि 'जब महावीर का निर्वाण पावा में हुआ तो बुद्ध जीवित थे' पूर्णरूप से मानने योग्य है। पूर्ण ऊहापोह से यह बात पस्ष्ट है कि चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से २१९ वर्ष पू० महावीर का निर्वाण हुआ। इसप्रकार चन्द्रगुप्त महानिर्वाण से २१९ वर्ष पश्चात् एवं बुद्ध निर्वाण से २१८ वर्ष पश्चात् राजगद्दी पर बैठा। जैन काल-गणना के अनुसार चन्द्रगुप्त ई० पू० ३२६ या ३२५में गद्दी पर बैठा इसमें चन्द्रगुप्त के राज्यरोहण के पहले २१८ वर्ष जोड़ने से ३२६+२१८=५४४ ई० पू० का समय आता है, जो बुद्ध के निर्वाण का समय है और यही सिलोन, बर्मा और स्याम की दन्तकथाओं में भी प्रचलित है। डा० हार्नले, सस्वतीगच्छ की पट्टावली की १८ वीं गाथा के आधार पर विक्रम संवत् के आरम्भ का काल वीर निर्वाण के ४७० पश्चात् में १६ वर्ष बढ़ाते हैं, जिसमें उल्लिखित है कि विक्रम १६ वर्ष की उम्र तक गद्दी पर नहीं बैठा, अर्थात् १७ वें वर्ष में उसका राज्याभिषेक हुआ। इसका तात्पर्य यह हुआ कि महावीर निर्वाण के ४८७ वर्ष पश्चात् वह गद्दी पर बैठा। परिणामतः जैनों ने विक्रम संवत् के प्रथम वर्ष के अन्त में और महावीर निर्वाण के पश्चात् ४० वर्ष पूरा होने बीच १८ वर्ष का अन्तर छोड़ दिया।

जैन ग्रन्थों में प्रद्योत के समय से लेकर शक राजा और विक्रम संवत् तक की जैन काल-गणना निम्न रूप में उल्लिखित है—पालक ६० वर्ष, नन्द १५५ वर्ष-। मौर्यों का राज्य काल दो वर्ष समूहों १०८ और ३० में विभक्त किया गया है। इसमें १०८ वर्ष मौर्य वंश के हैं और ३० वर्ष पुष्यमित्र के हैं। इसके बाद ६० वर्ष बलमित्र और भानुमित्र के हैं तत् पश्चात् ४० वर्ष नहयाण तथा १३ वर्ष गर्दभिल के हैं। ४ वर्ष शक राजा का है। इन सब का योग ४७० वर्ष होता है[2]। यहाँ गाथाओं की गणना

---

१. ज० वि० उ० रि० सो० (सन् १९१५, सितम्बर)।

२. जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकारो महावीरो।
तं रयणि अवनृवई अहिसित्तो पालगो राया॥

समाप्त हो जाती है। विक्रम संवत् और इस गणना का परस्पर सम्बन्ध मिलाने से ऊपर लिखे अनुसार १८ वर्ष का अन्तर आता है।

हेमचन्द्राचार्य के द्वारा वर्णित जिस काल गणना को आधार मानकर जाकोवी तथा चारपेण्टियर ने वीर संवत् में ६० वर्ष घटाने का सुझाव दिया था उसे एक भूल वताते हुए जायसवाल ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने अपनी काल गणना में पालक के जो ६० वर्ष छोड़ दिए हैं यह उनकी एक मोटी भूल है, क्योंकि यदि हम उन प्रारम्भिक वर्षों को छोड़ देते तो चन्द्रगुप्त, स्थूल भद्र, सुबाहु, और भद्रवाहु की समकालीनता में विरोध आता है औ प्रो० जाकोवी ने हेमचन्द्र की इस भूल को अपनी गणना का आधार बनाया है और ऐसा करने में पालीलेखों में आये हुए अशोक के भूल भरे समय का और उसके ऊपर बांधी गई निर्वाण की काल गणना का उसके ऊपर वहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है।

पाली लेखों में दिए समय के आधार पर बांधी गई गणना से उन लेखों में लिखी हुई अशोक के अभिषेक की तारीख तथा पूर्व परम्परा से चली आती हुई तारीख के मध्य ६० वर्ष का अन्तर है। हेमचन्द्राचार्य की भूल से जैन काल गणना में भी ६० वर्ष छूट जाने से इन दोनों गणनाओं की एकता ने उक्त विद्वानों के मत को वल दिया। परन्तु प्रद्योत का पुत्र पालक, जो अजात शत्रु का समकालीन था, महावीर निर्वाण के दिन गद्दी पर बैठा यह मानना स्वाभाविक और सप्रमाण है। हेमचन्द्राचार्य के कथनानुसार महावीर के निर्वाण के पश्चात् तुरन्त ही नन्दवंश का राज्य शुरू हुआ यह मान्यता एक दम भूलभरी और अप्रमाणिक है।

इस प्रकार प्रचलित वीर निर्वाण संवत् में डा० याकोबी और चारपेण्टियर के द्वारा बताई गई ६० वर्ष की भूल को भ्रमपूर्ण बताते हुए स्व० जायसवाल ने १८ वर्ष वढ़ाने की जो सम्मति दी थी उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सट्ठी पालगरण्णो पणवण्ण सयं तु होइ नन्दाणम्।
अट्ठसयं मुरियाणं तीस चिय पुस्समित्तस्स॥
बलमित भाणुमिता सट्ठी वरिसाणि चत्त नहवहने।
तह गछमिल्लरज्जं तेरस वरिसा सगस्स चउ॥

विचारश्रेणी, १-३ द्र० जै० सा० इ० पू० पी०, पृ० २९२।

महावीर निर्वाण से गर्दभिल्ल तक ४७० वर्ष का अन्तर जैन गाथाओं में कहा है, जिसे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानते हैं। किन्तु सरस्वती गच्छ की पट्टावली में विक्रम संवत् और विक्रम जन्म में १८ वर्ष का अन्तर माना है यथा—वीरात् ४९२ विक्रम जन्मान्तर वर्ष २२ राज्यान्त वर्ष ४। विक्रम विषयक गाथा में भी यही बात कही गई है कि वह १७ वें या १८ वें वर्ष में सिंहासन पर बैठा। इसका अर्थ यह हुआ कि ४७० वर्ष वीर निर्वाण से जो माना जाता है वह विक्रम जन्म तक है (४९२–२२ = ४७०) अतः विक्रम जन्म में १८ वर्ष जोड़ने से निर्वाण का वर्ष विक्रम संवत से ४८८ वर्ष पूर्व निकलता है। यह अन्तर गर्दभिल और विक्रम संवत् के बीच गणना कर जोड़ देने से उत्पन्न हुआ ज्ञात होता है। स्वर्गीय जायसवाल के उक्त मत का खण्डन जुगुल किशोर जी मुख्तार साहब ने (अनेकान्त, वर्ष १, कि० १ में) विस्तार से किया है। मुख्तार साहब ने अनेक ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित कर यह प्रमाणित किया है कि वर्तमान विक्रम संवत् विक्रम की मृत्यु का संवत् है, जो वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पश्चात् आरम्भ होता है। अतः वीर निर्वाण से ४७० वर्ष पूर्व विक्रम के राजा होने की बात बताकर उसके आधार पर वीर निर्वाण के प्रति जो आपत्ति की जाती है वह ठीक नहीं है।

नन्दिसंघ की एक पट्टावली में तथा विक्रम प्रबन्ध में भी जो यह लिखा है कि जिन काल से विक्रम का जन्म ४७० वर्ष के अन्तर को लिए[1] हुए है एवं दूसरी पट्टावली में जो आचार्यों के समय की गणना विक्रम के राज्यारोहण काल से उक्त जन्म में १८ वर्ष वृद्धि करके दी गई है, वह उक्त शक काल और उसके आधार पर बने हुए विक्रम शक को ठीक न समझने का परिणाम है। ऐसी परिस्थिति में पट्टावलियों को लेकर प्रचलित वीर निर्वाण संवत् पर जो आपत्ति की जाती है कि उसमें १८ वर्ष की वृद्धि कर देनी चाहिए वह समीचीन नहीं है और न मानने योग्य है।

साथ ही श्वेताम्बर मातावलम्बियों ने जो वीर निर्वाण वर्ष के ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्याभिषेक माना है[2], जिसकी वजह से प्रचलित

---

१. "सत्तरि चदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो। वही।

२. विक्कमरज्जारंभा प (पु) रओ सिररिवीर निव्वुई भणिया।
सुन्नं मुणिवेय जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकाले॥ वही।

वीर निर्वाण संवत् में १८ वर्ष बढ़ाने की भी जरूरत नहीं है उसे क्यों न मान लिया जाय, इसका कोई समाधान नहीं होता।

वीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद जिस विक्रम राजा का होना बताया जाता है, उसका इतिहास में कहीं कोई भी अस्तित्व नहीं है, जार्ल चारपेण्टियर की यह आपत्ति बराबर बनी रहती है, परन्तु विक्रम संवत को विक्रम की मृत्यु का संवत् मान लेने पर यह आपत्ति समाप्त हो जाती है, क्योंकि चारपेण्टियर ने वीर निर्वाण से ४१० वर्ष बाद विक्रम राजा का राज्यारम्भ होना सिद्ध माना है, जिसका राज्यकाल ६० वर्ष तक रहा। विक्रम संवत् को उसकी मृत्यु से चला मान लेने पर यही समय उसके राज्यारम्भ का आता है। ज्ञात होता है चारपेण्टियर के सामने उक्त कल्पना उपस्थित ही नहीं हो सकी इसलिए उन्होंने वीर निर्वाण से ४१० वर्ष बाद ही विक्रम संवत् का प्रचलित होना मान लिया एवं इस भ्रामक धारणा से प्रचलित वीर निर्वाण संवत् पर आपत्ति कर डाली कि उसमें ६० वर्ष बढ़े हुए हैं, जिसे कम कर देना चाहिए।

इस प्रकार मुख्तार साहेब ने एक ओर स्व० जायसवाल के १८ वर्ष बढ़ाने के सुझाव को और दूसरी ओर जार्ल चारपेण्टियर के ६० वर्ष घटाने के सुझाव को सदोष बताकर प्रचलित वीर निर्वाण संवत् को ही ठीक ठहराया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मेरुतुङ्ग की विचार श्रेणी में जो गणना दी है, उसके अनुसार ६० वर्ष पालक + १५५ वर्ष नन्द + १०८ वर्ष मौर्य + ३० वर्ष पुष्यमित्र + ६० वर्ष बलमित्र–भानुमित्र + ४० वर्ष नयवाहन + १३ वर्ष गर्दभिल एवं + ४ वर्ष शकों का राज्य काल बताया गया है, जिसका योग ४७० वर्ष होता है, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मान्य है। किन्तु हेमचन्द्र के परशिष्ट पर्वन् से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी के राजा पालक जिसका समय ६० वर्ष बताया गया है जिस समय वहाँ शासन कर रहा था उसी समय मगध के सिंहासन पर श्रेणिक का पुत्र कुणिक और कुणिक के पुत्र उदायी का राज्य रहा। उदायी के निःसंतान मर जाने पर उसका राज्य नन्दों को मिला, इसलिए परशिष्ट पर्वन् में महावीर के ६० वर्ष बाद नन्दों का होना लिखा है[1]। इसके पश्चात् वीर निर्वाण के १५५ वर्ष बाद

---

१. अनन्तरं वर्धमान स्वामिनिर्वाण वत्सरात्।
गतायां षष्ठिवत्सर्यमिष नन्दोऽभवन्नृपः ॥ विचारश्रेणी ६।२४३।

चन्द्रगुप्त राजा हुआ[1]। जिसके आधार पर चारपेण्टियर और याकोबी ने अपना मत स्थापित किया है। विचारश्रेणी के अनुसार वीर निर्वाण के (६०+१५५)=२१५ वर्ष वाद चन्द्रगुप्त के होने का उल्लेख है अतः १० वर्ष का अन्तर पड़ता है। हेमचन्द्र ने ६० वर्ष की यह कमी नन्दों के राज्यकाल में की है और उनका राज्य काल ९५ वर्ष वतलाया है, क्योंकि नन्दों के पहले ६० वर्ष का समय कुणिक आदि राजाओं का माना है। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले निर्वाण के १५५ वर्ष वाद नन्दों का होना माना जाता था, जिसमें उदायी आदि भी सम्मिलित थे, पर बाद में यह काल केवल नन्दों के लिए रूढ़ हो गया और इधर पालक के राज्याभिषेक की घटना जुड़ने से ६० वर्ष की वृद्धि हुई, जिससे ४७० वर्ष बाद विक्रम का राज्याभिषेक माने जाना लगा। हेमचन्द्र ने इस भूल का सुधार दो श्लोकों से कर दिया है। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण १५५ में आगे के २५५ (१०८+३०+६०+१३+४) वर्ष जोड़ने से ४१० वर्ष होते हैं। यही विक्रम के राज्यारोहण का काल है, इसमें उसके राज्य काल के ६० वर्ष जोड़ देने से विक्रम संवत् उसकी मृत्यु का संवत् हो जाता है और फिर सारा झगड़ा समाप्त हो जाता है[2]। इस प्रकार प्रचलित वीर निर्वाण संवत् ही ठीक प्रमाणित होता है। मैसूर के पण्डित ए० शान्तिराज शास्त्री ने[3] त्रिलोकसार की गाथा ८५० के आधार पर वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष पांच मास वाद हुए शक राजा को विक्रम वताया था क्योंकि पुरातन विद्वानों ने ऐसा ही ग्रहण किया है और अपने प्रमाण में उन्होंने त्रिलोकसार की साधव चन्द्र कृत संस्कृत टीका उपस्थित किया था, जिसमें शक राज को विक्रमाङ्क शकराज लिखा है अतः विक्रम से ६०५ वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मानने की राय शास्त्री जी ने दिया था, किन्तु यह टीकाकार की अशुद्धि है जिसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्य किसी ग्रन्थकार ने उक्त शक को

---

१. एवं श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः॥ वही, ८।३३९।

२. अनेकान्त वर्ष १, किरण १, पृ० २१-२२ विशेष द्रष्टव्य—जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० २९३-२९६।

३. हिन्दी जैन गजट दीपावली अंक, १९४१ जिसमें मूल संस्कृत लेख है और जिसका हिन्दी अनुवाद अनेकान्त वर्ष ४, पृ० ५५९ में निकला है।

विक्रम काल नहीं माना है और त्रिलोकसार के पूर्ववर्ती धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने स्पष्ट लिखा है—६८३ वर्ष में से ७७ वर्ष ७ मास कम कर देने पर पांच मास अधिक ६०५ वर्ष होते हैं, जो वीर जिनेन्द्र से शक के बीच का काल है[1]।

तिलोयपणति और हरिवंश पुराण में भी शकराज का अन्तर काल ६०५ वर्ष ५ मास बताते हुए शक को विक्रमार्क नहीं कहा है। अतः यहाँ पर शक शब्द से विक्रमार्क नहीं लिया जासकता। स्व० के० वी० पाठक ने भी अपने वीर निर्वाण संवत् संबन्धी लेख में त्रिलोकसार की टीका में उल्लिखित मूल की चर्चा की है, क्योंकि इसमें ऐसा कोई भी संकेत नहीं है और टीकाकारों की एक दो भूल के उदाहरण भी दिए हैं, जैसे माघनन्दी श्रावकाचार की प्रशस्ती[2] आदि। अतः ऐसी भूलों के आधार पर ऐतिहासिक निर्णय नहीं किए जासकते हैं।

महावीर स्वामी के काल के ऊपर तत्कालीन ऐतिहासिक व्यक्तियों के समकालीनता के ऊपर विचार-विमर्श करके एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जैन और बौद्ध उल्लेखों के अनुसार महात्मा बुद्ध, आजीवक संप्रदाय के संस्थापक मक्खलि गोशाल, वैशाली नरेश चेटक, मगध के राजा श्रेणिक या बिम्बिसार, श्रेणिकपुत्र अभय और कुणिक या अजातशत्रु ये प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति भगवान् महावीर

---

१. सव्वकाल समासो तेयासीदि अहिय छस्सदमेत्तो (६८३), पुणे एत्थसत्तमासाहिय सत्तहत्तरिवासेसु (७७-७) अवणीदेसु पञ्चमासा हिय पञ्चुत्तर-छस्सद वाषाणि (६०५) हवन्ति। एसो वीरजिणिन्दणिव्वाणगददिवसादो जान सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो कुदो ? एदम्भिकाले सगणरिन्द-कालस्स पक्खित्ते वड्ढमाण जिण णिबुद्धकालागमणा दो। वुत्तं च—

पञ्च य मासा पञ्च य वासाछच्चैव होन्ति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥ षट् खं० पु० ९ पृ० १३२।
पञ्च य मासा पञ्च य वासा छच्चैव होन्ति वाससया।
परिणिव्दु अस्स रिहतो तो उपपन्नो सगो राया।

पट्टावली समुच्चय, पृ० ५३७।

२. इ० ए० जि० १२, जै० सा० इ० पूर्वपीठिका, पृ० २९७।

के समकालिन थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध महात्मा बुद्ध थे[1] जिनकी तिथि के आधार पर ही बिम्बिसार, अजातशुत्रु आदि के व्यक्तिगत काल पर विचार किया जासकता है। जैन ग्रन्थों में महावीर के समकालीन व्यक्ति के रूप में बुद्ध का संकेत तक भी नहीं मिलता। किन्तु बौद्ध त्रिपिटकों में निगंठ नाट पुत्र या निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का निर्देश तथा उनका एक प्रवल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में विवरण वहुतायत से मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि दोनों व्यक्ति समकालीन थे। इसी तरह मगध के राजा बिम्बिसार (श्रेणिक) और उसका पुत्र अजात शत्रु (कुणिक) भी बुद्ध के समकालीन थे, बुद्ध के जीवन काल में ही श्रेणिक की मृत्यु हुई और अजात शत्रु के राज्य के आठवें वर्ष में बुद्ध का निर्वाण हुआ। यद्यपि बुद्ध के निर्वाण की तिथी स्वयं विवादास्पद है पर आधुनिक विद्वान् कण्टोनी परंपरा के आधार पर इसे ४८३ ई० पू० मानते हैं[3]। किन्तु आज प्रचलित मान्यता के अनुसार सन् १९५६ की वैशाखी पूर्णिमा को विश्व भर में महात्मा बुद्ध की २५०० वीं निर्वाण जयन्ती मनाई गई थी। तद-नुसार २५००-१९५६-५४४ ई० पू० में बुद्ध का निर्वाण हुआ। सिंहल, वर्मा, श्याम आदि देशों में बुद्ध निर्वाण का यही काल उचित माना जाता है। स्व० काशी प्रशाद जायसवाल ने बौद्ध अनुश्रुतियों का सामंजस्य स्थापित करते हुए ५४४ ई० पू० में बुद्ध के निर्वाण की स्थापना की थी। उसी प्रकार से जैन परंपरा में महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में माना जाता है। इन दोनों परम्पराओं के आधार पर दोनों महात्माओं के जीवन संबन्धित विभिन्न घटनाओं पर विशद रूप से प्रकाश जैन लेखक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने डाला है, एवं लिखा है कि 'अतः जैनों में परंपरा से प्रचलित वीर निर्वाण काल (ई० पू० ५२७) को और बौद्धों में परंपरा से प्रचलित बुद्ध निर्वाण काल को ही ठीक मान कर चलने से बुद्ध, महावीर, गोशालक, श्रेणिक अभय कुमार और अजातशत्रु आदि

---

१. बौद्ध त्रिपिटकों तथा अन्य बौद्ध-साहित्य के विवरणों से प्रकट होता है कि बुद्ध का यह प्रतिद्वन्दी बड़ा प्रभावशाली एवं खतरनाक था तथा बुद्ध के समय में ही उसका धर्म काफी फैल चुका था।

वेबर, इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनाज, पृ० ३६।

२. बुद्धचर्या—पृ० ४१३।

३. द्रष्टव्य—इस शोध प्रवन्ध में उल्लिखित—"बुद्ध परिनिर्वाण संवत्"

की समकालीनता तथा जैन और बौद्ध ग्रन्थो में वर्णित घटनाओं की संगति ठीक बैठ जाती है'[१]। किन्तु अनेक संगतियों के साथ एक जो सब से बड़ी विसंगति सामने आती है वह बौद्ध पालि साहित्य में बुद्ध के जीवन काल में महावीर का पावा में निर्वाण होने का उल्लेख है[२]। मज्झिम निकाय के उपालिसुत (पृ० २२२) में उपालि का बुद्ध से शास्त्रार्थ करने जाना एवं उसका बुद्ध का शिष्य होकर लौटना उल्लिखित है। इस घटना से दुःखी होकर महावीर के मुख से गरम लोहू निकल गया। बौद्ध साहित्य के इस घटना को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उपालिवाली घटना के कुछ समय बाद पावा में महावीर की मृत्यु हो गई।[३] किन्तु जिस पावा का बुद्ध साहित्य में उल्लेख है वह शाक्य भूमि में थी, किन्तु महावीर का निर्वाण पटना जिले में स्थित पावा में हुआ। अतः इस विरुद्ध उल्लेख के कारण जाकोबी आदि विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया है[४]। बुद्ध निर्वाण से ५०० वर्ष पश्चात् ई० स० की प्रथम शताब्दी में तत्कालीन बौद्ध भिक्षुओं की स्मृति के आधार पर संकलित त्रिपिटकों के उल्लेख के आधार पर प्रचलित निर्वाण संवत् को गलत प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

प्रो० हेमचन्द्र राय चौधुरी ने महावीर के निर्वाण के लिए तीन संभावित तिथियों ई० पू० ४७८, ४८६ और ५३६ का उल्लेख किया है। इनका मुख्य आधार कैण्टोनी और श्रीलंका (सिलोन) में प्रचलित बुद्ध निर्वाण की मान्य तिथियाँ हैं, जिनके अनुसार बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८६ और ५४४ ई० पू० में हुआ था। ४७८ ई० पू० की तिथि का आधार हेमचन्द्र का वह उल्लेख है, जिसके अनुसार १५५ वर्ष महावीर-निर्वाण के पश्चात् चन्द्रगुप्त होना लिखा है। चन्द्रगुप्त का काल ३२३ ई० पू० ग्रीक साक्ष्यों से निश्चित है। अतः ३२३+१५५=४७८ ई० पू० का समीकरण ठीक बैठता

---

१. जै० सा० इ०, पू० पी०, पृ० ३०२-३०९, ३११।

२. मज्झिमनिकाय सामगामसुत्त, पृ० ४४१।

३. जार्ल चार्पेण्टियर का महावीर-निर्वाण सम्बन्धी लेख (इ० ए०, जि० ४३) स्पेन्स हार्डी ने "मैनुअल आफ बुद्धिमिम" तथा वीगण्डेटने (से० बु० ई०, जि० १३, पृ० २५९) राहुल जी के म० नि० के अनुवाद की टिप्पणी (४४१ पृ० टि० २)।

४. से० बु० ई०, जि० ४५, पृ० १६।

है। किन्तु इसका अन्तर उस समय सूचित होता है जब बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध को ज्ञातक विरोध के समय उपस्थित माना है। इसलिए प्रो० राय चौधुरी ने ४८६ ई० पू० वाली तिथि को उचित माना है, क्योंकि तब उसका समीकरण अजातशत्रु के राज्यारोहण से भी हो जाता है[१]।

प्रो० सी० डी० चटरजी ने भी ४८६ ई० पू० वाली तिथि को ही उचित माना है, क्योंकि वे बुद्ध-निर्वाण की वास्तविक तिथि ४८३ ई० पू० मानते हैं एवं इस बौद्ध अनुश्रुति को कि महावीर का निर्वाण बुद्ध से पहले हुआ पूर्ण सत्य मानते हैं[२]।

दिगम्बरीय एवं श्वेताम्बरीय उल्लिखित तिथियों के तुलनात्मक आधार पर प्रो० एच० सी० सेठ ने महावीर का निर्वाण ४८८ ई० पू० माना है। इनका विश्वास है कि बुद्ध का परिनिर्वाण ई० पू० ४८७ में हुआ था। अपने उक्त अध्ययन के आधार पर उन्होंने विक्रम और महावीर के मध्य ४७० वर्ष के काल में ४० वर्ष का व्यतिक्रम पाया है, जिसे कम कर देने पर (४७०=५२८ ई०पू०) ५२८ ई० पू० – ४०=४८८ ई०पू० आता है[३]।

डा० रमा शंकर त्रिपाठी ने ५२७ ई० पू० महानिर्वाण की तिथि को प्रतिवाद युक्त माना है[४]। श्री वाल्थर शूब्रिग ने महावीर के निर्वाण की तिथि आधुनिक शोधों के आधार पर ई० पू० ४७७ माना है[५]।

इस प्रकार हम महावीर की निर्वाण-तिथि के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा मान्य तिथियों को निम्न क्रम से रख सकते हैं—

१.	श्री मानकड[६]	....	२०५१ ई० पू०
१.	भगवद्दत्त[७]	....	१७३५ ,,

---

१. एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ७३।

२. बी० सी० लाहा वाल्यूम, भाग १, पृ० ६०६-६७ टिप्पणी ३०।

३. जैन एण्टीक्वेरी—जि० ११, भाग १, पृ० ६।

४. हिस्ट्री आफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० ९९ -

५. दी रिलिजन आफ जैन्स, पृ० ५ (जर्मन से अनूदित, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९६६)।

६. पुराणिक क्रोनालाजी, पृ० १९४।

७. भारत का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २८८।

३.	शान्तिराजशास्त्री[1]	....	५२७ ई० पू०
४.	काशी प्रसाद जायसवाल[2]	....	५४५ ,,
५.	राधा कुमुदमुकर्जी[3]	....	५४६ ,,
६	जे० के० मुखतार[4] एवं हीरालाल जैन[5] स्टेवेन्सन[6] पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री[7]	....	५२७ ,,
७.	मुनिकल्याण विजय[8]	....	५२८ ,,
८.	एच० सी० सेठ[9]	....	४८८ ,,
९.	सी० डी० चटर्जी[10]	....	४८६ ,,
१०.	हेमचन्द्र राय चौधुरी[11]	....	५३६, ४८६, ४७८ ,,
११.	राल्थूर शूब्रिग[12]	....	४७७ ,,
१२.	शारपेण्टियर[13] एवं नीलकण्ठ शास्त्री[14]	....	४६७ ,,

---

१. हिन्दी जैन गजट—दीवाली अंक १९४१, संस्कृत लेख, जिसका हिन्दी अनुवाद अनेकान्त ४।१०, पृ० ५५९ में प्रकाशित है।

२. जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१५ सितम्बर।

३. हिन्दू सभ्यता, पृ० २३६।

४. महावीर और उनका समय, दिल्ली १९३६।

५. षट्खण्डागम (धवल) जि० १ भाग १।१ की भूमिका, डेट आफ महावीर निर्वाण—नागपुर युनिवर्सिटी पत्रिका, १९४०, पृ० ५२-५३, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २५।

६. दी हार्ट आफ जैनिजम्, पृ० ४२-४३।

७. जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ३११।

८. वीर निर्वाण संवत् एवं जैन कालगणना—नागरी प्रचारिणी पत्रिका—भाग १० वि० सं० १९८६, पृ० ५८५-७४५।

९. जैन एण्टीक्वेरी, जि० ११, भाग १, पृ० ३।

१०. बी० सी० ला वाल्यूम, भाग १, पृ० ६०६-६०७ टि० ३०।

११. एन एडवांस्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ७३।

१२. दी रिलिजन आफ जैन्स, पृ० ५।

१३. इण्डियन एण्टीक्वेरी—जि० ४३, १९१४, पृ० ११८।

१४. हिस्ट्री आफ इण्डिया (मद्रास) भाग १, पृ० ३९-४०।

१३. एस० बी० वेंकटेश्वर[1] .... ४३७ „

१४. गोविन्द पाइ[2] .... ५०१-५४६ के बीच ५२७ ई० पू० को अधिक विश्वसनीय माना है।

उक्त समस्त तिथियों में परम्परा से चली आरही ई० पू० ५२७ वाली तिथि ही अधिकांश विद्वानों[3] को मान्य है, क्योंकि उसकी पुष्टि प्रारम्भिक श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों परम्पराओं से होती है और उसी का जैनों के सामान्य समुदाय में प्रयोग होता आरहा है अतः उसको ही सत्य के अधिक निकट समझना चाहिए। अन्य सव तिथियाँ एक विशेष मत या व्यक्ति की उपज हैं और व्यवहार में प्रयुक्त न होने के कारण हल्की पड़ जाती हैं। हेमचन्द्र के उल्लेख के आधार पर याकोवी, चारपेण्टियर आदि के मत भी सर्वथा निर्दोष नहीं माने जा सकते, क्योंकि हेमचन्द्र के समय परम्परा की एकरूपता सिद्ध नहीं होती। अतः वे सव तत्त्व सन्देहास्पद हो जाते हैं। वौद्ध और जैन अनुश्रुतियों में परस्पर विरोध एवं अनेक मतों के प्रचार इस वात के सूचक हैं कि प्रारम्भ में महवीर और गौतम वुद्ध दोनों की निर्वाण तिथियाँ वाद में स्मरण कर लिखी गई हैं, निर्वाण के वाद तत्काल प्रयोग में वे नहीं थीं। उसमें भी वौद्ध समाज के विपुल विस्तार के

---

१. दी डेट आफ वर्धमान, ज० रा० ए० स०, १९१७, पृ० १२२-१३०।

२. आन दी डेट आफ परिनिर्वाण आफ वुद्ध—प्रवुद्ध कर्नाटक, मैसूर युनिवर्सिटी।

३. (अ) द्र० मुनि कल्याण विजय जी का लेख "वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना" नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, संवत् १९८६, पृ० ५८५-७४५।

(B) "We come now to the closing scene of Mahavira's life. He died in his seventy-second year, some fifty years before his rival and contemporary Buddha (Hornle ASB, p. 42, Buddha's dates are 557-477 B. C.). Modern researches has shown that traditional dates for his birth and death 599 B. C. and 527 B. C. can not be far wrong."

Stevenson, "The Heart of Jainism", pp. 42-43.

कारण एवं विदेशी देशों से संबद्ध होने से उनकी मान्यताओं में अन्तर आना स्वभाविक ही है। अतः बौद्ध अनुश्रुति के ऊपर जैन अनुश्रुति एवं परम्परा को आंका नहीं जासकता है। दोनों की मान्यताओं को स्वतंत्र रूप से देखना चाहिए। इस आधार पर प्रचलित मान्यताओं और प्रायोगिक अक्षुण्णता के कारण ५२७ ई० पू० को महावीर के निर्वाण की तिथि स्वीकार करने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है। साथ ही जैन कालक्रम के सुव्यवस्थित और प्रामाणिकता को पुष्ट करने वाले प्रमाणों की प्रतीक्षा करनी चाहिए। वैसे पाश्चात्य और आधुनिक विद्वानों को ४६७ ई० पू० से ४७७ ई० पू० के बीच की तिथि अधिक मान्य है। साथ ही स्मिथ विचार है कि इस पर यथार्थ निर्णय आदि का नहीं लिया जासकता[1]।

---

१. दी अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, चतुर्थ सं०, पृ० ४८-४९।
दी आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, तृ० सं०, पृ० ७६-७७।

बुद्ध-परिनिर्वाण काल

यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक काल की आरम्भिक सीमा खींचना किसी भी विद्वान के लिए संभव नहीं है फिर भी आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान इसके अन्धकाल के इतिहास के पश्चात् जिस एक सुनिश्चित विन्दु पर टिक पाते हैं वह है बुद्ध का जन्म एवं उनका परिनिर्वाणकाल। महात्मा बुद्ध भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं, जिससे उसके आगे एवं पीछे के भाग जुड़े हुए हैं। अवश्य ही बुद्ध ऐसे महान् व्यक्तित्व वाले महापुरुष के परिनिर्वाण की तिथि भारतीय समाज में या उनके अनुयायियों में अक्षुण्ण रखी गयी होगी। महावंश की परम्परा के अनुसार बुद्ध की परिनिर्वाण-तिथि के दिन ही विजय नामक एक राजकुमार का सिंहल द्वीप में राज्याभिषेक हुआ, जो वंगाल से वहाँ गया था एवं वहाँ ३८ वर्ष तक राज्य किया।[1] अतः इस बात की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस दिन से किसी गणना का प्रारम्भ किया गया होगा जिसका प्रयोग यद्यपि सामान्य जनसमुदाय में कम किन्तु बौद्ध-समाज में अधिक हुआ है। इस अध्याय में हम बुद्ध-परिनिर्वाण काल के विकास का विवरण प्रस्तुत करेगें।

यद्यपि बौद्ध-धर्म के आरम्भिक इतिहास के विषय में निश्चत रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं, क्योंकि ई०पू० तृतीय शतक में अशोक द्वारा इसे राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के पूर्व की घटनाएँ बुद्ध के अनुयायियों द्वारा स्वयं प्रदत सामग्री है, जिसकी पुष्टि किसी अन्य स्रोत द्वारा नहीं हो पाती। तथापि बौद्ध-साहित्य से बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् शीघ्र ही राजगृह एवं उसके एक शतक पश्चात् वैशाली में द्वितीय बौद्धसंगीति के संगठित होने की सूचना प्राप्त होती है। उत्तर बौद्धों की परम्परा में द्वितीय संगीति का काल परिनिर्वाण के ११० वर्ष बाद उल्लिखित है। किन्तु बौद्ध धर्म का वास्तविक राजनैतिक इतिहास अशोक महान् के राज्यकाल में संगठित तृतीय बौद्धसंगीति से प्रारम्भ होता है[2] जहाँ इसके इतिहास

---

१. स्वेल, हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शन्स आफ सदर्न इण्डिया, पृ० ३।
2. "The real political truimph of Buddhism dates from

एवं तिथिक्रम को निश्चत रूप देने का प्रयास किया गया, जिसके पूर्व की ऐतिहासिक घटनाओं एवं तिथिक्रमों का विवरण संदिग्ध प्रतीत होता होता है।[1] लगता है कि अशोक के राजकीय संरक्षण में आने के पश्चात् इसके वास्तविक इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय एक सुनिश्चित गणना एवं तिथिक्रम की आवश्यकता पड़ी होगी, जिसके कारण तत्कालीन बौद्ध-समाज में प्रचलित संस्मरणों के आधार पर बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि स्थिर की गई होगी। आज जो सामग्री और सूचना हमें प्राप्त है उससे बौद्ध धर्म में प्रचलित बुद्ध के परिनिर्वाण तिथि के अनेक रूप प्राप्त होते हैं, जो प्राचीन परंपराओं पर आधारित हैं, किन्तु अशोक के पूर्व के इतिहास के लिए किसी पर भी पूर्ण भरोसा नहीं किया जा सकता। श्री मैक्समूलर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में बौद्ध इतिहास की तीन प्राचीन परंपराओं, (१) दक्षिण बौद्धों की परंपरा जिसका केन्द्र लंका है, (२) उत्तर बौद्धों की परंपरा जो नैपाल-चीन और तिब्बत आदि देशों में प्रचलित है एवं (३) पुराणों की परंपरा जो ब्राह्मणसंस्कृति में सुरक्षित है, का उल्लेख किया है। बौद्ध तिथिक्रम को समझने के लिए तीनों परम्पराओं का संक्षेप में यहाँ विवरण प्रस्तुत किया जाता है :—

दक्षिण बौद्धों की परम्परा

इसका मूल आधार श्रीलंका की बौद्ध-परंपरा है, जो आधुनिक विद्वानों में अधिक मान्य है, इसके अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई० पू० हुआ था। इसको विद्वानों द्वारा मान्यता प्रदान करने का मुख्य कारण यह है कि इस संवत् का प्रयोग लंका के व्यावहारिक जगत् में होता आया है और आज भी वहाँ इसका प्रचलन है। वर्मा, श्याम, इण्डोनेशिया और आसाम आदि देशों में इसी परंपरा का प्रचार है। यद्यपि व्यावहारिक जगत् में इसके प्रचलित होने की बात सत्य है, किन्तु ऐसा

Asoka and his Council about the middle of the third century B. C."

A History of Ancient Sanskrit Lit., Maxmullar, p. 136.

1. "Before the time that Buddhism became a political power it had no history, no chronology, it had hardly had a name." Ibid. p. 137.

अशोक के शासन काल के बाद ही हुआ, इसके पूर्व नहीं। अतः इसके परवर्ती प्रयोग के आधार पर आरम्भ काल की स्थिति का आकलन उचित नहीं एवं जब तक इसके आरम्भ कालिक स्थिति की सच्चाई के पुष्कल प्रमाण अन्य प्रमाणिक स्रोतों से प्राप्त न हो जाँय तब तक इस परंम्परोक्त तिथि की उत्तर बौद्धों की परंपरा प्राप्त तिथि या ब्राह्मण परंपरा की तुलना में बहुत अधिक प्रमाणिक नहीं माना जा सकता [1]।

उत्तर बौद्धों की परंपरा

बुद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में तिब्बत, चीन, जापान, नेपाल आदि देशों में प्रचलित तिथि उत्तर बौद्धों की परंपरा से संबन्धित है, जो सामान्यतः ६३८ ई० पू० में मानी जाती है, यद्यपि इस परंम्परा में बुद्ध के परि-निर्वाण से संबन्धित अनेक प्राचीन मत एवं तिथियाँ प्रचलित हैं फिर भी आधुनिक ऐतिहासिक काल के परिवेश में सत्य के निकट यही दिखाई पड़ती है। उत्तर बौद्धों की परम्परा का मुख्य आधार बुद्ध की बताई गई एक भविष्यवाणी है कि उनके परिनिर्वाण के एक सहस्र वर्ष उपरान्त उनकी शिक्षाएँ उत्तर के देशों में पहुँचेंगी।[2] बौद्धधर्म का चीन में प्रवेश निश्चत रूप से ६१ ई० पू० में हुआ। इस प्रकार चीनी लोग इस तिथि से एक सहस्र वर्ष पूर्व के लगभग परिनिर्वाण की तिथि स्वीकृत करते हैं। इस प्ररंम्परा की प्राप्त सभी तिथिओं का समन्वय या उत्तरी देशों में बौद्धधर्म के प्रचार के काल का निर्णय कर पाना किसी भी विद्वान के लिये दुरूह है। चीनी परम्परा में यह तिथि सामान्यतया ९५० ई० पू० या ९४९ ई० पू० मानी जाती है, किन्तु इसके अलावा भी ११३०,१०४५, ७६७ ई० पू० वाली ये भी तिथियाँ मान्य हैं एवं इन सब की मान्यता के आधार प्राप्त हैं। ११३० ई० पू० की तिथि फाह्यान के आधार पर ज्ञातव्य है, क्योंकि उसकी सूचना के अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण तेच्यू (Tcheu) वंश से प्रारम्भ में हुआ था। चीनी तिथि-परंपरा के अनुसार यह काल ११२२ ई० पू० मान्य है। अन्यत्र वह उत्तर की ओर बौद्ध-धर्म के प्रसार का काल बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद सम्राट् फिंग वांग (Phing-Wang) के राज्यकाल में बताता है। चूंकि इस

---

१. विशेष द्रष्टव्य—हि० सं० लि०, मैक्समूलर, पृ० १३८।
२. (लांसा) इ० एण्टोक्यूटीज़, जि० २, पृ० ५८, हि० सं० लि०, पृ० १३८।

सम्राट् का राज्यकाल ७७०-७२० ई० पू० है। अतः निर्वाण की तिथि १०७० या १०२० ई० पू० के लगभग आती है। ७६७ ई० पू० की तिथि माटोलिन् (Matoulin) के अधार पर है। तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर चौदह विभिन्न तिथियाँ निर्वाण से सम्बन्धित बताई जाती हैं।[1] श्री मानकड ने उक्त चौदह तिथियों के अलावा नौ अन्य तिथियों का भी उल्लेख किया है[2]। इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण से संबन्धित तेईस विभिन्न तिथियों का पता चलता है।

ब्राह्मण संस्कृति की परम्परा

ब्राह्मण संस्कृति या वैदिक संस्कृति में इतिहास सम्बन्धी सूचनाएँ पुराण आदि ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् वा आरण्यक एवं सूत्रग्रन्थों तक बुद्ध की नामतः कोई चर्चा नहीं मिलती। यद्यपि उनकी शिक्षाओं और सम्प्रदाय सम्बन्धी संकेत अवश्य सूचित होते हैं। विशाल ब्राह्मण संस्कृति में इस प्रकार की शिक्षाओं का होना कोई आश्चर्य नहीं। तिथिक्रम सम्बन्धी बौध एवं ब्राह्मण परम्परा में में पर्याप्त मतभेद है, जिसको एक समान स्तर पर लाना कठिन है। वैसे कलि के प्रवृत्त हो जाने पर बुद्ध का आविर्भाव पुराणों में पठित है[3]। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अजातशत्रु के आठवें वर्ष में बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ। तब से लेकर अशोक के राज्यारोहण तक वायु और मत्स्य पुराण के अनुसार अजातशत्रु २५–८=१७ वर्ष, हर्यङ्क २५ वर्ष, उदयास्व ३३ वर्ष, नन्दिवर्धन ४२ वर्ष, महानन्दि ४३ वर्ष, महापद्म +९ नन्द =१०० वर्ष, चन्द्रगुप्त २४ वर्ष एवं विन्दुसार ने २८ वर्ष तक राज्य किया। इन सब

---

१. २४२२, २१४८, २१३९, २१३५, १३१०, १२६०, ८८४, ८८२, ८८०, ८३७, ७५२, ६५३, ५७६, एवं ५४६। कोसमा–तिब्बती व्याकरण, पृ० १९०-२०१ हि० सं० लि० से पृ० १३८ से उद्धृत।

२. ८६०, ८५७, १०६०, ६३९, ५४४, ५४३ एवं २६०—
पुराणिक क्रोनोलाजी, पृ० १७०।

३. ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्ना जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ भा० १।३।२४।
शुद्धोदनस्य भविता शाक्यार्थे राहुलः स्मृतः।
एत ऐक्ष्वाकवाः प्रोक्ता भवितारः कलौ युगे ॥ वायु० ९९।२८९-९०।

का योग ३१२ वर्ष होता है, जो महावंश में उल्लिखित राजाओं (अजातशत्रु ३२ वर्ष, उदायी १६ वर्ष, अनिरुद्ध एवं मुण्ड ३२ वर्ष, नागदासक २४ वर्ष, शिशुनाग १८ वर्ष, कालाशोक २८ वर्ष, कालाशोक के पुत्र २२ वर्ष) के राज्य वर्ष २१८ से लगभग १०० वर्ष अधिक है। इस प्रकार बुद्ध का परिनिर्वाण, अशोक के राज्यारोहण को २६४ ई० पू० मानने पर (२६४+३१२)=५७६ ई० पू० आता है, जिसका प्रचलित परम्परा से मेल नहीं बैठता[1], पर यह तिथि उसके आसन्न अवश्य पहुँच जाती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार यह काल २७४+२१८=४८२ या २६९+२१८=४८७ ई० पू० के लगभग आता है।

बुद्ध परिनिर्वाण सम्बन्धी इन तीनों परम्पराओं में कौन प्रामाणिक है यह पता लगा पाना किसी भी विद्वान् के लिए सम्भव नहीं, क्योंकि कौन सी परम्परा किस अनुश्रुति के ऊपर आधारित है यह कहना कठिन है। जिन देशों में काल गणना की सुनिश्चित परम्परा सहस्राब्दियों पूर्व से प्रतिष्ठित बताई जाती है वहाँ भी विभिन्न प्रकार की मान्यताओं का अस्तित्व ही यह सिद्ध करता है कि गणना की विभिन्न स्थितियाँ समाज में प्रचलित थीं। भारतीय परम्परा में तो घटनाओं से संवद्ध युगों मात्र का संकेत कर दिया गया है, क्योंकि उस समय युगों में घटनाओं के निरूपण की प्रथा थी किन्तु उससे किसी स्थिर विन्दु का पता लगा पाना कठिन है, क्योंकि उसके साथ उसके इतिहास की एक सुदीर्घ परम्परा है, जिसकी प्राचीनता पर साधारण बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती। उत्तम यही है कि तीनों परम्पराओं का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करते हुए तीनों की अक्षुण्णता बनायी रखी जाय जब तक इस विषय पर भविष्य में कोई निश्चित प्रमाण न मिल जाय। यद्यपि विद्वानों में श्रीलंका की परम्परा का विशेष समादर देखा जाता है, जिसके अनुसार बुद्ध का परिनिर्वाण ५४३ ई० पू० माना जाता है। इस परम्परा में १६१ ई० पू० के वाद का एक विश्वसनीय तिथिक्रम सुरक्षित है। चीनी परम्परा का मूल आधार बुद्ध की भविष्यवाणी होने से विद्वानों के लिए पूर्णतया वह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती। पर एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि चीनी इतिहास में उनके राजाओं का राज्य काल सुनिश्चित है। ई० पू०सहस्रों वर्ष पहले बुद्ध के परिनिर्वाण सम्बन्धी सूचना कोई मनगढन्त बात नहीं प्रतीत

---

१. द्रष्टव्य—कॉनिंघम "इण्डियन एराज", पृ० ३५।

होती। मूल बात यह है कि हम उस सत्यांश के तह तक पहुँचने के लिए अपेक्षित साधन और सामर्थ्य दोनों से विहीन हैं। श्रीमानकड ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है, जो सर्वथा ध्यान देने योग्य है। यद्यपि यह सत्य है कि बुद्ध के परिनिर्वाण की एक ही तिथि रही होगी, पर एक ही व्यक्ति के अस्तित्व की बीस से भी अधिक उल्लिखित तिथियाँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि या तो एक तिथि को छोड़ कर अन्य सभी तिथियाँ मिथ्या हैं या उनके पीछे कोई रहस्य है, जिसे हम समझ नहीं पाते। मिथ्या बताना तो आसान है पर उस रहस्य का पता लगाना कठिन। उन्होंने उसे खोजने का प्रयास किया है और सम्भवतः एक को (ई० पू० २४२२) छोड़ कर प्रायः सभी तिथियों की उद्‌भावनाओं का अनुमानित हल निकाल लिया है जो विद्वानों के लिए सर्वमान्य तो नहीं पर विचारणीय अवश्य है। वस्तुतः यह उचित ही प्रतीत होता है कि या तो एक ही व्यक्ति के पूर्व जन्मों के आधार पर विविध रूपों की कल्पना की जाय अथवा गणना की विभिन्न परम्पराएँ स्वीकृत की जाँय, जिनके अनुसार समाज में इतने प्रकार के तथ्य प्रचलित हुए। गणनाप्रणाली की भिन्नता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता फलतः प्रतीत होता है विभिन्न गणनाओं के ऊपर आधारित तिथियों के कारण निर्वाण सम्बन्धी विभिन्न कल्पनाएँ समाज में अस्तित्व में आयीं[1]।

प्रिंसेप ने विल्सन की सूचना पर विभिन्न देशों में प्रचलित तिथियों को उल्लिखित किया है, जो इस प्रकार हैं—

(१) भूटान के लाला पद्मकारयो के अनुसार—	१०५८ ई० पू०
(२) कल्हण पण्डित—	१३३२ ,,
(३) अबुलफजल—	१३६६ ,,
(४) चीनी इतिहास—	१०३६ ,,
(५) डे गुइंस रिसर्च	१०२७ ,,
(६) गोर्गी— (बुद्ध का निर्वाण काल)	९५९ ,,
(७) वेली—	१०३१ ,,
(८) विलियम जोन्स—	१०२७ ,,

१. पुराणिक क्रोनोलाजी, पृ० १७२।

(९) वेण्टली— १०८१ (प्रथम बार), १००४ (द्वितीय बार)

(१०) जोहरिग (मंगोल तिथि क्रम के आधार पर) ९९१ ,,

(११) जापानी विश्वकोष–जन्म १०२७, परिनिर्वाण ९६० ,,

(१२) म्राण्टर्ननोलन (चीनी इतिहासज्ञ, १२वीं श०) ०२७ ई०पू०

(१३) एम० रेमुसेट— (परिनिर्वाण) ८२५ ,,

(१४) लासा में प्रचलित संवत् के अनुसार जो नौ प्रचलित तिथियों के आधार पर निश्चित है, पद्मकारणों द्वारा संग्रहीत– ८३५ ई० पू०

(१४) वर्मा के तिथिक्रम सूची में उल्लिखित तिथि– ५४४ ई० पू०

(१६) १८३४ ई० के श्री लंका के एक पंचांग के अनुसार विजय के प्रादुर्भाव के आधार पर– ५४३ ,,

(१७) श्याम में प्रचलित तिथि– ५४३ ,,
(ओरियण्टल मैगजीन, १८२५ ई०)

(१८) राज गुरु आसाम के अनुसार परिनिर्वाणतिथि अजातशत्रु के १८ वें वर्ष एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के १०६ वर्ष पूर्व है – ५४४ ,,

(१९) सिंहली परंपरा– ६१९ ,,

(२०) पेगु– ६३६ ,,

(२१) चीनी परम्परा (कलप्राथ द्वारा संग्रहीत)[1] ६३८ ,,

सर्वप्रथम इस संवत् के विषय में फह्यान के विवरण से हमें सूचना मिलती है कि जब उसने अपना ग्रन्थ लिखा तब १४९७ वर्ष बुद्ध परिनिर्वाण के व्यतीत हो चुके थे। फह्यान भारत में ४०५–४११ ई० तक था। अतः उसकी सूचना के अनुसार परिनिर्वाण का काल १४९७–४११=१०८६ ई० पू० के आसपास होगा[2]। कुछ विद्वान् फाह्यान का आगमन ३९९ ई० में मानते हैं अतः उनके अनुनार यह काल १४९७ – ३९९=१०९७ ई० पू० के तुल्य आता है।[3]

---

१. इण्डियन एण्टीक्यूटीज़, जेम्स प्रिंसेप, भाग २, १९७१, पृ० १६४-५।

२. पुराणिक क्रोनोलाजी, पृ० १७१।

३. वेल, सि-यू-की, जिल्द १ भूमिका, पृ० ७५।

बुद्ध के परिनिर्वाण की यह तिथि ह्वेनसांग के समय तक आती-जाती विविध रूपों में परिवर्तित हो चुकी थी, और समाज में कई मान्यताएँ प्रचलित थीं, उनमें से एक के अनुसार यह काल १२००, १३००, १५०० और दूसरी के अनुसार ९०० और १००० ई० पू० के बीच तक बीत चुका था[१]। इस प्रकार इस काल का आरम्भ (१५००–६४०) =८६०, ६६०, ५६०, ३६० और २६० ई० पू० आता है किन्तु ये सभी आस पास की तिथियाँ हैं, इनका पूर्ण सुनिश्चित होना सिद्ध नहीं।

आधुनिक विद्वानों ने बुद्ध निर्वाण की विभिन्न तिथियों (सभी ई०पू०) का निर्देश इस प्रकार किया है–

इ० जे० थामस एवं एक जापानी विद्वान्[२] –	ई०पू० ६८६
राय डेविड्व[३] –	,, ४१२
मैक्समूलर[४] एवं जार्ल शारपेण्टियर,[५] –	,, ४७७
कनिंघम[६] एवं स्वामीकन्नू पिल्लै[७] –	,, ४७८
ओल्डेनवर्ग[८]—	,, ४८०
फर्ग्यूशन[९]—	,, ४८१
डा० बूलर[१०] एवं रावर्ट स्वेल[११]—	,, ४७१-४८३ के बीच

---

१. वाटर्स, जि० २, पृ० २८।
२. बी० सी० कमेमोरेशन, जि० दो, पृ० १८-२२।
३. बुद्धिज्म, पृ० २१२-१३।
४. इण्ट्रोडक्शन टू धम्मपद, सेक्रेड बुक आफ इस्ट, जि० १०, पृ० १२।
५. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० ४३, १९१४ पृ० १२६-१३३।
६. का० इ० इ०, जि० १, भूमिका पृ० २।
७. ऐन इण्डियन एफिमरीज, भाग १, १९२२, पृ० ४१।
८. इण्ट्रोडक्शन टू विनयपिटक, सेक्रेड बुक आफ इस्ट, जि० १३, पृ० २२। रिलिजन्स आफ इण्डिया, इ० डब्लू हार्पकिंस, पृ २१०।
९. ज० रा० ए० एस०, जि० ४, पृ० ८१।
१०. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० ६, पृ० १४९।
११. हिस्टारिकल इन्सक्रीप्शन्स आफ सदर्न इण्डिया, पृ० ३।

ह्वीलर, गाइगर,[1] डा० फ्लीट[2] एवं		
राहुल सांकृत्यायम[3]	—	ई० पू० ४८३
तुकाराम कृष्ण लाडु[4],		
डा० रायचौधुरी[5] एवं डा० स्मिथ[6],		
स्मिथ परिवर्ती विचार		,, ४८७
प्रो० केर्न[7]—		,, ४८८
धर्मानन्द कौसाम्वी[8] एवं पण्डित		
भगवानलाल इन्द्राजी		,, ५४३
डा० अ० ल० वासम[9]	—	,, ४८६
डा० रमाशंकर त्रिपाठी[10]	—	,, ४८३

संयुक्त निकाय में उल्लिखित ग्रहण के आधार पर प्रो० सेनगुप्त ने लिखा है कि यदि उक्त घटना पर विश्वास किया जाय और वह सत्य है तो ग्रहण की स्थिति ५४४ ई० पू० से १५ वर्ष पहले आती है और दूसरी निर्वाण तिथि ४८३ ई० पू० ग्रहण की तिथि से ७६ वर्ष बाद पड़ती है। अतः उक्त सन्दर्भ में परिनिर्वाण की तिथि ५४४ ई० पू० उस महान घटना की वास्तविक तिथि ज्ञात होती है[11]।

---

१. महावंश—गाइगर का अंग्रेजी अनुवाद, भू०, पृ० २८।
२. ज० रा० ए० एस० १९०८ ई०, पृ० ४७१।
३. बुद्धचर्या, भाग १, भूमिका।
४. वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना—मुनि कल्याण विजय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जि० १०, पृ० १५५।
५. पी० एच० ए० आई०, पृ० २२७।
६. अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० ४६।
७. डर बुद्धिज्म, अ० जेटेलिंग, जि० २, पृ० ६३।
८. भगवान् बुद्ध, पृ० ८९।
९. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जि० १३, १८८४, पृ० ४१।
१०. दी वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० २९५।
११. हिस्ट्री आफ एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० १०१।
१२. ऐं० इ० क्रो०, पृ० २१७।

उक्त सभी तिथियों का विवेचन छोड़ दिया जाय तो भी बुद्ध परिनिर्वाण की पारम्परिक तिथि ५४४ ई० पू० और चीन की कैण्टोनी परम्परा की तिथि ई० पू० ४८३ के भेद को मिटाना शेष रह जाता है। ५४४ ई० पू० वाली विथि का सिलोन की उस परम्परा से विरोध होता है, जिसके अनुसार अशोक प्रियदर्शी बुद्ध परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद राज्याभिषिक्त हुआ था[1]। चीनी परम्परा की कुछ वातों के आधार पर गाइगर आदि कुछ विद्वानों ने ५४४ ई० की पारम्परिक तिथि को अपेक्षाक्रम वाद में आविष्कृत बताया है और वास्तविक बुद्ध परिनिर्वाण की तिथि को ४८३ ई० पू०[2] माना है, जिसकी पुष्टि चीन की कैण्टोनी परम्परा से भी होती है। यद्यपि यह बात सत्य है कि मिनाण्डर की तिथि जो ५०० बु० नि० है ५४४ ई० पू० वाली तिथि से मेल खाती है, किन्तु मौर्य काल गणना इसके विपरीत पड़ती है। इससे चन्द्रगुप्त का काल ५४४-१६२=३८२ ई० पू० और अशोक का राज्याभिषेक ५४४-२१८=३२६ ई० पू० आता हैं जो ग्रीक लेखकों के उल्लेख के विपरीत पड़ता है, जिसके अनुसार अशोक की तिथि २७७ ई० पू० से किसी प्रकार पीछे नहीं जा सकती है। राज्याभिषेक की यह तिथि २७७ से २६१ ई० पू० के मध्य हो सकती है। अतः निर्वाण की तिथि इससे २१८ वर्ष पूर्व ४९५ से ४७९ के बीच पड़ती है, जिसका सामंजस्य कैन्टोनी परम्परा की तिथि से अधिक वैठता है। किन्तु गाइगर की ४८३ ई० पू० की तिथि और एल० डी० स्वामी कन्नु पिलै द्वारा निर्धारित तिथि (भौमवार, १ अप्रैल, ४७८ ई० पू०)[3] इन दोनों तिथियों का बौद्ध परम्परा से समर्थन नहीं होता, फिर भी ४८६ ई० पू० की कैण्टोनी परम्परावाली तिथि को प्रमाण मानते हुए रायचौधुरी ने विम्विसार का राज्यारोहण ४८६+५९=५४५ ई० पू० स्वीकार किया है, जो सिलोनी परम्परा के परिनिर्वाण तिथि के

---

१. द्वे सतानि च बस्सानि अट्ठारस बसानि च।
संबुद्धे परिनिब्बुत्ते अभिसित्तो पियदस्सनो ॥ महावंश, जि०२३, दीपवंश६।१
द्रष्टव्य-रायचौधुरी, पी० एच० ए० आई० पृ० १९८।

२. महावंश, गाइगर का ट्रान्सलेशन, पृ० २८, जे० आर० ए० एस० १९०९, पृ० १-३४।

३. इण्डियन इफेमरीज जि० १, भाग १, पृ० ४७१, १९२२।

प्रारम्भ के अत्यन्त निकट है। यह ध्यान देने की बात है कि किसी भी संवत् का वर्तमान नामकरण उसके मौलिक स्वरूप और उत्पत्ति को प्रदर्शित नहीं करता। यह बात असम्भव नहीं प्रतीत होती की सिलोनी परम्परा की परिनिर्वाण तिथि बिम्बिसार के राज्यारोहण से आरम्भ हुई हो जो बाद में परिनिर्वाण की तिथि रूप में परिणत हो गई हो[1]।

अलबेरूनी ने जैन एवं बौद्ध निर्वाण संवत्सरों के विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, जिससे स्पष्ट है कि इन संवत्सरों के विषय में उसे सूचना नहीं थी। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साधारण समाज में इन दोनों संवत्सरों का कम प्रयोग होता था। वस्तुतः धार्मिक दृष्टिकोण से किसी साम्प्रदायिक या राजनीतिक घटना विशेष का उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है, किन्तु उसमें भी शताब्दियों का ही प्रयोग हुआ है। संवत्सर क्रम में मास, पक्ष वा दिन, मिति का उल्लेख नहीं है—जैसे

(१) मिलिन्द पह्ल में मिलिन्द (ग्रीक राजा मिनाण्डर) की तिथि का उल्लेख करते हुए बुद्ध-परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद इसका होना बताया गया है[2]।

(२) लंकावतार सूत्र में बुद्ध परिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् भरतों एवं नन्दों के होने का उल्लेख है[3]। परमार्थ द्वारा लिखित वसुबन्धु की जीवनी (छठी शती)[4] में सांख्य दार्शनिक वृषगण या वार्षगण्य जिसे वसुबन्धु के गुरु बुद्धिमित्र का प्रतिद्वन्दी कहा गया है परिनिर्वाण के ९०० वर्ष बाद, अर्थात् ९०१ से १००० के अन्तर्गत होने का उल्लेख है।

(३) इसी ग्रन्थ में अश्वघोष की तिथि परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद अर्थात् ५०१-६०० वर्ष में कही गई है[5]।

---

१. पी० एच० ए० आई०, पृ० २००-२०१।
२. परिनिब्बानतो पंच बस सते अतिकंटे।
"मिलिन्द पह्लो" पृ० ३।
सरकार, इण्डिन इपिग्राफी, पृ० २३९।
३. ज० रा० ए० स०, १९०५, पृ० ८३५।
४. वही, पृ० ५१—टिप्पणी।
५. वही, १९०५, पृ० ५२।

(४) ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित अनुश्रुति जो कनिष्क को परिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद (४०१-५००[१]) एवं वसुबन्धु के गुरू मनोरथ और श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य को १००० वर्ष (१००१-११००) बाद बताती है।

(५) खोतान की परम्परा में अशोक के पुत्र कुस्तन द्वारा परिनिर्वाण के २३४ वर्ष बाद २४० ई० पू० खोतान में राज्य स्थापित करने एवं उसके पौत्र विजयसंभव द्वारा बौद्ध धर्म की प्रतिस्थापना की बात कही गई है[२]।

(६) परिनिर्वाण के तुरन्त पश्चात् प्रथम बौद्ध संगीति एवं एक सौ वर्ष पश्चात् वैशाली में हुई द्वितीय संगीति का उल्लेख[३] है।

(७) सिलोन की प्राचीन परम्परा में बुद्ध परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अशोक का राज्याभिषेक एवं २३६ वर्ष बाद तृतीय बौद्ध संगीति के होने का उल्लेख है।[४]

उक्त तथ्यों के आधार पर बुद्ध परिनिर्वाण की विभिन्न परंपराओं जिनका देश और विदेश में प्रचार रहा है में उल्लिखित किसी एक सुनिश्चित तिथि को इदमित्थं रूप से निर्णय कर बता पाना कठिन सा प्रतीत होता है[५]। जहाँ तक इसके प्रचार-प्रसार का प्रश्न है बौद्ध धर्म की व्यापकता के अनुकूल इसे व्यापक ही कहा जायगा, किन्तु इसका प्रयोग बौद्ध संप्रदायानुयायियों में ही विशेष रूप से रहा है। यह जन साधारण के प्रयोग में बहुत ही कम रहा है। अभिलेखीय प्रमाण इस संवत् के अत्यन्त न्यून हैं। केवल ११७६ ई० के अशोकाचल के बोध गया के अभिलेख से

---

२. 'वाटर आन युवान च्वांग्स ट्रावेल्स इन इण्डिया' भाग १, पृष्ठ २०३।

३. २५०० इयर्स आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ५८।

४. वही, पृष्ठ ५८।

५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ४५३।
एस० सी० विद्याभूषण (बुद्ध देव, पृष्ठ ११), सिलौन ५४३ ई० पू० जापान ९४७ ई० पू० तिब्बती ४३३ ई०पू० चीनी ७७० ई० पू० किन्तु आजकल कण्टौनी परंपरा द्वारा उल्लिखित तिथि ३८६ ई० पू० विद्वानों में मान्य है। द्रष्टव्य इण्डियन, एपिग्राफी, सरकार पृष्ठ २४०-४९।
भगवति परिनिवृते संवत् १८१३ कार्तिके वादि १ वु (बु) धे।

इसकी सूचना मिलती है, जिसके अनुसार निर्वाण की तिथि ६३८ ई०पू०[1] ठहरती है। कुछ विद्वानों ने अशोक के प्रथम लघु शिलालेख में इस संवत् के २५६ वर्ष का उल्लेख पाया है किन्तु इसका अन्य लेखों में उल्लेख न होने के कारण, एवं अन्यत्र, अशोक द्वारा तीर्थ-यात्रा में व्यतीत २५६ रात्रियों के उल्लेख के आधार पर डा० सरकार ने इस मत को निरस्त कर दिया है[2]। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में इस संवत् का प्रयोग सीमित रूप में एवं विदेशों में कुछ अधिक रूप में रहा है, उसमें भी सिलोन में इसका व्यापक प्रचार रहा है और आज भी उसी परंपरा को विद्वान् मान्यता प्रदान करते हैं। अतः आधुनिक तिथियों के परिवेश में बुद्धपरिनिर्वाण की निचली सीमा ई० पू० ४८३ स्वीकार करते हुए ई० पू० ५४४ वाली लंका की पारंपरिक तिथि की पुष्टि के लिए भविष्य के अनुसंधान की प्रतीक्षा करनी चाहिए वैसे विश्वभर में ५४४ ई० पू० वाली तिथि की ही विशेष मान्यता है।

---

१. बौद्ध गया का अशोकाचल का अभिलेख–भण्डारकर अभिलेख सं० १४५९।
२. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २४०-४१।

ग्रहपरिवृत्ति

यह एक ९० वर्षों का चक्र है, जिसके पूरे होने पर वर्ष का प्रारम्भ पुनः एक से आरम्भ होता है। मद्रास प्रान्त के मदुरा जिले में इसका अधिक प्रचार है एवं कर्नाटक में वैरेन के अनुसार स्वल्पमात्र में ज्ञात है। उन्हें इस संवत् के विषय में विशेष सूचना पुर्तगाली मिशनरी वैश्ची द्वारा जो वहाँ ४० वर्षों से थी मिली थी। वहाँ के ज्योंतिषियों द्वारा यह बात कही गई थी कि इस संवत् की परिकल्पना भौम के १५, बुद्ध के २२, बृहस्पति के ११, शुक्र के ५, शनि के २९, एवं सूर्य के ९ परिभ्रमण काल के दिनों से बनी है।[1] किन्तु इसके विषय में स्पष्ट सूचना अन्यत्र नहीं मिलती।

इस संवत् का प्रारम्भ कलियुग के ३०७८ वर्ष व्यतीत होने पर अर्थात् २४ ई० पू० से माना जाता है[2]। इसका वर्ष सौर है। इस प्रकार इस चक्र का दूसरा आवर्तन ७६ ई०स० से प्रारम्भ होता है। अतः इसका कुछ सम्बन्ध बृहस्पति चक्र से लगता है ऐसा कनिंघम ने माना है[3]। इस संवत् के किसी भी वर्तमान् वर्ष को ज्ञात करने के लिये वर्तमान कलियुग में ७२ या ई० सन् में २४ जोड़ कर या शक संवत् में १०१ जोड़ कर ९० का[4] भाग देने से शेष वर्तमान चक्र का वर्ष होता है। इसके विषय में बहुत कम सूचना प्राप्त होती है। स्पष्टतः यह दक्षिण भारत के ज्योंतिषियों के मस्तिष्क की उपज ज्ञात होता है[5]।

---

१. प्रिंसेप 'यूजफुल टेबुल्स, पृ० १५८-९।
२. एण्टीक्वीटिज आफ इण्डिया, वार्नेट, पृ० १२५।
३. इण्डियन एराज, पृ० ५१।
४. प्राचीन लिपिमाला, पृ० १८९।
५. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० ३२३।

अध्याय ५

उपसंहार

प्रस्तुत शोध प्रवन्ध दो अवयवों में विभक्त है : पूर्वार्ध-प्राचीन भारतीय कालगणना एवं उत्तरार्ध पारंपरिक संवत्सर। पूर्वार्ध में कालतत्त्व, काल मान एवं काल गणना के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला गया है। काल-गणना का प्रारम्भिक विकास मानव समाज में कब हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना निश्चित है कि सभ्यता के विकास के साथ कृषि आदि की संस्था के विकसित होने पर मुख्यतया वर्ष, ऋतु आदि मान ज्ञात हुए होगें। वैसे भारतीय वाङ्मय में कालगणना का वास्तविक इतिहास वेदों से प्रारम्भ होता है, जिनमें ३६० दिन के सावन वर्षमान, ७२० अहोरात्र, अधिमास द्वारा सौर और चान्द्र मासों के समीकरण की प्रक्रिया आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों प्रकार के कालमान लोगों को ज्ञात थे, पर उनका स्वरूप उत्तर कालीन स्मृति, पुराणादि ग्रन्थों में उल्लिखित मान से भिन्न था। तत्कालीन कालगणना संवत्सर द्वारा की जाती थी, जिसके अवान्तर अवयव अयन, ऋतु, मास, पक्ष, षडह, द्वादशाह, अहोरात्र आदि थे। अहोरात्र मुख्यतया ३० मुहूर्तों में बटा हुआ था। मुहूर्त भी एर्तांह, इदानि, तदानि, श्वास, प्रश्वास आदि विभागों में विभक्त था। अहोरात्र का व्यवहारपरक स्थूल विभाजन प्रातः, पूर्वाह्ण, मध्याह्न, पराह्न, सायाह्न, सायं आदि रूपों में विभक्त था। युग पद्धति पहले ४ वर्षों की थी जो बाद में पाँच वर्ष की हो गई, जिसका वेदाङ्ग काल में विशिष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। संवत्सर को यज्ञ-विद्या के द्वारा ठीक रखा जाता था। यज्ञों के उचित और शुभ मुहुर्त में सम्पादन हेतु पंचांगों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, किन्तु उनमें संवत्सर के पर्वों का उल्लेख रहता था। नक्षत्र संस्था का पूर्ण ज्ञान वैदिक ऋषियों को था एवं सूर्य के चक्रात्मक रूप में १२ अरों के साथ घूमने का संकेत १२ सौर मासों के होने की सूचना देता है, जिससे राशि-व्यवस्था की तो संभवतः नहीं पर नक्षत्र व्यवस्था के पूर्ण प्रतिष्ठित होने का संकेत अवश्य प्राप्त होता है। वैसे राशियाँ सौर पथ (क्रान्ति-वृत्त) के १२ भाग ही हैं पर वेदों में मेष, वृष आदि नाम

नहीं मिलते। गवां अयन आदि सत्रों द्वारा संवत्सर का नियमन होता था। संभव है वैदिक लोगों में बीस वर्षात्मक चक्र का प्रयोग होता रहा हो पर इसके स्पष्ट उद्धरण नहीं हैं।

युगों की पंचवर्षात्मक प्रणाली स्मृति, महाभारत एवं पुराणों के काल से बदल गई, जिसमें द्वादश सहस्रात्मक युग व्यवस्था का विधान था। पुराणों में युगों के निरंशक मान पठित हैं। अत: सूचित होता है कि कभी दश सहस्रात्मक वर्षों की युग व्यवस्था ही समाज में प्रचलित थी, जिसमें युगों के मौलिक मान कृत=४००० वर्ष, त्रेता, =३०००वर्ष, द्वापर= २००० वर्ष और कलि=१००० वर्ष थे, जिनमें बाद चल कर २००० वर्षों का संध्या और संध्यांश का काल भी जोड़ दिया गया। सम्भव है कभी चतुर्युगी का मान १००० वर्ष भी रहा हो, जिसमें ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण किया जाता रहा हो, क्योंकि भारतीय वाङ्मय में युग के विभिन्न परिमाण ४, ५, १०, १००, १०००, १०००० एवं १२००० तथा ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार ४३२००० वर्ष भी मिलते हैं। लगता है युगों की परिकल्पना वेदादि में उल्लिखित "शतायुर्वै पुरुषः" के सिद्धान्त पर पहले १०० वर्ष की रही हो जो बाद में १००० वर्षों के रूप में ऐतिहासिक निरूपण के लिए बदल गई हो। इस प्रकार पुराणों और ज्योतिष सिद्धान्त काल में युगों के अतिरिक्त मन्वन्तर और कल्प नामक मान भी जुड़ गए। इस प्रणाली का विकास विद्वानों ने चौथी शताब्दी ई० पू० से माना है। हो सकता है इससे पूर्व ही इसका बीजारोपण अथर्व वेद के काल में हो चुका था, जहाँ युगों का मान दस सहस्र वर्ष बताया गया है। यदि अथर्व ८।२।२१ के 'शतं च ते अयुतं' का अर्थ सौ अयुत के आगे दो, तीन और चार की संख्या लिखने से लिया जाय तो कल्प के वर्षों की संख्या ४३२०००००० वर्षों के तुल्य होती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार ३६० मानव दिनों का एक देव दिन बताया गया है अर्थात् देव और मानव वर्षों का अन्तर इसके बहुत पहले से ज्ञात था।

पौराणिक युग तक ऐतिहासिक घटनाओं का निरूपण कल्प, मन्वन्तर एवं युग व्यवस्था के अनुकूल हुआ है अतः इसके पूर्व किसी संवत् विशेष का प्रयोग भारतीय वाङ्मय में नहीं मिलता। वस्तुतः कालगणना की कई परम्पराएँ भारत वर्ष में मिलती हैं। पुराणों में गणना या तो ब्रह्म दिन से या ब्रह्मा की आयु से, कल्प, अथवा युगादि से आरम्भ की गई

है। पूर्व के ये मान अत्यन्त बृहद् होने के कारण लोगों द्वारा छोड़ दिए गए, ऐसी सूचना अल्वेरूनी द्वारा भी हमें मिलती है[1]। युगादि में सबसे बाद का कलियुग है जिसके पूर्व महाभारत का ऐतिहासिक युद्ध घटित बताया गया है। अतः सम्भव है कि इस घटना के काल से किसी गणना विशेष का प्रचलन हुआ हो, जिसका प्रयोग लोक व्यवहार में होना रहा हो। किन्तु भारत युद्ध के पूर्व किसी संवत् विशेष के प्रचलन का उल्लेख नहीं है। परम्परा में युधिष्ठिर के राज्य काल से एक गणना प्रारम्भ हुई थी, जिसके छिट-पुट उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं पर वे बहुत बाद के हैं। अतः विद्वान लोग उस पर विश्वास नहीं करते, किन्तु पूर्व के प्रसङ्गों में बहुत उदाहरण न मिलने से इसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। प्राचीन परम्पराओं में आती हुई वस्तुओं के अधिक उदाहरण मिलने कठिन है। इतना निश्चित है कि विक्रम और शक के पूर्व युधिष्ठिर के राज्यारोहण या स्वर्गारोहण से एक संवत् अवश्य चला था, जिसका संकेत वराह मिहिर की बृहत् संहिता आदि में भी प्राप्त होता है। वैसे कलियुग के छह शककर्ताओं (संवत् प्रवर्तकों) का उल्लेख ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में मिलता है, पर इसकी प्रामाणिकता पर लोगों को सन्देह है, क्योंकि बहुत से विद्वान इसे बहुत अर्वाचीन (१६वीं शती) रचना मानते हैं, किन्तु अल्वेरूनी ने भी भारत काल (पाण्डव काल) कलिकाल आदि का पूर्व काल में प्रचलित होना बतलाया है एवं इनके अतिरिक्त भी लोगों द्वारा हर्ष, विक्रम, आदि के संवत् अपनाये गये थे ऐसा उल्लेख उसने किया है। श्रीहर्ष विक्रम का यह संवत् ४५७ ई० पू० में प्रचलित बताया गया है। पर ये सब उद्धरण अत्यन्त न्यून हैं। जहाँ तक भारतीय अभिलेखों का साक्ष्य है, वह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि अशोक के काल (ई० पू० ३) से शातवाहन नृपतियों के राज्य काल या इससे बाद तक भी किसी घटना का निरूपण राजा के राज्य वर्ष में उल्लिखित होता था। सर्वप्रथम राज्य वर्षों में भी एक कुल में एक क्रम से वर्षों का प्रयोग सीथोपार्थियन नरेशों और पश्चिमी क्षत्रपों के राजवंश में हुआ है, जहाँ १-४२ वर्षों तक राज्य वर्षों का उल्लेख है। ये ही राज्य वर्ष परिवर्धित होकर बाद में शक-काल में परिवर्तित दिखाई पड़ता है। तथापि धार्मिक क्षेत्र में महावीर-निर्वाण और बुद्ध-निर्वाण से सम्बन्धित

---

१. अल्वेरूनीज़ इण्डिया, जि० २, पृ० १।

दो संवत् प्रचलित रहे हैं, किन्तु इनका प्रयोग सदा इन सम्प्रदाय विशेषों में ही रहा, सामान्य व्यवहार में नहीं। अल्बेरूनी ने इन दोनों संवतों के विषय में कुछ भी नहीं कहा है।

मौलिक रूप से व्यक्ति विशेष द्वारा प्रवर्तित संवत् सिल्यूकस का है, जिसका प्रचार भारत के पश्चिमी क्षेत्र में था[1], किन्तु इसके बाद ऐतिहासिक काल में सर्वप्रथम जो संवत् उल्लिखित हुआ है, वह है विक्रम संवत् जो आरम्भ में कृत और मालव संवत् के नाम से जाना जाता था, जिसका प्रारम्भ वर्ष ई० पू० ५७ वर्ष है। दूसरा संवत् शक क्षत्रपों द्वारा प्रवर्तित ७८ ई० का शक काल है, जिसका प्रयोग विशेष रूप से ज्योतिष के ग्रन्थों एवं दक्षिण भारत में अधिक हुआ है। ये दोनों संवत् आज भी लोक-व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं पर इनकी उत्पत्ति का इतिहास आज भी उतना सुलझा हुआ नहीं है। विक्रम संवत् जिसका प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य नामक राजा बताया जाता है उसका अस्तित्व मात्र साहित्यिक उद्धरणों को छोड़ कर अभिलेखीय या मुद्रा शास्त्र से बिल्कुल प्रमाणित नहीं होता अतः उसके प्रवर्तक का अस्तित्व ही अभी प्रश्न चिह्न से जुड़ा है। अधिकांश भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् इसे चतुर्थ शती का गुप्त वंशी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं,[2] पर अभी यह विवादास्पद ही है[3], क्योंकि ५७ ई० पू० में विक्रमादित्य नामक राजा की सत्ता मिटायी नहीं जा सकती है। इसी प्रकार से शक संवत् के भी प्रारम्भिक इतिहास के विषय में विवाद है पर अब उसमें यह निश्चित हो गया है कि उसका प्रवर्तक पश्चिमी क्षत्रप राजा चष्टन था[4]। दूसरे लोग कनिष्क को ही इसका प्रवर्तक मानते हैं[5] यद्यपि इसका शुभारम्भ पश्चिमी क्षत्रपों के ही कुल में लगातार प्रयुक्त राज्य वर्षों से हुआ है, भले ही वे कनिष्क के अधीन

---

१. द्रष्टव्य—'इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २४३।

२. दी वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० ४९३-४।

३. विक्रमादित्य आफ उज्जयिनी, पृ० ५१-५७।
विक्रमस्मृति ग्रन्थ, पृ० ३-२२, २३-३२, ५१-५२, ५३-६१, ६३-६६ इत्यादि।

४. जैन सोर्सेज आफ दी हिस्ट्री आफ ऐ० इ०, पृ०९५-९७।

५. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २५१-३२५, दी वण्डर दैट वाज इण्डिया, पृ० ४९४।

प्रान्तीय शासक रहे हों। इस प्रकार इन दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक संवत्सरों के पश्चात् तो भारत वर्ष में लगभग ३०-३५ से ऊपर संवत्सरों का प्रयोग हुआ है, जो इसकी विभिन्नता और क्षेत्रीय परिमाण के अनुरूप ही है[१]।

ब्राह्म संवत्सर का प्रचलन पूर्व काल में रहा होगा पर यह एक पौराणिक काल गणना है, जिसके आरम्भिक वृहद्मान सुरक्षित रह गये हैं। व्यावहारिक दृष्टि से घटनाओं के निरूपण में इसका प्रचार नहीं रहा है, किन्तु प्राचीन काल से धार्मिक संकल्पों में इसका स्मरण आज भी हम करते हैं[२]।

पारंपरिक संवत्सरों में सप्तर्षि काल सब से प्राचीन प्रतीत होता है, क्योंकि युधिष्ठिर के काल में सप्तर्षियों को मघा में स्थित बताया गया है, जो उसमें कलियुगारम्भ के २५ वर्ष पूर्व से चले आ रहे थे। २७०० वर्षों के इस चक्र की कितनी परिक्रमायें पहले पूर्ण हो चुकी थीं यह कहना कठिन है, क्योंकि इसमें शताब्दी के वर्ष प्रायः छोड़ दिए जाते हैं। यह संवत् कितना प्राचीन है यह बताना कठिन है, किन्तु जैसा कुछ साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं, उनसे इतनी बात निश्चित है कि यह महाभारत काल में प्रचलित था और जैसा कि स्पष्ट है कि ऋषि उस समय मघा में थे अतः यह काल महाभारत की तिथि ३१०२ वर्ष ई० पू० से १००० वर्ष और पीछे चला जाता है एवं इसके पूर्व एक चक्र और मानने पर इसका काल ई० पू० ७ हजार वर्ष चला जाता है, जहाँ से भारतीय इतिहास का आरम्भ काल श्रीकनिंघम आदि ने माना है। ध्यान देने की बात यह है कि इसका प्रयोग आज भी काश्मीर और पंजाब आदि के पहाड़ी प्रदेशों में प्रचलित है।

बार्हस्पत्य संवत्सरों का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है, क्योंकि कलियुग के पूर्व प्रमाथी नामक संवत् से इसका प्रारम्भ पितामह सिद्धान्त के आधार पर निश्चित होता है। अतः यह संवत् कलियुगारम्भ के आस-पास से ही आरम्भ होता है, जिसका उल्लेख

---

१. द्रष्टव्य—शोध प्रबन्ध का 'कालगणना उद्भव एवं विकास' नामक अध्याय 'ऐतिहासिक संवत्सरों का विकास', 'संवत्सर सूची'।

२. ब्राह्मणोऽह्नि द्वितीय परार्द्धे श्री श्वेतवाराह कल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगे कलियुगे कलिप्रथमचरणे…'हेमाद्रि संकल्प'।

हमें आर्यभट के इस उदाहरण में मिलता है कि उनके जन्म के २३वें वर्ष में षष्टिचक्रों की ६० आवृत्ति हो चुकी थी[1]। वस्तुतः यह संवत् भी चक्रात्मक है। अतः इसके आरम्भ का वास्तविक पता लगा पाना कठिन सा है। किन्तु निश्चित ही यह वैदिक एवं वेदाङ्ग युग की पंच वर्षात्मक प्रणाली का परिवर्धित रूप है जो वराह आदि की संहिताओं में उल्लिखित है। षष्टि संवत्सरों से भी द्वादशसंवत्सर चक्र प्राचीन है, क्योंकि उसका उल्लेख प्राचीन ज्योतिष संहिताओं में मिलता है।

इसके अनन्तर सर्व व्यापक रूप से कलि संवत् का प्रयोग लोक में होता रहा है। यद्यपि पुराणों में इसके आरम्भ के भिन्न-भिन्न विन्दु दिये गये हैं, पर वे सब करीब-करीब समकालीन ही हैं, जैसे भारत युद्ध, कृष्ण का स्वर्गारोहण, युधिष्ठिर का राज्यारोहण या स्वर्गारोहण एवं परीक्षित का राज्यारोहण आदि। किन्तु इसके काल निर्धारण में विद्वान का मतैक्य नहीं[2]। फिर भी इसकी तीन परम्पराओं आर्यभट, वृद्धगर्ग एवं पुराणों के आधार पर ३१०२ ई० पू०, २४४८ ई० पू० एवं १९६० ई० पू० तक इसका काल आता है, जिसमें पारम्परिक तिथि ३१०२ ई० पू० का ही प्रचलन लोक में है। विद्वानों ने इसके भी अस्तित्व पर सन्देह प्रकट किया है कि यह चौथी शताब्दी के ज्योतिषियों विशेष कर आर्य भट प्रथम का आविष्कार है, पर यह उचित नहीं है, क्योंकि आर्यभट से बहुत पहले कलियुगारम्भ हो चुका था, जो समाज में व्यवहृत होता रहा। हो सकता है आर्यभट ने इसके स्वरूप को ठीक किया हो, किन्तु पुलकेशिन के शिलालेख (६३४ ई०) और आर्यभट में मात्र १००-१२५ वर्षों का अन्तर है—इस छोटे से काल में कलि संवत् का सर्वव्यापक रूप में होकर प्रसिद्ध होना आश्चर्य ही है। अतः यह आविष्कार आर्यभट का नहीं हो सकता। पुनश्च युधिष्ठिर आदि का उल्लेख वराह ने भी किया है। कल्हण की राजतरंगिणी में भी इसके ६५३ वर्ष बाद भारत युद्ध होने का उल्लेख मिलता है। अतः समाज में चली आती हुई कलि वर्ष की परम्परा प्राचीन ज्ञात होती है। भले ही इसके आरम्भिक वर्षों के

---

१. षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः॥
आर्यभटीयम्, कालक्रिया, १०।

२. द्रष्टव्य-परिशिष्ट १—भारत युद्ध की तिथि।

लिखित उदाहरण हमारे पास कम हैं, पर इतना निश्चित है कि धार्मिक कृत्यों या समाजिक व्यवहार में प्राचीन काल से इसका प्रचार अवश्य रहा है, पर कालक्रम के व्यवधान से यह गणना धूमिल पड़ गई और आज केवल पंचांगों के पन्नों तक ही सीमित रह गई है, जहाँ इसके गतवर्षों का उल्लेख प्राप्त होता है। दक्षिण भारत के कई प्राचीन लेखों में अन्य गणनाओं के साथ इसके वर्ष लिखे प्राप्त हुए हैं।

परशुराम चक्र और ग्रह परिवृत्ति नामक दोनों चक्र विशेषतया दक्षिण भारत से सम्बद्ध रहे हैं, जिसमें परशुराम संवत् संस्कृत मे कोलम्ब संवत् और तालिम में कोलम्भ संवत के नाम से विख्यात है। परम्परा के अनुसार यह ई० पू० ११९७ से प्रारम्भ होता है। ८२४-५ ई० कोलम्ब संवत् का प्रथम वर्ष था ऐसा ज्ञात होता है। इसके पूर्व कोलम्ब काल के प्रचलित होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता[1]। सुदूर दक्षिण में प्रचलित होने के कारण ग्रह परिवृत्ति नामक संवत् के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं, किन्तु इसका प्रारम्भ ई० पू० २४ से मानते हैं। ये दोनों चक्र सप्तर्षि संवत् की तरह चक्रात्मक हैं, जिनमें शताब्दियों या सहस्राब्दियों के पूर्ण होने पर नये चक्र का प्रारम्भ माना जाता है। इन दोनों चक्रों को विद्वानों ने ज्योतिषियों द्वारा परिकल्पित माना है[2]।

जैन और बौद्ध परिनिर्वाण काल ऐतिहासिक युग के संवत्सर हैं, किन्तु इनका भी प्रयोग इनके प्रवर्तकों के निर्वाण के बहुत दिन पश्चात् आरम्भ होता है। जैसा कि प्रायः विद्वानों का मत है कि बौद्ध धर्म का अपना निजी इतिहास अशोक (तीसरी शती ई० पू०) के पूर्व नगण्य सा है और वह भी मौखिक रूप से चलता आया है अतः उसकी प्रामाणिकता पर बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता। हो सकता है तथागत के निर्वाण की तिथि सुरक्षित रखी गई हो पर आरम्भ में किसी संवत् का प्रयोग होता था ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता एवं यदि ऐसा रहा भी हो तो उसका रूप बहुत सीमित रहा है। जैसा कि हमने देखा है, जैन और बौद्ध परिनिर्वाण संवत् दोनों ही सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध रहे हैं, जिनका प्रयोग इनमें भी सीमित रूप में हुआ है। जैन परम्परा

---

१. भारतीय ज्योतिष, पृ० ४९६।
२. इण्डियन एपीग्राफी, पृ० २६९, ३२३।

में महावीर के निर्वाण की तिथि के विषय में मतभेद है, पर वह बाद की परिकल्पना ज्ञात होती है। मूलतः परिनिर्वाण तिथि (ई० पू० ५२७) की मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं से प्राप्त होती है पर यह आज के अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं है और वे ४६७-४८३ के बीच कभी परिनिर्वाण का होना मानते हैं ऐसा करने से बौद्ध निर्वाण की तिथि भी डगमगा गई है और उसे भी कैण्टोनी परम्परा के अनुसार ४८३ के लगभग मानते हैं, जो पारम्परिक तिथि ५४४ ई० पू० के विरुद्ध पड़ती है। इन सबका साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए ४६७ वा ४८३ ई० पू० को वीर निर्वाण की निचली सीमा मानते हुए आगे के शोध की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जिससे पारम्परिक तिथियों की संगति लग सके, क्योंकि ये ही तिथियाँ दोनों सम्प्रदायों में मान्य हैं ऐसा मत प्रतिपादित किया गया है।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति में कालगणना के महत्त्व को समझा गया था, जिसके स्थूल और सूक्ष्म दोनों मान लोक में प्रयुक्त होते थे। जहाँ तक संवत्सरों के प्रयोग का प्रश्न है ई० पू० ५७ से विक्रम संवत् जिसे कृत और मालव संवत् भी पहले कहा जाता था प्रचलित हो चुका था, किन्तु इसके पूर्व भी कलि, सप्तर्षि, युधिष्ठिर आदि संवत् भी प्रचलित थे, जिनके विषय में अधिक तो नहीं, किन्तु उनके अस्तित्व जनित प्रमाण मिलते हैं, जिससे तत्कालीन परिस्थितियों में इनके प्रचलित होने की पुष्टि होती है। इसके पूर्व युग-व्यवस्था प्रणाली प्रचलित थी, जिसका निरूपण विशेषतः पुराणों में हुआ है।

परिशिष्ट–१

महाभारत युद्ध की तिथि

वैदिक युग और महात्मा वुद्ध के वीच भारतीय इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना भारत युद्ध है, जो उसके निर्धारण में केन्द्र-विन्दु के समान है, जहाँ से उसके पूर्व एवं पश्चात् की ऐतिहासिक घटनाओं की परिधि खींची जा सकती हैं[1]। इस युद्ध के काल सम्वन्धी मुख्यतः तीन परंपराएँ भारतीय वाङ्मय में पाई जाती हैं—

१—आर्यभट सिद्धान्त

२—वृद्धगर्ग सिद्धान्त

३—पौराणिक सिद्धान्त।

आर्यभट सिद्धान्त—

आर्यभट प्रथम (४९९ ई०) ने अपने ग्रन्थ 'दशगीतिका' में लिखा है कि 'वर्तमान कल्प के छह मनु, २७ महायुग एवं तीन चौथाई युग भारत गुरुवार से पहले व्यतीत हो चुके[2]।' इससे यह पता चलता है कि चौथे युग का प्रारम्भ भारत युद्ध के वाद से हुआ। इस प्रकार पाण्डव कलि के आरम्भ के पूर्व थे, जैसा कि हम महाभारत एवं अन्य पुराणादि ग्रन्थों में उल्लिखित उद्धरणों में देख चुके हैं। अपने जन्म के पूर्व व्यतीत हुए काल का वर्णन करते हुए उन्होंने (आर्यभट) ने लिखा है कि 'जव वे तेईस वर्ष के थे तो तीन युगपाद और षष्टि संवत्सर चक्र के साठ चक्र अर्थात् ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे[3]।' उक्त उद्धरण से कलियुगारम्भ ई० पू० ३१०२ वर्ष आता है। किन्तु महाभारत में उल्लिखित कलियुग

---

१. प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री, पृ० २६९।

२. काहो ढ मनु युग श्ख गतास्ते च मनु युग छ्ना च।
कल्पादेर्युगपादा ग च गुरुदिवसाच्च भारतात् पूर्वम्॥ दशगीतिका, ३।

३. षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः॥
आर्यभटीयम्, कालक्रिया १०।

ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में उल्लिखित आर्यभटादि द्वारा उल्लिखित कलियुग ही है इस बात को बहुत से विद्वान् नहीं मानते। प्रो० सेनगुप्त ने अपनी पुस्तक 'एन्शियेण्ट इण्डियन क्रोनोलाजी' में लिखा है कि ज्योतिष सिद्धान्तोक्त कलियुग का प्रारम्भ उस समय हुआ था, जब सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति और शनि आदि सभी ग्रह अपने मध्यम स्थान में संयोग कर रहे थे ऐसी स्थिति में सूर्यग्रहण का होना भी आवश्यक है, किन्तु इस प्रकार की कोई घटना उस समय नहीं घटी। कलियुग का आरम्भ १७ फरवरी ई० पू० ३१०२ में अर्धरात्रि के समय सूर्य सिद्धान्त के अनुसार पठित है। आर्यभट के अनुसार यह १८ फरवरी, ३१०२ ई० पू० है। यह कलियुग लङ्का में सूर्योदय के समय से आरम्भ होता है[1]। कलियुगारम्भ की जैसी स्थिति ऊपर वर्णित है उस स्थिति में विशेषतः सूर्य और चन्द्रमा का अर्धरात्रि के समय एवं दूसरे सूर्योदय के समय संयोग संभव नहीं हो सकता इसलिए मध्यमगति से उस समय सभी ग्रहों का एकत्र होना अशुद्ध है एवं उसका प्राप्त वर्णन अवास्तविक है। कलियुग के प्रारम्भ में सभी ग्रहों का संयोग संभव नहीं है यह वेली, वेण्टली तथा वर्गेस के शोधों से सिद्ध हो चुका है। ऐसा भी कहा जाता है कि ज्योतिष सिद्धान्तोक्त कलिगणना हिन्दू ज्योतिषियों द्वारा आविष्कृत थी जिसका विशेष प्रयोग ग्रहगणित के लिए होता था एवं जो ४९९ ई० के ग्रहस्थिति के अनुसार वर्णित है। हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों की रचना के पूर्व इसका गणना का उद्धरण प्राप्त होना कठिन है। चूंकि यह गणना सत्य नहीं है अतः ४९९ ई० से पूर्व के किसी संस्कृत के ग्रन्थ अथवा किसी अभिलेखीय उद्धरण में इसका साक्ष्य मिलना कठिन है[2]। श्री केशवलाल दफ्तरी ने भी ज्योतिषोक्त कलियुग को महाभारतोक्त कलि से भिन्न माना है और तत्कालीन स्थिति को काल्पनिक कहा है क्योंकि ज्योतिषोक्त कलियुग के आरम्भ के समय सभी ग्रह रेवती पर संयोग कर रहे थे या उसके पास थे किन्तु 'युद्ध' के समय वे मूल के निकट थे। ज्योतिषोक्त कलियुगारम्भ के सात दिन के भीतर कोई ऐसी तिथि नहीं ज्ञात होती जिस दिन महाभारत में वर्णित युद्ध की ग्रहस्थिति मिल सके। इसलिए महाभारत और ज्योतिष ग्रन्थों में वर्णित कलियुग सर्वथा दो भिन्न

---

१. बुधाह्यजार्कोदयाच्च लङ्कायाम्, दशगीतिका, २।

२. 'एन्शियेण्ट इण्डियन क्रोनोलाजी', पृ० ३८-३९।

वस्तुएँ हैं[1] । स्वयं प्रो० सेन गुप्त ने महाभारतोक्त कलि गणना को वेदाङ्ग-ज्योतिषोक्त युग गणना के आधार पर माघ पूर्णिमा से माना है जो २४५४ ई० पू० के १० जनवरी से प्रारम्भ होता है जब पाण्डव लोग वनवास कर रहे थे। चूंकि उन्होंने महाभारत युद्ध काल २४४९ ई० पू० स्वीकार किया है इसलिए यह काल द्वापर और कलि की संधि रूप था जो २३५४ ई० पू० तक रहा। इस काल में लोग कलि के उद्भव की तिथि के विषय में भ्रम में थे। इसलिए पांच वर्ष बाद महाभारत युद्ध का काल ही इस कलि का आरम्भ वर्ष माना गया। कृष्ण का प्रयाण (विष्णु० ४।२४।११०) भी इस कलियुग का आरम्भ कहा गया है। इस प्रकार वे आर्यभट द्वारा प्रवर्तित कलि को महाभारतोक्त कलि से भिन्न मानते हैं[2] ।

जहाँ तक प्रो० सेन गुप्त का यह कथन है कि ४९९ ई० पू० से पहले कहीं भी कलियुग की वर्ष संख्या नहीं प्राप्त हो सकती उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कलियुगारम्भ से अपने समय तक व्यतीत वर्षों का उल्लेख करने वाले सर्वप्रथम आर्यभट ही हैं, किन्तु इससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता कि यह कलियुगारम्भ की स्थिति आर्यभट द्वारा उद्भावित है, क्योंकि ज्योतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में सूर्य सिद्धान्त में युगादि गणना का उल्लेख करते हुए वहाँ कृतयुगारम्भ की ग्रहगति वर्णित है। आर्यभट ने उसे चतुर्थ युग कलि युगारम्भ से माना है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कि ६३४ ई० के पुलकेशिन द्वितीय के अभिलेख में शक काल ५५६ को कलि काल ३७३५ कहा गया है जो भारत युद्ध की भी तिथि है[3] । आर्यभट और इस उल्लेख के काल में १३५ वर्ष का अन्तर है। यह बात सहसा सम्भाव्य नहीं प्रतीत होती कि आर्यभट द्वारा आविष्कृत किसी नवीन वस्तु को समाज ने इतना व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया कि उसे राजकीय अभिलेख में स्थान प्राप्त हो। यह

---

१. 'एस्ट्रोनामिकल मेथड एण्ड इट्स अप्लीकेशन टू दी क्रोनोलाजी आफ एन्शियेण्ट इण्डिया', पृष्ठ १३२ ।

२. ए० इ० क्रो०, पृ० ४५ ।

३. त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः ।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पंचसु ॥
पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पंचशतासु च ।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम ॥ ए०इ०, जि० ६, पृ० ११-१२ ।

गणना आर्यभट के बहुत पहले से समाज में चली आ रही थी जो अत्यन्त व्यापक होने के कारण शक काल के साथ उक्त अभिलेख में भी उल्लिखित हुई। दूसरी बात यह है कि यदि यह आविष्कार आर्यभट का निजी होता तो ब्रह्मगुप्त ने इसका अवश्य उल्लेख किया होता, क्योंकि रोमक और आर्यभट इन दोनों आचार्यों की, युगों का मान स्मृतियों एवं पुराणों से भिन्न देने के कारण "स्मृतिवाह्य" कह कर उन्होंने निन्दा की है। आर्यभट के बाद ज्योतिष के परवर्ती ग्रन्थ लेखकों ने बराबर शक और कलि के बीच का अन्तर "नन्दाद्रीन्दुगुणाः" ३१७९ वर्ष के बराबर माना है[1]। जहाँ तक दो कलियुग के आरम्भ की बात कही गयी है वह उचित इसलिए नहीं जान पड़ती है कि प्रो० सेन गुप्त और कलि की पारम्परिक तिथि के मध्य मात्र ६५३ वर्ष का अन्तर है जो दूसरी मान्यता के कारण है। इतने ही काल में दो प्रकार के कलि का कहीं भी वर्णन पुराण आदि में प्राप्त नहीं होता। एवं एक ही महाभारत के ज्योतिष के उदाहरणों से केशव लालजी एवं प्रो० सेन गुप्त दो विभिन्न तिथियों पर पहुँचे हैं। अतः यह विषय विवादास्पद जान पड़ता है, किन्तु इतना सत्य है कि कलि के विषय में मान्यता बहुत प्राचीन है। भले ही उसके स्वीकृत मान में परिवर्तन बाद में हुआ हो और वह भी पांचवीं शती की देन नहीं ज्ञात होता क्योंकि ज्योतिष की प्राचीन संहिताओं में भी कालमान इसी प्रकार का उल्लिखित है, जो आर्यभट से प्राचीन हैं।

वृद्धगर्ग-सिद्धान्त

महाभारत युद्धके सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त वृद्धगर्ग द्वारा चलाया गया प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख बृहत्संहिताकार श्री वराह मिहिर (५०५ ई०) ने किया है। उन्होंने लिखा है कि "मैं वृद्धगर्ग के मत से सप्तर्षियों का चार कहता हूँ, युधिष्ठिर जिस समय शासन कर रहे थे उस समय ऋषि मघा नक्षत्र में थे एवं शक काल में २५२६ जोड़ने से उस राजा का काल होता है[2]।" यद्यपि वराह ने अपने उक्त कथन का

---

१. ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त, सिद्धान्त शिरोमणि १।२८।

२. सैकावलीव राजति ससितोत्पलमालिनी सहासेव।
नाथवतीव च दिग्यैः कौबेरी सप्तमुनिभिः॥

आधार वृद्धगर्ग को बताया है, किन्तु सौभाग्य से भटोत्पल ने वृद्धगर्ग का वह उद्धरण अपनी वृहत्संहिता की टीका में उद्धृत किया है, जहाँ युधिष्ठिर के राज्यकाल में ऋषियों को मघा नक्षत्र में स्थित बताया गया है[1]। वहाँ शक काल और युधिष्ठिर के राज्य का अन्तर नहीं उल्लिखित है अतः यह अन्तर सर्वप्रथम वराह की संहिता का मानना चाहिए जो उनका निजी मत ज्ञात होता है।

प्रसिद्ध काश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने उक्त मत का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया है[2] एवं महाभारत का काल कलि के ६५३ वर्ष बाद माना है[3]। उनका कथन है कि "लोग इस दन्तकथा से, कि महाभारत युद्ध द्वापर और कलि की संधि में हुआ, मोहित होकर मिथ्या काल की परिकल्पना किये हैं[4]।

वराह और कल्हण दोनों की परम्परा जो महाभारत युद्ध को २४४८ ई० पू० बताती है, ३१०२ ई० पू० की आर्यभट परम्परा से भिन्नता रखती है। किन्तु कल्हण के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके काल में दोनों परम्पराएँ प्रचलित थीं, अर्थात् महाभारत को बहुत

ध्रुवनायकोपदेशान्नरिनर्तीवोत्तराभ्रमद्भिश्च।
यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात् ॥
आसन् मघासु मुनयः शासति पृथवीं युधिष्ठरे नृपतौ।
षड्द्विकपंचद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥ बृ० सं० ३।१-३।

१. कलिद्वापरसंधौ तु स्थितास्ते पितृदैवतम्।
मुनयो धर्मनिरताः प्रजानां पालने रताः ॥
भटोत्पल की टीका, भगवद्दत्त 'भारत वर्ष का वृहद् इतिहास' भाग० १, पृ० २१४।

२. ऋक्षादृक्षं शतेनाब्दैयात्सु चित्रशिखण्डिसु।
तच्चारे संहिताकारैरेवं दत्तोऽत्र निर्णयः ॥
असन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठरे नृपतौ ॥
षड्द्विकपंचद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञः ॥ राजतरङ्गिणी, १।५५, १।५६।

३. शतेषु षट्सु सार्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले।
कलेर्गतेषु वर्षाणामभूवन् कुरुपाण्डवाः ॥ वही, १।५१

४. भारतं द्वापरान्तेऽभूद्वार्तयेति विमोहिताः।
केचिदेतां मृषा तेषां कालसंख्या प्रचक्रिरे ॥ वही, १।४९।

से लोग कलि और द्वापर की संधि काल में हुआ मानते थे यद्यपि कल्हण ने उसे उचित नहीं माना है किन्तु उन्होंने भी परम्परा से चली आ रही कलियुगारम्भ की तिथि को परिवर्तित नहीं किया है।

वराह द्वारा उल्लिखित शक के विषय में विद्वानों में मत भेद है। स्वयं वराह मिहिर ने अन्यत्र इसे "शकेन्द्रकाल" (बृ० सं० ८।२०), "शक भूपकाल" (बृ० सं०, ८।२१) नाम से व्यवहृत किया है जिसका अर्थ भटोत्पल ने विक्रम संवत् किया है[1]। किन्तु यदि उक्त शक का सम्वन्ध ७८ ई० स० के शक काल से लिया जाय जैसा कि कल्हण ने भी स्वीकार किया है तो कलियुग के परम्परागतमान (३१०२ ई० पू०) से वराह के कथन में ६५३ वर्ष का अन्तर पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए कुछ विद्वानों ने एक दूसरे शक काल का आविष्कार किया है। यह शक काल अपनी-विजय के उपलक्ष में पार्थियन सम्राट साइरस द्वारा ५५० ई० पू० चलाया गया था जो ठीक कलियुग के २५-२६ वर्ष वाद पड़ता है, जब युधिष्ठिर की मृत्यु से उनका संवत्सर चला था। इस प्रकार ५५०+२६+२५२६=३१०२ ई० पू० कलि के प्रवर्तन का काल आ जात है। इस मत के पोषक एन० जगन्नाथ राव[2] कोटवेङ्कटाचलम्[3] गुलशन राय[4] एवं तिरुवेङ्कटाचलम् हैं[5]। श्री डी० आर० मानकड ने भी वराह के इस शक को ५५२ ई० पू० का शक्र काल माना है, जिसका प्रयोग पश्चिमी क्षत्रप अपने शिलालेखों में करते आ रहे थे[6]। सी० बी०

---

१. शकानां म्लेच्छजातीनां राजानस्ते यस्मिन् काले
विक्रमादित्येन व्यापादितः स कालो लोके शक इति प्रसिद्धः
तस्मात् शकेन्द्रकालात् शकनृपवधकालादारम्भ—बृ० सं० ८।२०।

२. 'दी एज आफ महाभारत वार' वेजवाड़ा, १९३१।

३. 'इण्डियन एराज', पृ० ७-१०।

४. 'दी परसियन एम्परर साइरस दी ग्रेट एण्ड दी इण्डियन शक एरा', जर्नल आफ पंजाब यूनिवर्सिटी सुसायटी, जि० १, (१९३२), पृ० ६१-७३, १२३-१३६।

५. 'अयनांश इन इण्डियन क्रोनोलाजी' जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, जि० २८, (१९५०), पृ० १०३-११०।

६. पुराणिक क्रोनोलाजी, पृ० ३२४।

वैद्य[1] तथा वी० जी० ऐयर[2] का मत है कि वराह द्वारा उल्लिखित शक काल बुद्ध निर्वाण का संवत् है जो ई० पू० ५४३ में प्रारम्भ होता है। चूँकि वराह का उक्त कथन वृद्धगर्ग के मत के ऊपर आधारित है अतः वृद्धगर्ग द्वारा उल्लिखित शक प्रचलित, "शक" संवत् नहीं हो सकता। यह कोई प्राचीन संवत् था जिसे शाक्य काल मानते हुए श्री ऐयर ने "षड्द्विकपंचद्वियुतः" का अर्थ २५ × २६ = ६५० वर्ष किया है और युधिष्ठिर की तिथि ५४३ + ६५० = ११९३ − ४ ई० पू० माना है। वी० सूर्य नारायण[3] एवं डी० एन० मुखर्जी[4] ने भी इसे क्रमशः ५४० एवं ५४६ ई० पू० का शाक्य या बुद्ध काल ही माना है, किन्तु एक तो वृद्धगर्ग ने किसी संवत् विशेष का अपने उद्धरण में उल्लेख नहीं किया है और न ही किसी समय विशेष का उसमें उल्लेख है। अतः शककाल और युधिष्ठिर के बीच २५२६ वर्ष का व्यवधान-काल वराह का मत ज्ञात होता है। एवं दूसरी बात शक का शाक्य में परिवर्तन भी अस्वाभाविक लगता है। वराह स्वयं इसे शाक्य काल लिख सकते थे। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इस मत को पूर्ण कल्पित माना है[5]।

अब विचारणीय बात शक काल की है जिसे अधिकांश विद्वानों ने प्रचलित शक संवत् माना है एवं बहुतों ने इसे ६५० ई० पू० का शक संवत् माना है। किन्तु ६५० के शक के विपरीत सबसे बड़ी यह आपत्ति है कि अब तक इस बात का कुछ भी संकेत प्राप्त नहीं है कि साइरस ने ने कोई संवत् चलाया था एवं यदि यह स्वीकार भी कर लें कि ऐसा कोई संवत था तो उसका उल्लेख या प्रयोग उसके राज्य में उसके वंशधरों द्वारा क्यों नहीं किया गया? जब कि भारत में ज्योतिषियों ने इसका खुलकर प्रयोग किया। यह बात तो स्पष्ट ही ज्ञात होती है कि वराह का

---

१. महाभारत-ए क्रिटिसिज्म, पृ० ६८-६९।
२. क्रोनालजी आफ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ७३।
३. लाइफ आफ वराहमिहिर, पृ० ६।
४. डी० एन० मुखर्जी—'दी गुप्त एरा', इ० हि० क्वा०, जि० ८, (१९३२ई०), पृ० ८५-८६।
५. रंगाचार्य-प्रीमुसलमान इण्डिया (वेदिक पीरियड), डेट आफ महाभारत, पृ० ९६।
हि० धर्म० जि० ३, पृ० ८९८।

यह शक ७८ ई० स० का ही शक है, क्योंकि परिवर्ती सभी ज्योतिषियों ने इसी का प्रयोग किया है। टी० यस० कुवन शास्त्री और के० वी० शर्मा[१] ने यह सिद्ध किया है कि रोमक और पौलिश द्वारा उल्लिखित सप्ताह, दिन, क्षेप, अधिमास और अवमशेष के सिद्धान्त ५०५ ई० के अधिक निकट हैं, १२३ ई० पू० के नहीं। श्री पी० वी० काणे[२] तथा अजयमित्र शास्त्री ने[३] उक्त शक को अन्यमतों को निरस्त करते हुए ७८ ई० सन् का ही शक माना है, जिसकी अधिक सम्भावना है। यद्यपि ऐसा मानने पर महाभारत युद्ध को कलि के ६५३ वर्ष बाद रखना पड़ेगा जो मान्य एवं अब तक प्राप्त उद्धरणों के पूर्णतः विरुद्ध है, क्योंकि कहीं भी महाभारत को कलि के बाद हुआ नहीं बताया गया है अपितु कलियुग की प्रवृत्ति भारत युद्ध के बाद परीक्षित के राज्यारोहण या कृष्ण के महाप्रयाण से बताया गया है। वराह और कल्हण की परम्परा ही पारम्परिक भारत युद्ध की तिथि से भिन्न ज्ञात होती है जिसका समाधान तो ६५० ई० पू० किसी संवत् विशेष के मानने पर निकल जाता है पर उस समय उक्त शक के प्रचलन का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः भारत युद्ध के सम्बन्ध में इन दोनों तिथियों को दो भिन्न परम्पराओं से सम्बद्ध मानना चाहिए। निधानपुर ताम्रलेख से भी महाभारत युद्ध की वराह स्वीकृत तिथि ही पुष्ट होती है[४]।

ब्रह्मगुप्त और पुलिस के आधार पर "विक्रमसंवत्" १०८८ (९५३ शक) तक कलियुग के ४१३२ एवं भारत युद्ध के ३४७९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे ऐसा अल्बेरूनी ने स्वीकार किया है[५]।

आधुनिक विद्वान् प्रो० पी० सी० सेन गुप्त ने महाभारत कालीन ज्योतिषोक्त उद्धरणों के आधार पर वराह और कल्हण की परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध की तिथि ई० पू० २४४९ को पुराणों के अज्ञात नाम एवं काल वाले लेखकों द्वारा उल्लिखित तिथि की अपेक्षा वास्तविक

---

१. 'दी शक एरा आफ वराह मिहिर' जे० आ० एच० जि० ३६, (१९५८), पृ० ३४३-३६७।

२. हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ८९८।

३. इण्डिया ऐज सीन इन दी बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर, पृ० ९।

४. वही, पृष्ठ ११, हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ८९८-९।

५. अल्बेरूनीज इण्डिया, भा० २, पृ० ४-५।

ठहराया है[१]। किन्तु काणे आदि विद्वान् प्रो० सेन गुप्त के मत को इसलिए नहीं स्वीकार करते कि महाभारत के ज्योतिषोक्त सभी उद्धरणों का इसमें प्रयोग नहीं हुआ हैं एवं विभिन्न काल के होने के कारण उनकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है[२]। दूसरी बात यह है कि उन्हीं एवं कुछ अन्य उद्धरणों के आधार पर श्री दफ्तरी ने महाभांरत युद्ध की तिथि ११९७ ई० पू० निर्धारित किया है[३]। अतः विभिन्न कालों में प्रक्षिप्त एवं परस्पर विरुद्ध इन उद्धरणों का विश्वास नहीं किया जा सकता। इनके परिमाण भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं। अतः इन दीनों तिथियों के ऊपर भरोसा नहीं किया जा सकता[४]।

पौराणिक सिद्धान्त

पुराण भारतीय साहित्य के प्रवर्धमान और समृद्ध भण्डार हैं, जिनमें भारतीय इतिहास के अमूल्य रत्न विखरे पड़े हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन भारत के लिए इनका अपना महत्त्व है जहाँ उसके प्राचीन इतिहास की स्वायंभुव मन्वन्तर से लेकर आन्ध्रों के काल तक की अखण्ड परम्परा सुरक्षित है। सौभाग्य से पुराणों के वंशानुचरित प्रसंग में महाभारत काल से पूर्व के राजाओं की सूची एवं उसके परवर्ती काल में परीक्षित से लेकर आन्ध्रों तक के राजाओं का नाम निर्देशपूर्वक राज्य-वर्ष भी उल्लिखित है। इसी वर्णन प्रसंग में पुराणकारों ने परीक्षित और महापद्मनन्द के राज्यारोहण के बीच का अन्तर दिया हैं, जिससे हम भारत-युद्ध के आसपास तक पहुँच सकते हैं। सामान्यतया यह अन्तर १०५० वर्षों का है, जिसका उल्लेख पार्जिटर महोदय ने इस प्रकार किया है[५]।

---

१. ए० इ० क्रो०, पृ० २५।

२. हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ९०३।

३. ए० मे०, पृ० १३२।

४. हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ९०३-४।

५. महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
एवं वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचाशदुत्तरम्॥
डायनेस्टीज आफ कलि एज, पृ० ५८, फुटनोट २०, २४ श्लोक के अन्तिम पाद का पाठान्तर इसप्रकार है – (१) 'ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्' (वीएस) (२) ज्ञेयं पंचशदशोत्तरम् (सी ई जे, एमटी, एल एन एम टी वी एल वी एस)

पाठान्तरों के आधार पर परीक्षित और महानन्द या महापद्म के बीच का अन्तर १०१५, १०५४, १११५, ११५० एवं १५०० वर्ष आता है। महापद्मनन्द का राज्यारोहण प्रायः विद्वान् ३६० ई० में करते हैं। इसमें १०१५ या १०५० जोड़ने पर १३७५ ई० पू० या १४१० ई० पू० महाभारत युद्ध का काल आता है। यदि यह अन्तर १५०० वर्षों का स्वीकार किया जाय तो उक्त काल १५००+३६०=१८६० या १०० वर्ष नन्दों एवं ३२१ ई० पू० तक चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के पूर्व तक १९२१ ई० पू० आता है।

पुराणों में महापद्म से लेकर आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा पौलोमी तक का काल ८३६ वर्ष दिया हुआ है[1]। वंशावलियों में दिया गया काल इस प्रकार है—नन्द १०० वर्ष, मोर्य १३७ वर्ष, शुङ्ग ११२ वर्ष, काण्व ४५ वर्ष एवं आन्ध्र ४५६ वर्ष=८५० वर्ष जो ८३६ से १४ वर्ष अधिक है। लगता है नन्दों के लिए उल्लिखित १०० वर्षों में ये १४ वर्ष समाहित हैं क्योंकि नन्दों का काल ८६ वर्ष ही है[2]। प्रो० सेनगुप्त ने आन्ध्रों के लिए ४६० वर्ष स्वीकार किया है, इस प्रकार यह अन्तर १८ वर्ष का होता है जो महापद्म के राज्यारोहण की तिथि निश्चित नहीं ज्ञात होने के कारण दिखाई

और (६) शतं पंचदशोत्तरम् (इ वी ए, वी एच) श्री मनकड ने 'शतं पंचाशदुत्तरम्' इतना और जोड़ा है। संप्रति विष्णु और भागवत में यह श्लोक निम्न रूप में उल्लिखित है :—

यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्।
एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचशतोत्तरम्॥ विष्णु २४।१०४।
आरभ्य भवतो जन्म यावन्नदाभिषेचनम्।
एतद् वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पंचदशोत्तरम्॥ भाग० १२।२।२६।

१. पौलोम्नस्तु तथान्ध्रास्तु महापद्मान्तरे पुनः।
तदन्तरं शतान्यष्टौ षट्त्रिंशच्च समाः स्मृताः॥
तावत् कालान्तरं भाव्यं आन्ध्रान्तादापरीक्षितः॥
भविष्ये ते प्रसंख्याता पुराणज्ञैः श्रुतर्षिभिः॥ मत्स्य २७३।३६-३७,
तु० वायु० ९९।४१६-१७।

२. पु० क्रो०, पृ० ९१।

पड़ता है[1]। इस प्रकार परीक्षित से आन्ध्रों तक का यह काल १५००+८५०=२३५० वर्ष आता है। सप्तर्षि परीक्षित के काल में मघा नक्षत्र में १०० वर्ष से विचरण कर रहे थे और आन्ध्रों तक वे चौवीसवें नक्षत्र पर चले गये थे[2]। इस प्रकार आन्ध्रों और परीक्षित के बीच का अन्तर २४०० वर्ष आता है जिससे "पञ्चशतोत्तरम्" पाठ वास्तविक ज्ञात होता है। ऐसा ही श्री काणे महोदय का भी मत है[3]। किन्तु इसके साथ ही विष्णु पुराण और भागवत पुराण के निम्न दो उद्धरणों पर विचार करना चाहिए–कि परीक्षित के जन्म से महापद्म नन्द के बीच १०१५ या (१०५०) वर्ष व्यतीत हुए।" जव सप्तर्षि पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में जायेगें तो नन्दों के समय से कलि वृद्धि को प्राप्त होगा[4]। इस कथन के आधार पर डा० दफ्तरी ने सप्तर्षियों के मघा से पूर्वाषाढ़ा तक पहुँचने का

---

१. ए० इ० क्रो०, पृ० ५३।

२. सप्तर्षयो मघायुक्ताः काले पारीक्षिते शतम्।
आन्ध्रान्ते तु चतुर्विशे भविष्यन्ति मते मम॥ पार्जिटर, डायनेस्टीज आफ कलि एज़, पृ० ५८।

३. हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ९०३-६।

४, महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
एवं वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥ पार्जिटर, कलि एज, पृ० ५८।
प्रयास्यन्ति यदा चैते पूर्वाषाढां महर्षयः।
तदा नन्दात् प्रभृत्येषः कलिर्वृद्धिं गमिष्यति॥ वही, पृ० ६१।
दफ्तरी ने "केसरी" के विद्वान् सम्पादक श्री करन्दिकर का मत उल्लिखित करते हुए कहा है कि उन्हें वायु पुराण की कुछ प्रतियों में "पञ्चाशद्" के स्थान पर "पञ्चशत्" पाठ मिलता है, जो निम्न उद्धरण से उचित सिद्ध होता है—

सप्तर्षयो मघायुक्ताः काले पारिक्षितेऽभवन्।
आन्ध्रान्ते ते चतुर्विशे भविष्यन्ति मते मम॥
(केसरी, जिल्द १३, दिसम्बर १९३८)

दफ्तरी का कहना है कि "मते मम" का अभिप्राय अपने मत से है जो इस बात की ओर संकेत करता है कि इसके अलावा एक दूसरा मत भी था। भागवत और विष्णु पुराण से वायु का विरोध होने से इस पाठ को उन्होंने अस्वीकार कर दिया है। इस पर आगे विचार किया गया है।"

काल ११०० वर्ष मान कर परीक्षित और महापद्म नन्द के बीच के १५०० वर्षों के अन्तर को अस्वीकार कर दिया है,[१] किन्तु प्रो० सेन गुप्त ने वायु और मत्स्य जैसे प्राचीन पुराणों में इसका उद्धरण नहीं मिलने के कारण केवल इसे विष्णु और भागवत् की वंशावली का ही माना है। यहाँ तक कि विष्णु पुराण के टीकाकार श्रीधर ने भी इस समस्या को नहीं सुलझा पाया है[२] और नन्द के स्थान पर प्रद्योतों को मान कर यह समय १५०० वर्षों का स्वीकार किया है। श्री मानकड ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है। प्राचीन तिथियों के निर्धारण के लिए उन्होंने दो ग्रीक लेखकों के उद्धरणों का उल्लेख किया है, जिन्हें उन्होंने मेगस्थनीज के "इण्डिका" नामक ग्रन्थ से लिया है पहला प्लिनी का एवं दूसरा सोलिनस का है जहाँ वेकस से अलग्जेण्डर तक उनके १५४ राजे गिने गये थे और उनका राज्य काल ६४५१ वर्ष तीन महीना था[३]। दूसरे के अनुसार वोकस पहला राजा था जिसने भारतवासियों पर आक्रमण किया। उससे और अलग्जेण्डर तक ६४५१ वर्ष होते हैं, जिनके मध्य १५३ राजाओं ने राज्य किया[४]। तीसरा उद्धरण ऐरियन (इ० सन् २

---

१. दफ्तरी—एस्ट्रोनामिकल मेथड०, पृ० ८५-८६।

२. यावदिति। पञ्चशतोत्तरं वर्षसहस्रम्। पाठान्तरे परीक्षित समकालं मागधसौममारभ्य रिपुञ्जयान्तं मागधानां सहस्राब्दत्वस्योक्तत्वात्। अनन्तरं प्रद्योत शिशुनागानां पञ्च शताब्दस्योक्तत्वात् सार्द्धसहस्रस्योक्तस्य व्याख्यातम्। वायूक्तेऽपि परीक्षिज्जन्मान्तरं सार्द्धसहस्रमेवेत्युक्तम्। यदा पूर्वाषाढ़ायां महर्षयः गमिष्यन्ति तदा प्रद्योतात् प्रभृति वृद्धिं गच्छतीत्यर्थः (श्रीधर विष्णुपुराण टीका)।

3. "From the days of Bachhus to Alexander the Great, their kings are reckoned at 154, whose reigns extended over 6451 years and three months."

4. Father Bachhus was the first who inveded India and was first of all who triumphed over the vanquished Indians. From him to Alexander the Great 6451 year are reckoned with three months additional, the calculation being made by counting the kings who reigned in the interval, to the number of 153."

Fragments of Indica of Megasthanese collected by Dr. E. H. Sch. Wanback, Born, 1846 and translated by J. W. Mac Crindle, Calcutta 1926, pp. 115-16.

शताब्दी) का है जिसके अनुसार डायनीसस से सण्ड्रोकोटटस तक भारतीय १५३ राजाओं को गिने थे जिनके लिए ६०४२ वर्ष गिना गया था किन्तु इसमें तीन वार एक गणतन्त्र स्थापित हुआ था........दूसरा ३०० वर्ष और अन्य १२० वर्ष[1] ।

उक्त उद्धरणों में उल्लिखित राजाओं एवं उनकी वर्ष संख्या की पुराणों के वंशानुचरित वा अन्य प्रसङ्गों में उल्लिखित राजाओं की राज्य-वर्ष-संख्या से समता होने के कारण १०५० वर्षों ११५० और १५०० वर्षों के महापद्म और परीक्षित के बीच के अन्तर को सुलझाने में मानकड को बहुत सहायता मिली है। एरियन के उद्धरण में जो तीन गणतन्त्रात्मक काल जिसमें पहला अज्ञात है उसे ३५० वर्षों का मानते हुए दूसरे और तीसरे के काल ३००+१२०=४२० वर्ष में जोड़ कर सम्पूर्ण गणतन्त्र का काल उन्होंने ३५०+३००+१२०=७७० वर्ष स्वीकार किया है। इन गणतन्त्रात्मक कालों को लेकर पौराणिकों में दो सम्प्रदाय हो गये थे, जिनमें से पहला सम्प्रदाय इस गणतन्त्रात्मक काल को राजवंशावली काल में नहीं गिनता था एवं दूसरा संप्रदाय इसे भी ग्रहण करता था। इस प्रकार कालक्रम से किसी भी घटना का ३५० वर्ष, ६५० वर्ष, ४२० वर्ष या ७७० वर्ष आगे पिछे हो जाना स्वाभाविक है। इसमें पहला रिपब्लिक महानन्द और महापद्म के बीच एवं दूसरा एवं तीसरा मौर्यों एवं शुङ्गों और काण्वों के बीच पड़ा था ऐसा उन्होंने माना है। इस प्रकार जो ३५० वर्ष का अन्तर प्रथम गणतन्त्र का छोड़ देते थे उनके अनुसार परीक्षित से महानन्द के बीच का अन्तर (१००० वर्ष बार्हद्रथ, १३८ वर्ष प्रद्योत और १२ वर्ष शिशुनाग ने राज्य किया १०५० या ११११५) ११५० वर्षों का आता था। इस आधार पर श्री मानकड ने "पंचशतोत्तरम्" पाठ को ही प्रामाणिक माना है एवं प्रथम रिपब्लिक कालका मान जो एरियन के उल्लेख में छूट गया है, उसे १५००-

---

1. "From the time of Dionysos to Sandrocottos the Indian counted 153 kings and a period of 6042 years, but among these a republic was thrice established ...... and another of 300 years and another of 120 years."

From the Indica of Arrian, same edition as above pp. 208-9.

Puranic Chronology, Intro. p. 1-2.

११५०=३५० वर्ष का माना है[१]।उनके अनुसार महाभारत की तिथि ३२०१ ई० पू० आती है यहीं पर उन्होंने महाभारतोत्तर कालीन तिथि-क्रम को अपने अनुसार सुधार कर पुराणों के आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम (गुप्तवंश) को सिकन्दर के समकालीन पाया है[२]। यद्यपि इस तथ्य का पुराणों के आधार पर क्रम बैठता सा दीखता है पर ऐसा करने में उन्हें बड़ा प्रयास करना पड़ा है और जो लोग ३१०२ ई० पू० महाभारत की तिथि स्वीकार करते हैं उन्हें पुराणों की वंश सूची में इस प्रकार का परिवर्तन करना पड़ता है। पर इसे अधिकांश विद्वान् स्वीकार नहीं करते। जब तक अन्य किसी प्रबल स्रोत से इसकी पुष्टि नहीं हो जाती तब तक इन तिथियों को दृढ़ता से स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आज की स्वीकृत तिथियों से इनका घोर विरोध दिखाई पड़ता है।

महाभारत के काल निर्धारण में उसमें उल्लिखित ज्योतिष सम्वन्धी उद्धरण भी सहायक हैं, जिनके माध्यम से हम उस पर विचार कर सकते हैं। पर ये इतने अस्त-व्यस्थ एवं बिखरे हुए हैं कि इनमें परस्पर पूर्वापर का सम्बन्ध स्थापित कर किसी एक निश्चित हल पर नहीं पहुँचता जा सकता[३]। प्रो० सेनगुप्त एवं के० एल० दफ्तरी ने स्वतन्त्र रूप से इस पर विचार किया है, किन्तु वे दोनों दो विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। डा० सेन गुप्त ने वराह मिहिर द्वारा उल्लिखित काल २४५९ ई० पू० को एवं श्री दफ्तरी ने ११९७ ई० पू० को युद्ध का काल घोषित किया है।

इस प्रकार महाभारत युद्ध की तीन प्राचीन परम्परागत तिथियाँ ज्ञात होती हैं—प्रथम आर्यभट द्वारा उल्लिखित ३१०२ ई० पू० की तिथि जिसका समर्थन ऐहोल के ६३४ ई० के पुलकेशिन द्वितीय के शिलालेख एवं इसके अनन्तर अन्य बहुत से साहित्यिक प्रमाणों से भी होता है,[४]

---

१. पु० क्रो० पृ० ८३-८५।

२. वही, पृ० ९३।

३. हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ९०३-४।

४. इस मत के पोषक टी० एस० नारायन शास्त्री "किंग्स आफ मगध" जगन्नाथ राव "एज आफ महाभारत वार" डी० एस० त्रिवेद आदि हैं (विशेष द्रष्टव्य पुराणिक क्रोनोलाजी)। डा० सी० वी० वैद्य, "हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर", पृ० ४-८, कृष्णभाचार्य "क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, प्रो० के० वी० अभ्यंकर "दी डेट एण्ड टाइम आफ दी भारत वार",

दूसरी धृद्धगर्ग एवं वराह द्वारा समर्थित परम्परा की तिथि है जिसका समर्थन कल्हण पण्डित ने भी किया है, जिसके अनुसार युद्ध कलि से ६५३ वर्ष ई०पू० पश्चात् अर्थात् २४४८-९ में हुआ था।[१] तीसरी परंपरा पुराणों में उल्लिखित महापद्मनन्द एवं परीक्षित के बीच के अन्तर पर लायी गई है जो पुराणों के विभिन्न पाठान्तरों के आधार पर १४००, १८०० या १९०० ई० पू०[२] के लगभग आती है। उक्त तीनों परम्पराओं की तिथियों के विषय में ई० सन् की पांचवीं शताब्दी से सूचना मिलने लगती है। वर्तमान स्थिति में यह बताना कठिन है कि कौन सी परम्परा सत्य है, क्योंकि तीनों के लिए अपने-अपने ढंग के प्रमाण मिलते हैं। पर अधिकांश विद्वान् परीक्षित और महापद्म के बीच उल्लिखित वंशावलियों के वर्ष प्रमाण १०५० वर्ष को न्यूनतम सीमा मान कर कम से कम भारत युद्ध कों ई० पू० १४००-१००० के मध्य में घटित बताते हैं।

उपसंहार

इस प्रकार कलियुगारम्भ और परीक्षित का शासन काल समकालीन मान कर विल्सन ने विष्णु पुराण के अनुसार यह काल १४१५ ई० पू०, मत्स्य और वायु के अनुसार १४५० ई० पू० और भागवत के अनुसार १५१५ ई०पू० माना है। विलफ़ोर्ड (एशियाटिक रिसर्चेज, जि० ९, पृ० ११६) ने भारत युद्ध का काल १३७० ई०पू० माना है। बुचानन ने इसे १३०० ई०पू० माना है। ज्योतिष की सामग्री के आधार पर कोलब्रुक ने व्यास द्वारा वेदों का विभाग काल १४०० ई० पू० माना है। बेण्टली ने पाण्डवों में प्रमुख युधिष्ठिर का काल ५७५ ई०पू० माना है (हिस्टारिकल भ्यू आफ दी

"एनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, १९४४ जि० २५, पृ० ११६-१३६, कोटवेङ्कटाचलम्—"इण्डियन एराज" पृ० ३-६।

१. अल्बेरूनी ने कलिकाल और पाण्डव काल का अन्तर ६५३ वर्ष स्वीकार किया है जहाँ कलियुग का मान ब्रह्मगुप्त और पुलिश द्वारा एक ही माना गया है वह ३१०२ ई० पू० का ही है, अल्बेरूनीज़ इण्डिया, साँचे, जि० २, पृ० ४-५। प्रो० सेन गुप्त ने महाभारत के ज्योतिष के उद्धरणों पर इस तिथि को पूर्णसत्य पाया है। द्रष्टव्य—"एन्शियेण्ट इण्डियन क्रोनोलाजी", पृ० १-४६।

२. करन्दिकर "प्रोसिडिंग्स आफ ओरियण्टल कांग्रेस (पी० ओ० सी०), जि० १२, भाग २, पृ० ८-१२, काणे—हि० धर्म०, जि० ३, पृ० ३-४।

हिन्दू एस्ट्रोनामी, पृ० ६७),[1] श्री ए० डी० पुसालकर ने भी भारत युद्ध का काल १४०० से १००० ई० पू० के मध्य में मानते हुए पौराणिक परम्परा को उचित माना है[2]। किन्तु विद्वानों का अधिक बल १३ और १४ शती ई० पू० महाभारत युद्ध और कलियुगारम्भ के होने के पक्ष में है[3]। डा० सीतानाथ प्रधान ने यह काल ११५१ ई० पू० माना है[4]। स्व० बालकृष्ण दीक्षित ने पाण्डवों का काल शक पूर्व १५०० (१४२२ ई० पू०) से ३००० (२९२२ ई० पू०) के मध्य में स्वीकार किया है[5]। केशव लाल दफ्तरी ने यह काल ११९७ ई० पू० माना है[6]। डा० पुरुषोत्तमलाल भार्गव ने कुरुवंश में हुए दो परीक्षितों के उद्धरण को लेकर पुराणों में नन्दों तक उल्लिखित १०५० वर्ष को परीक्षित प्रथम से आरम्भ कर उसका काल ई० पू० १४१० ई० पू० मानते हैं। चूँकि महाभारत का युद्ध नन्दों से ३२ पीढ़ी पूर्व हुआ था, २० वर्ष प्रति पीढ़ी के हिसाब से ३२ × २० = ६४० वर्ष का अन्तर आता है। नन्दों का काल ३६० ई० पू० है अतः महाभारत युद्ध ६४० + ३६० = १००० ई० पू० में हुआ, ऐसा ज्ञात होता है। आधुनिक युग के प्रबुद्ध ऐतिहासिक डा० अ०ले० भ़ासम ने महाभारत का युद्ध काल ९वीं शताब्दी ई० पू० माना है, जो उत्खनन के प्रमाणों से भी पुष्ट होता है। यद्यपि भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार सर्वाधिक मत इसके ३१०२ ई० पू० से ही आरम्भ होने का है, किन्तु यह सभी साक्ष्यों से विरुद्ध है ऐसा उन्होंने

---

१. विल्सन 'विष्णु पुराण' ४।२४ की टिप्पणी, पृ० ३८९-९०।
२. "दी वैदिक एज", पृ० २६९-२७०।
३. विल्सन, विष्णुपुराण, ४।२४, पृ० ३८९-९०, टिप्पणी।
४. क्रो० ऐ० इ०, पृ० २६२-९।
५. भारतीय ज्योतिष, हिन्दी अनुवाद, पृ० १७७।
६. एस्ट्रोनामिकल मेथड ····, पृ० १३-१२९।
७. इण्डिया इन वैदिक एज पृ० २७, दो परीक्षितों के लिए द्रष्टव्य—प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, हेमचन्द्र राय चौधरी, हिन्दी अनु० १३-४३। वस्तुतः भार्गव का यह मत अधिक समीचीन नहीं क्योंकि अभिमन्यु परीक्षित के पूर्व समय में ही महाभारत हुआ ऐसा भागवत और विष्णु पुराण में स्पष्ट उल्लेख है। प्रथम परीक्षित से काल गणना आरम्भ होने का कोई तुक नहीं।

स्वीकार किया है[१]। डी० डी० कोसाम्बी ने इसे ८५० ई० पू० में स्वीकार किया है-[२] एवं बी० जी० गोखले ने इसे १०००-९०० ई० पू० के मध्य घटित माना है[३]।

इस प्रकार महाभारत युद्ध के काल निर्धारण सम्बन्धी उक्त तीनों प्राचीन-भारतीय परम्पराओं, (आर्यभट, वृद्धगर्ग एवं पौराणिक) में परस्पर मेल नहीं दिखाई पड़ता है, यद्यपि आज यह कहना अत्यन्त कठिन है कि युद्ध की कौन सी परम्परा सही है। इतनी बात निश्चित ज्ञात होती है कलि आरम्भ की प्राचीन परम्परा को आर्यभट और वृद्ध-गर्ग तथा वराह और कल्हण ने भी निभाया है एवं उनके मत से भी कलि का आरम्भ ३१०२ ई० पू० ही होता है। भारत युद्ध की तिथि में भले ही अन्तर है, जो कलि के ६५३ वर्ष बाद घटित बताया गया है। पौराणिक परम्परा पर अत्यधिक विश्वास करते हुए अधिकांश विद्वान् १४०० ई० पू० भारत युद्ध की तिथि स्वीकार करते हैं। संप्रति युद्ध की तिथि ९०० ई० पू० से ३१०२ ई० पू० के मध्य विभिन्न विद्वानों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में मानी जाती है। ऐसी विषम परिस्थिति में भारत युद्ध की तिथि के आधार पर कलियुगारम्भ की तिथि स्थिर नहीं की जा सकती। अतः १४०० ई० पू० भारत युद्ध की पौराणिक परम्परा द्वारा निर्धारित निचली सीमा मानते हुए कलि की मौलिक तिथि ३१०२ ई० पू० को और अधिक पुष्ट करने के लिए प्रमाण की प्रतीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि प्राचीन भारतीय परम्परा में कहीं भी इससे विरोध नहीं दिखाई पड़ता।

---

१. दी वण्डर डैट वाज इण्डिया, पृ० ३९।

२. प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति, पृ० १२१, १९६९।

३. "प्राचीन भारत"—इतिहास और संस्कृति, पृ० २७।

आधार ग्रन्थ सूची

अग्नि पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, स० १९६७।

अथर्ववेद संहिता, संपादक श्रीपाद दा० सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, जि० सूरत सं० २०१३, सन् १९५७।

अपराजित पृच्छा (मानुदेव), गायकवाड ओरियण्टल सिरीज नं० ११५ महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बड़ौदा, १९५०।

अमरकोष, निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे, शाके १८६५, सन् १९४४।

ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि० सूरत। संवत् २०१३, सन् १९५७ ई०।

ऐतरेय आरण्यक सायण भाष्य सहित, संपादक-बाबाशास्त्री फड़के, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८ ई०।

ऐतरेय ब्राह्मण सायण भाष्य सहित, संपादक-काशीनाथ शास्त्री आनन्दाश्रम, पूना, १८९६ ई०।

काठक संहिता, सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, १९४३ ई०।

कूर्म पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८३!

कौटिलीय अर्थशास्त्र, अनुवादक, उदयवीरशास्त्री, मेहरचन्द लछमनदास संस्कृत पुस्तकालय, २७३६ कूचाचेला, दरियागंज, दिल्ली–६, १९७०।

कौषीतकी ब्राह्मण, (बी लिण्डनर, १८८७ ई०), आनन्दाश्रम, पूना।

गोपथ ब्राह्मण, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९१ ई०।

जंबूदीव-पणत्ति संगहो, जीवराज जैन ग्रंथमाला, जैनसंरक्षकसंघ, शोलापुर वि० सं० २०१४।

जेमिनीय ब्राह्मण, सं० रघुवीर एवं लोकेशचन्द्र, सरस्वती बिहार, नागपुर, १९५४।

ताण्ड्य महाब्राह्मण, कलकत्ता, १८७० ई०।

तिलोयपणत्ति, जैन संस्कृति संरक्ष संघ, शोलापुर विक्रम सं० २०१२।

तैत्तिरीय आरण्यक, आनन्दाश्रम, पूना, १८९७ ई०।

तैत्तिरीय उपनिषद्, आनन्दाश्रम, पूना, १८९७ ई०।

तैत्तिरीय ब्राह्मण, सं० नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३४ ई०।

तैत्तिरीय संहिता, आनन्दाश्रम, पूना १९०० ई०।

तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, १९५७ ई० ।
दिव्यावदान, सं० पी० एल० वैद्य, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभङ्गा, सं० २०१५, १९५९ ई० ।
नारदीय पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९८० ।
निरुक्त, भगवद्दत्त, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, सं० २०२१ सन्, १९८० ।
बृहत्संहिता, केर्न संपादित, बिबलियोथिका इण्डिका, १९६५ ।
ब्रह्मपुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६९ ।
ब्रह्मवैवर्त पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० १९६३ ।
ब्रह्माण्ड पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६३ ।
भविष्य पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६७ ।
भागवत महापुराण, मोती लाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर (वि० सं० २००८ ।
मत्स्य पुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई १९८० सं० ।
मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९४६ ।
महाभारत, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२३ ।
मार्कण्डेय पुराण, श्यामकाशी प्रेस, मथुरा, सन् १९४१ ।
राजतरङ्गिणी, कल्हण, हिन्दी प्रकाशन संस्थान, वाराणसी, १९६९ ।
ललित-विस्तर, संपादक–पी० एल० वैद्य, मिथिला इन्स्टीच्यूट आफ दरभंगा, सं० २०१८, १९५८ ई० ।
लिङ्गपुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९८१ ।
वाचस्पत्यम्, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ आफिस, वाराणसी, वि० सं० २०१८, १९६२ ई० ।
वायु पुराण, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, क्लाइव रो, कलकत्ता, वि० सं० २०१६, सन् १९५९ ई० ।
विष्णु पुराण, मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर-सप्तम सं० २०२६ सं० ।
विष्णुधर्मोत्तर महापुराण, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६९ ।
वैदिक पदानुक्रमकोश, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर, २०१८ सं० ।
शब्दकल्पद्रुम, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली–१९६१ ई० ।
सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी, सं० २००३, सन् १९४६ ई० ।
सुश्रुत संहिता, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस वाराणसी, १९६६ ।

सूर्य सिद्धान्त, चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी, सं २००३, सन् १९४६ ई० ।

हरिवंश पुराण, (भज्जिनसेन कृत) सं० पन्नालालजैन, मूर्ति देवी जैन ग्रन्थ-माला, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी । वीर निर्वाण, २४८८, वि० सं० २०१९ सन् १९६२ ।

हरिवंश (महाभारत खिल भाग), गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१९, सन् १९६२ ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ओझा, राय बहादुर म० म० पण्डित गौरी शंकर हीराचन्द, प्राचीन भारतीय लिपि माला (तृतीय सं० वि० सं० २०१६), मुन्शीराम मनोहर लाल नई सड़क, दिल्ली–६ ।

उपाध्याय, बलदेव, पुराण विमर्श, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६५ ।

कोसाम्बी, डी० डी०, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६९ ।

गुप्त, जगदीश, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली–७, १९६७ ।

चतुर्वेदी, म० म० गिरिधर शर्मा, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९६० ई० ।

पुराणपरिशीलन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७० ई० ।

चित्राव, सिद्धेश्वर शास्त्री, भारतवर्षीय, प्राचीन चरित्र कोश पूना १९६४ ।

डा० जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२ ।

त्रिपाठी, रमाशंकर, संपादक (आदि), विक्रम स्मृतिग्रन्थ, वि० सं० २००१, सिन्धिया ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, ग्वालियर ।

दीक्षित, शंकर बालकृष्ण, भारतीय ज्योतिष (मूल मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद), अनुवादक-शिवनाथ झारखण्डी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६३ ई० ।

भगवद्दत्त, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (दो भागों में), संवत् २००८, दिल्ली । वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथम भाग) नई दिल्ली, १९७८ ।

पाण्डेय, राजबली, अशोक के अभिलेख, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, (विक्रम) संवत् २०२२ ।

प्रकाश, बुद्ध, इतिहास दर्शन ।

मालवणिया, दलसुख, मेहता मोहन लाल (संपादक) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (६ जि०), पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, जैनाश्रम, हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी–५ ।

मुकर्जी, राधाकुमुद, हिन्दूसभ्यता (तृ० संस्करण), अनुवादक, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, दिल्ली, १९६५ ।

मुले, गुणाकर, भारतीय विज्ञान की कहानी राजकमल प्रकाशन, दिल्ली १९७३ ।

मेहता, मोहनलाल, जैन धर्म दर्शन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, १९७२ वाराणसी ।

विद्यालंकार, सत्यकेतु, मौर्य साम्राज्य का इतिहास, श्रीसरस्वतीसदन, मसूरी, १९७१ ।

वैद्य, सी० वी०, महाभारत मीमांसा, वि० सं० १९७७, पूना ।

शर्मा, रघुनन्दन, वैदिक संपत्ति, मुम्बई, सं० २००८ !

शास्त्री, कैलाशचन्द्र, जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, १९६३, वीर निर्वाण संवत्, २४८९ ।

शास्त्री, नीलकण्ठ, नन्दमौर्ययुगीन भारत (अनुवादक मङ्गलनाथ सिंह) मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६९ ।

एस०, राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (वैदिक युग से बौद्धकाल तक), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली–६, १९६६ ।

सत्य प्रकाश, वैज्ञानिक विकास और उसकी परंपरा विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, १९५४ ।

भारतीय विज्ञान के कर्णधार, १९६७ ।

सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्य्या, (द्वि० स०) महाबोधिसभा, सारनाथ, बनारस, बुद्धाब्द, २४९५, ई० स० १९५२ ।

BIBLIOGRAPHY

Agrawal, D. P. Ghosha, A. (Editors) : *Radiocarbon and Indian Archaeology*. Tata Institute of Fundamental Research 1973.

Agrawala, V. S. : *Matsy Purana—A Study*. All India Kashiraj Trust, Ram Nagar Fort, 1963, Varanasi.

Aiyer, V. G. : *The Chronology of Ancient India*, Madras, 1901.

Avasthi, A. B. L. : *Studies in Skanda Purāna*, (in two parts) Kailash Prakashan, Lucknow, 1968.

Barnet, L. D. : *Antiquties of India*. Punthi Pustaka, Calcutta, 4, India, 1964.

Basham, A. L. : *The Wonder That was India*. Third Revised Ed. (1967). London, Sidgwik and Jackson, First published in 1954.

Bhargava, P. L. : *India in the Vedic Age*, The Upper Indian Publishing House, Pvt. Ltd. Lucknow, 1. 1971.

Bhattancharya, S. : *A Dictionary of Indian History*, Calcutta, University, 1967.

Bhide, H. B. : *Is Kalkirāja a Historical Personage*. Ind. Anti. 1919, pp.123-130.

Bickerman, E. J. : *Chronology of the Ancient World*. Thames and Hudson, Great Britain, 1968.

Buhler, G. : Notes on Professor Jocobi's Age of the Vedes and on Prof. Tilak's Orion. *Indian Antiqueary*, Vol. XXIII, pp. 239-249, 1894.

Buhler, G. : *The Indian Sect of the Jainas*, Susil Gupta, Pvt. Ltd. 22/3-C Galiff Street, Calcutta.

Chakravarty, A. P. : *Origin and Development of Indian Calendrical Science*. Indian Studies, Past and Present. Calcutta, June 20, 1975.

Chinmulgud, P. J. & Mirashi, V. V. (Editors) : *Review ol Indological Research in last 75 years*. Poona 4, 1967.

Cunningham, A. : *A Book of Indian Eras*. Indological Book House, Delhi, Varanasi 1970. Archaeological Survey of Indian. Indological Book House, Varanasi, 1970.

Das, A. C. : *Rigvedic India*. Second Ed. Revised, 1927, Calcutta.

Daftari, K. L. : *The Astronomical Method and its Application to the Cehrondology of Ancient India*, 1942, Nagpur University.

Dandekar, R. N. : *Vedic Bibliography*. Three Volumes. University of Poona, 1961.

Davids, T. W. Rhys : *Buddhist India*. London, T. Fisher, 1908.

Delaporte, L. : *Mesopotamia, The Babylonian and Assyrian Civilization*, Newyork, 1925.

Duff. Mabl, : *Chronology of India*. Chaukhambha Orientation. Varanasi, 1975.

Edgerton, F. : *Buddhist Hybrid Sanskrit Dictionary* New Haven : Yale University Press, London, 1953.

Encyclopedia Britantca : The University of Chicago, 1970.

Encyclopedia Indica : Rama Nagar, New Delhi, 1975.

Faddegon, B. : The Thirteenth Month in Ancient Hindu Chronology. *Acta Orientalia*, Vol. IV, pp. 124-133.

Geiger, W. ; *The Mahavamsa*, Colombo, 1250.

Gopal Ram : *India of Vedic Kalpasutras*, Delhi, 1959.

Gopalan S. ; *Outlines of Jainism*. Wiley Eastern pvt. Ltd. New Delhi, 1973.

Hawkes, Jacquetta and (Sir) wolley, Leonard : History of Mankind. *Cultural and Scientific devclodment*. Vol, 1. UNHSCO, 1963.

Hazra, R.C. ; *Studies in the Puranic Records* on *Hindu Rites and Customs*. Dacca, 1940.

Hastings, J. : *Encyclopedia of Religion and Ethics*, 1908.

Jacobi, Hermann ; On the dates of the Rigveda. Ind. *Auatpuary* XXIII, P. 154-9, 1894.

The computation of Hindu dates in inscriptions. *E.I.* 1892, Vol. 1, P. 403 ff.

Tables for calculating Hindu dates in True Local Times. *E.I.* Vol. II, P. 487 ff. 1894,

Jain, Jyoti Prasad ; *The Jain sources of the History of Ancient India.* Munshi Ram Manohar Lal. Oriental Book Sellers and Publishers, Delhi-6, 1964.

Jain, J.F. ; *Pre history and Protohistory of India,* Now Delhi, 1963.

Discussion about Kali Era. *JRAS*, 1911, P. 479 etc.

Dynesties of Kanarese District. *Bombay Gazetter* (1896) Vol, I, part II.

A table of Intercalary and Expunged Months of the Hindu Calender. *Indian Antiquary.* XXII, p. 105-8.

Kane, P.V. : *History of Dharma-Sastra.* Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1930.

Kantewala, S. G. : *A Cultural History from Matsya Purāna.* The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Baroda, 1964.

Kilhorn, F. : A list of Northern Inscriptions. *Epigraphia Indica.* Vol. V. Appendix.

A List of Southern Inscriptions, *Ibid.* Vol. VII. Appendix.

On the dates of the Saka Era in Inscriptions, *Indian Antiquary,* XXIII, p. 113-33.

Krishnamachariar : *History of Calassical Sanskrit Literature.* Motilal Banarasidass. First Reprint, 1970.

Kumari Ved : *Nilamta Puraṇa.* Jammu and Kashmiri Academy of Art, Culture and Languages. Srinagar, 1973.

Law, N. L. : *Age of the Ṛgveda.* Firm K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1965.

Leenw, J. E. V. L. D. : *Scythian Period,* Leiden, E. J. Brill 1949.

Macdonal, A. and Keith, A. B. : *Vedic Index* in two volumes. Third reprint. Motilal Banarasidass, New Delhi, 1967.

Mackay, Ernest : *Early Indus Civilization.* Indological Book Corporation. Darya Ganj, New Delhi, 1976.

Majumdar, R. C. : *Ancient India.* (5th Revised Ed.) Motilal Banarasidass, Delhi, 1968.

Majumdar, R. C. and Pusalkar, A. D. : *History and Culture of Indian People*, Vol. I. The Vedic age. (Bharati Vidyabhavana), George Allen and Unwin Ltd., London, 1951.
The Age of the Imperial Unity. Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1955.

Mandal, K. K. : *A comparative study of the concepts of space and time in Indian thought.* Chaukhambha Publication, 1968, Varanasi.

Mani, Vettam : *Puranic Encyclopaedia.* Motilal Banarasidass, 1975.

Mankad, D. R. : *Puranic Chronology,* Gujarata Prakashana. (Gujarat) India, December 1951.

Max Muller, : *A History of Ancient Sanskrit Literature.* Bhuvaneshwari Ashrama Bahadurganj, Allahabad, 1926.

Monier Williams, M. : *A Sanskrit-English Dictionary.* Motilal Banarasidass, Delhi, 1963.

Mukhopadhyaya, D. N. : True Dates of the Buddha and other Connected Epochs. Journal of the Department of Letters. Calcutta University, Vol. 26, 27, 1935.

Pande, E. C. : *Studies in the Origins of Buddhism.* University of Allahabad, 1957.

Pandey, R. B. : *Indian Paleography.* Motilal Banarasidass 1952. Banaras.
Vikramaditya of Ujjaini, Shatadala Prakashan, Banaras, 1951.

Pargiter, F. E. : *Ancient Indian Historical Tradition.* Motilal Banarasidass, New Delhi, 1962.

Patil, D. R. : *Cultural History from the Vāyu Purāna.* Deccan College, Post-graduate and Research Institute, Poona, 1946.

Pillai, Dewan Bahadur L. D. Swamikannu : *Indian Chronology, Solar, lunar and Planetary-A praciical guide.* Madras 1911.
An Indian Ephemeries, A. D. 1800-2000 A. D. Madras, 1915.
Comparative Tables for Indian Chronology, *Indian Ephemeries.* A. D. 700 to 2000, Madras, 1924.

Pillai, Govinda Krishna : *Traditional History of India.* Kitab Mahal, Zero Road, Allahabad 1960.

Pradhana, S.N, : *Chronology of Ancient India.* Calcutta Uhiversity, 1927.

Prakash, Buddha : *Ṛgved and the Indus Valley Civilization.* Hoshiarpur, 1966.

Prakash Satya : *Founders of the Sciences in Ancient India.* The Research Institute of Ancient Scientific Studies, New Delhi, 1965.

Prinsep, J. : Useful Tables. *Indian Antiquities,* Vol. 2. Indological Book House, Delhi, Varanasi, 1971.

Pusalkar, A.D. : *Epic and Puranic Studies,* Bharatiya Vidya-Bhavan.

Posener, Gioges : *A Dictionary of Egyptian Civilization,* London, 1962.

Rapson, E.J. : *The Cambridge History of India.* (Ancient India. Vol. I). First Indian Reprint, 1955. S. Chand & Co., Fountain, Delhi.

Rao, S. R, : *Lothal and the Indus Civilization.* Asia Publishing House, Bombay, Calcutta, New Delhi, 1972.

Rangacharya, V. : *History of Pre-Musalman India.* Vol. II. Vedic India Part I, The Indian Publishing House, Madras, 1937.

Raychaudhuri, H.C. : *Political History of Ancient India.* Seventh Ed. University of Calcutta. 1972.

Renou, Louis : *Vedic India*; Calcutta. 1957.

Sachau, Edward, S. : *Alberuni's India* (In two Vols.) (In English Ed.) Kegan Paul, Trench, Triibner & Co. Ltd. Dryden House, Gerrard Street, W. London, 1910.

Sankalia, H.D. : *Pre-history and Protohistory of India, and Pakistana.* Deccan College: Postgraduate and Research Institute, Poona, 1962-63. New Ed. 1974.

Sankarananda : *Rigvedic Culture of the pre-historic India.* Bhedananda Academy of Culture, 72, Ahiritola Street, Calcutta-5, 1973.

Saraswati, Prana Nath : *Chronological Tables from* 1891 *to* 1900. Bhavanipore, Calcutta.

Sastri, Ajayamitra : *India as Seen in the Brihat Samhita.* Motilal Banarasidass, Delhi, 1965.

Sastri, K.N. : *New Light on the Indus Civilization.* (Two Vols.) Atmarama and Sons, Delhi-6, 1965.

Sastry, R., Shyama : *Gavam Ayana*, Mysore. 1908.

'Draps' the Vedic Cycle of Eclipes. Mysore, 1938.

The vedic calander. *Indian Antiquary*, Feb. 1912, pp. 26-32, 45-71; 77-84, & 117-124.

Schrader, O. : *Pre-historic Antiquities of the Aryan people.* Translated by Frank Byron Jevans. Oriental Publishers, Delhi, 1972.

Schubring, W. : *The Doctrine of the Jains.* Motilal Banarasidass, 1962.

Sen, Umapada. : *The Rgvedic Era*, Calcutta, 1974.

Sengupta, P. C. : *Ancient Indian Chronology.* University of Calcutta, 1947.

Sewell, Robert, : *The Historical Inscriptions of Southern India*, Madras, 1932.

Indian Chronology, an extension of the Indian Calendar with working examples, London, 1972.

Sinha, Fatah : *The Vedic Etymology.* Kota, Rajasthan, 1952.

Sinha, P. N. : *A Study of the Bhagavata Purana*, Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1950.

Sircar, D. C. : *Indian Epigraphy. Selected Inscriptions*, University of Calcutta, 1942. Motilal Banarasidass, Delhi, 1965.

Sherwani, H. K. (Editor) : *Studies in Indian Culture.* Dr. Ghulam Yazdani Commemoration, Volume. Maulaha Abdul Kalam Azad Oriental Research Institute, Hyderabad, A. P. 1966.

Smith, R. Morton : *Dates and Dynasties in Earliest India.* Motilal Banarasidass, 1973.

Smith, V. A. : *The Early History of Indian.* Fourth Ed. Oxford, 1957, 1962.

Spencer, H. S. : *The Aryan Ecliptic Cycle.* (Glimpses into Ancient Indo-Iranian Religious History from 262628 B. C. to 292 A. D.) Poona, 1965.

Stein (Ed.) : *Kalhnas' Rajatarangini or Chronicle of the Kings of Kashmir*, Bombay, 1192.

Stevensons S. : *The Heart of Jainism*, Munshi Ram Manoharlal, New Delhi, 1970.

Swain, J. W. : *The Ancients World*, Vol. I., New York, 1950.

Sylvanus G. Morley Revised by Georgew. Brainerd : *The Ancient Maya*, Standard University Press Fourth Fd. 1968.

Tilak Bala Gangadhara : *The Orion.* Lokamanya-Tilak Mandir, Poona, 2, 1955. (Fourth Ed.).

Tilaka The Arctic Home in the Vedas. Poona, 1955.

Tripathi, R. S. : *History of Ancient India.* Motilal Banarasidas, Delhi. 1960.

Vaidya, C. V. : *History of Sanskrit Literature. Mahabharata-A Criticism.*

Van Wijk, W. E. : *On Hindu Chronology. Acta Orientatia,* Vol. IV, pp. 65-80, Vol. V, pp. 1-27.

Venkata Subbiah, A. : *Some Saka dates in inscriptons.* A contribution to Indian Chronolo gy. Mysore, 1918.

Venkatachalam, Kota : *Indian Eras.* Gandhi Nagar, Vijayawada-2, 1956 A. D.

Warder, A. K. : *Indian Buddhism.* Motilal Baparasidass, New Delhi, 1970.

Wheeler, J. Talboys : *India of the Brahmanic Age.* Cosmo Publication, Delhi, 1973.

William, Theodore de Bary (Editor) : *Sources of Indian Tradition.* First. Ed., New York, 1958, Reprint Delhi; 1963; 1972.

Wilson, H. H. : *Vishnu Purāna* (English Translation). Punthi Pustaka, Calcutta-4, 1961.

Will Durent : *The Story of Civilization : Our Oriental Haritage,* New York, 1942.

शब्द-सूची